जाति का जंजाल

जाति का जंजाल

l

सम्पादक
डॉ. रणजीत

l

मानवीय समाज प्रकाशन
की ओर से
लोकभारती पुस्तक विक्रेता तथा वितरक
15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद -211001 द्वारा प्रकाशित

ISBN : 978-93-81344-03-3

सम्पादक
डॉ. रणजीत
फ्लैट न. 201, मल्टी सफ़ायर अपार्टमेंट
पहली मेनरोड, सुद्दागुंटे माल्या, बेंगलूर-560029
दूरभाष : 09341556673

v

ज्ञानेन्द्र कुमार
मानवीय समाज प्रकाशन
पाण्डे ले-आउट, पुसद-445204
यवतमाल, महाराष्ट्र
की ओर से
लोकभारती पुस्तक विक्रेता तथा वितरक
15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1
द्वारा प्रकाशित

v

प्रथम संस्करण : 2013

v

लेज़र-टाइपसेटिंग
प्रभा कम्प्यूटर्स, इलाहाबाद-2

v

इण्डियन प्रेस प्रा० लिमिटेड
इलाहाबाद-2 द्वारा मुद्रित

मूल्य : 175.00

कोई पासी, चमार, ब्राह्मण है
कोई जुलाहा, भिश्ती, पठान है
कोई जैन है, कोई बौद्ध है
कोई हिन्दू, कोई मुसलमान है
जातियों और धर्मों के इस बियाबान में
मैं खोज रहा हूँ
कितने ऐसे लोग हैं –
जो केवल इन्सान हैं?

–रणजीत

अनुक्रम

सम्पादकीय ... ९

१. जाति का मिथक और उसका गतिविज्ञान ... १३
सच्चिदानंद सिन्हा

२. इस महाव्याधि को मिटाइये ... २३
सन्तराम बी.ए.

३. जाति का उन्मूलन ... २७
भीमराव आम्बेडकर

४. जाति का विनाश : क्यों और कैसे? ... ४८
राममनोहर लोहिया

५. अस्पृश्यता का सवाल: गाँधी और आम्बेडकर ... ६८
डी.आर. नागराज

६. जातिव्यवस्था के मूलाधार और जातिविनाश का कार्यक्रम ... ८३
सुवीरा जायसवाल

७. आम्बेडकर और लोहिया का जाति-विमर्श ... ९१
योगेन्द्र यादव

८. डॉ० लोहिया की जाति-नीति ... ९७
मस्तराम कपूर

९. दलित उभार के मायने ... १०१
रजनी कोठारी

१०. अति दलितों का दर्द ... ११७
दर्शनरत्न 'रावण'

११. स्वच्छकार समाज की परिवर्तन यात्रा ... १२०
बेजवाड़ा विल्सन

१२. मुसलमानों में ऊंच-नीच ... १२५
सुहेल वहीद

१३. अकलियत के शोर में गुम होते पसमांदा ... १३३
अली अनवर

१४. आरक्षण पर ताकतवर समुदायों की जकड़ ... १३८
धीरूभाई शेठ

१५. सामाजिक न्याय और गाँधीजी ... १४५
मस्तराम कपूर

१६. पूना पैक्ट दलित गुलामी का दस्तावेज ... १५८
एस. आर. दारापुरी

१७. जाति उन्मूलन की आवश्यकता ... १६३
शीलरत्न

१८. जाति उन्मूलन और सम्पूर्ण क्रांति ... १६९
एस. एस. शास्त्री

१९. जाति विरोधी प्रयासों की असफलता ... १७७
इंदुमती केलकर

२०. १९७७ के जाति तोड़ो सम्मेलन का दस्तावेज ... १८३

२१. जाति तोड़ो सम्मेलन के प्रस्ताव ... १९२

२२. जाति कौन तोड़ेगा? ... १९९
राजकिशोर

२३. जाति, वर्ग, तकनोलॉजी और आधुनिकता ... २०८
रामशरण जोशी

२४. सामाजिक न्याय की राजनीति ... २१३
योगेन्द्र यादव

२५. जातिगत झगड़े और हमारा भविष्य ... २२०
सच्चिदानंद सिन्हा

२६. आज के भारत में जाति का सवाल ... २३२
आनंद कुमार

२७. उत्तरआधुनिक दौर में जाति और धर्म ... २३७
विनोद शाही

सम्पादकीय

यह पुस्तक ख़यालों की बिजलियाँ, धर्म और बर्बरता तथा साम्प्रदायिकता का जहर के बाद मानवीय समाज प्रकाशन की चौथी कड़ी के रूप में प्रस्तुत की जा रही है। इसकी सामग्री का एक बड़ा हिस्सा प्रतिष्ठित स्तंभलेखक विचारक राजकिशोर द्वारा संपादित और वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'जाति का ज़हर' तथा दलित लेखक डॉ. जय प्रकाश कर्दम द्वारा अनूदित-संपादित तथा नवभारत प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित 'जाति : एक विमर्श' पुस्तकों से लिया गया है, अत: प्रारंभ में ही हम इन लेखों के लेखकों, संपादकों और प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अपना कर्तव्य मानते हैं।

पुस्तक की शुरुआत हम सुप्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक और संस्कृतिकर्मी श्री सच्चिदानंद सिन्हा के लेख 'जाति का मिथक और उसका गतिविज्ञान' से कर रहे हैं जो श्री राजकिशोर की उक्त पुस्तक में 'इतिहास की चुनौती' शीर्षक से संकलित है। शीर्षक परिवर्तन की अनुमति हमने सीधे उनसे टेलीफोन पर प्राप्त कर ली थी। लेख जाति व्यवस्था के मूल में स्थित इन मिथकों पर प्रकाश डालता है कि प्रत्येक जाति यह विश्वास करती है कि उसका उद्भव प्राचीन काल के अलग-अलग मानव कुलों से हुआ था और कि हजारों वर्षों से वह अपने रक्त की शुद्धता बरकरार रक्खे हुए हैं पर हैं ये दोनों मिथ्या विश्वास ही। लेख का उत्तरार्ध राजसत्ता प्राप्त कर नीची जातियों के उच्च वर्णों में शामिल होने की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है।

श्री सन्तराम बी.ए. का लेख डॉ० जयप्रकाश कर्दम की उपरोक्त पुस्तक से संकलित किया गया है।

डॉ० भीमराव आम्बेडकर का लेख लाहौर में १९३६ में वहाँ के एक संगठन जाति-पाँति तोड़क मंडल के आयोज्य अधिवेशन के लिये लिखे गये अध्यक्षीय उद्‌बोधन का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तरण है। एक ऐसे संबोधन का, जो किया ही नहीं जा सका, क्योंकि उसकी अग्रिम प्रति पढ़कर उक्त सम्मेलन की स्वागत समिति ने जिसमें ज्यादातर आर्य समाजी थे, सम्मेलन ही रद्द कर दिया। यह लेख हमने, थोड़े संक्षेपण के साथ श्री चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु जी के उस अनुवाद से लिया है, जिसे बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ ने प्रकाशित किया था। इसके लिये हम अनुवादक और प्रकाशक दोनों के आभारी हैं। आम्बेडकर का वह नहीं दिया गया ऐतिहासिक भाषाण काफी लम्बा है। लगभग ५६ पृष्ठ

व्यापी २६ परिच्छेद। वह डॉ० आम्बेडकर के सम्पूर्ण वांङ्मय के खंड एक में संकलित है। पूरे भाषण को पढ़ने के इच्छुक पाठक इसके अविकल अनुवाद को डॉ० कर्दम की उक्त पुस्तक 'जाति : एक विमर्श' में पढ़ सकते हैं।

लेख में हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था और जाति भेद का सर्वांगीण विवेचन करते हुए इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि जाति व्यवस्था का विनाश तब तक नहीं हो सकता है, जब तक कि हिन्दू इस अत्यंत भेदभाव भरी व्यवस्था की रक्षा के लिये ही लिखे गये अपने धर्म शास्त्रों से घृणा न करने लगें।

भारत में जाति व्यवस्था के विनाश के लिये संघर्ष करने वाले दूसरे महान योद्धा समाजवादी चिंतक डॉ० राम मनोहर लोहिया का यह लेख भी उनका एक भाषण ही है, जो उन्होंने जून १९५८ में दिया था । इस पोर पोर विचारणीय लेख को हमारे अनुरोध पर एक पुस्तिका के रूप में नागपुर के लोहिया अध्ययन केन्द्र के प्रबंधक श्री हरीश अड्यालकर ने हमें उपलब्ध कराया है और इसके लिये हम उनके बहुत आभारी हैं।

यह आलेख लोहिया जी के आमूल समाजिक क्रान्तिवादी विचारों की प्रखर अभिव्यक्ति तो है ही, लिखे जाने के पचपन साल बाद इससे रुबरु होने वाला कोई भी पाठक उनकी निर्भान्त दूर दृष्टि का कायल हुए बिना भी नहीं रह सकता।

'अस्पृश्यता का सवाल : गाँधी और अंबेडकर' के लेखक प्रो० डी.आर. नागराज कन्नड़ आलोचना साहित्य की एक जानी मानी हस्ती हैं। दलित साहित्य के स्रोतों की खोज से संबंधित उनके लेखों का संकलन 'द फ्लेमिंग फीट' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। श्री नागराज आज कल विकासशील समाज अध्ययन केन्द्र, नई दिल्ली में कार्यरत हैं। श्री अमिताभ द्वारा हिन्दी में अनूदित इस लेख को हमने समय चेतना के जून १९९५ के अंक से संकलित किया है।

लेख गाँधीजी और डॉ. आम्बेडकर के दलित-दृष्टिकोणों के अन्तरविरोधों और विरोधाभासों का सम्यक् विश्लेषण करता है और दोनों ने एक दूसरे को कैसे और कितना बदला, इसका भी सही आकलन करता है। गांधीजी के द्वारा चलाये गये हरिजनों के मंदिर-प्रवेश आन्दोलन का जैसा पारदर्शी सामाजिक दार्शनिक विश्लेषण इस लेख में किया गया है, वैशा शायद ही अन्यत्र कहीं मिले।

समाज विज्ञानी सुवीरा जायसवाल का लेख 'जातिव्यवस्था के मूलाधार और जाति विनाश का एजेण्डा' 'तद्‌भव' के अंक १५ (जनवरी २००७) में प्रकाशित उनके लम्बे लेख' दलित अस्मिता और एजेण्डा जाति विनाश का' का उत्तरार्ध है। इसे और जनसत्ता के १६ फरवरी २०१२ के अंक में प्रकाशित आनन्द कुमार के लेख 'आज के भारत में जाति का सवाल' को हमारे आग्रह पर हमारे साहित्यिक मित्र जयपुर के डॉ० दुर्गा प्रसाद अग्रवाल ने विशेष तौर से इस पुस्तक के लिये जुटाया है। हम कृतज्ञ हैं।

अनेक विधाओं के यशस्वी लेखक और लोहिया समग्र के सम्पादक समाजवादी चिन्तक श्री मस्तराम कपूर का लेख 'लोहिया की जातिनीति' उन्होंने स्वयं इस पुस्तक के लिये भेजा है और उनका दूसरा लेख 'सामाजिक न्याय और गाँधी जी' राजकिशोर की उक्त पुस्तक से लिया गया है। प्रखर समाज विज्ञानी और निर्वाचन विश्लेषक समाजवादी जनपरिषद के श्री योगेन्द्र यादव का पहला लेख 'आम्बेडकर और लोहिया का जाति विमर्श' अंग्रेजी पत्रिका 'सेमीनार' में प्रकाशित लेख का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद है और उसे हमारे सीतापुर के मित्र वामराजनीतिकर्मी श्री के.जी. त्रिवेदी ने प्रस्तुत किया है। उनका दूसरा लेख 'सामाजिक न्याय की राजनीति' उनके द्वारा संपादित विशिष्ट वैचारिक पत्रिका 'सामयिकवार्ता' के फरवरी २००८ के अंक में छपा और मुंबई में मधुलिमये की स्मृति में दिया गया व्याख्यान है।

प्रतिष्ठित समाज विज्ञानी श्री रजनी कोठारी का लेख 'दलित उभार के मायने' हमने विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली द्वारा प्रकाशित और अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित उनकी पुस्तक राजनीति की किताब से संकलित किया है। लेख १९९३ में हुए उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनावों में समाजवादी और बहुजन समाज पार्टी के गठजोड़ के हाथों हिन्दुत्ववादी शक्तियों की पराजय की पृष्ठभूमि में लिखा गया था, पर आज भी विचारणीय है। क्योंकि वे इस लेख में यह स्थापना करते हैं कि राजनीति में जातिवाद के उभार के जरिये जातिप्रथा का रूपांतरण संभव है।

'आदिधर्म समाज' के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री दर्शन रत्न 'रावण' का लेख योगेन्द्र यादव संपादित' सामयिक वार्ता के फरवरी २००८ के अंक से और श्री बेजवाड़ा विलसन का लेख' 'स्वच्छकार समाज की परिवर्तन यात्रा' उसी के मई २०११ के अंक से उद्घृत हैं।

''मुसलमानों में ऊंचनीच'', 'सामाजिक न्याय और गाँधीजी', तथा 'जाति कौन तोड़ेगा' ये तीनों लेख हमने श्री राजकिशोर की ऊपर चर्चित पुस्तक 'जाति का जहर' से ही लिये हैं।

समाजशास्त्री धीरू भाई सेठ का लेख 'आरक्षण को ताकतवर समुदायों की जकड़ से निकालना होगा' और पसमांदा मुस्लिम समाज के नेता अली अनवर का लेख 'अकलियत के शोर में गुम होते पसमांदा', सामयिक वार्ता के फरवरी २००८ के अंक से संकलित किये गये हैं

परिमलकुमारदास, डॉ० शीलरत्न, एस.एस. शास्त्री और इंदुमती केलकर के लेख तथा १९७७ के जाति तोड़ो सम्मेलन का दस्तावेज और जाति तोड़ो सम्मेलन के प्रस्ताव, यह सारी सामग्री १९७७ में दिल्ली में तत्कालीन रक्षामंत्री बाबू जगजीवन राम की अध्यक्षता में सम्पन्न 'जाति तोड़ों सम्मेलन' में पढ़े गये आलेखों और उसमें सर्वसहमति से पारित प्रस्तावों से ली गयी है। इस सम्मेलन का आयोजन दलितों और समाजवादियों ने

मिल कर किया था। डॉ० जयप्रकाश की पुस्तक 'जाति एक विमर्श' इन्हीं सब आलेखों और दस्तावेजों का अनूदित संकलन है।

श्री रामशरण जोशी का लेख 'जाति, वर्ग, तकनोलोजी और आधुनिकता', नागपुर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'सामान्य जन संदेश' के लोहिया जन्मशती के अवसर पर प्रकाशित विशेषांक ''तब और अब : डॉ० राम मनोहर लोहिया'' से लिया गया है।

श्री सच्चिदानंद सिन्हा का दूसरा लेख जातिगत झगड़े और हमारा भविष्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित और श्री अरविन्द मोहन द्वारा अनुदित उनकी पुस्तक ''जाति व्यवस्था : मिथक, वास्तविकता और चुनौतियाँ'' का अन्तिम अध्याय है और उसे इस पुस्तक में सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान करने के लिये हम इस प्रकाशन के प्रबंध निदेशक श्री अशोक माहेश्वरी जी के आभारी हैं।

श्री विनोद शाही का लेख उत्तर आधुनिक दौर में जाति और धर्म दिल्ली की वामपत्रिका 'समयान्तर' के जनवरी २०११ के अंक में प्रकाशित हुआ था और उसकी छायाप्रति हमारे अनुरोध पर स्वयं श्री शाही ने उपलब्ध कराई है।

अन्त में एक बार फिर हम संकलित लेखों के सभी लेखकों, अनुवादकों, जिन पत्रिकाओं और पुस्तकों में वे पहले छपे उनके संपादकों और प्रकाशकों तथा हमारे लिये उन्हें जुटाने वाले मित्र सहायकों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

n

जाति का मिथक और उसका गतिविज्ञान

सच्चिदानंद सिन्हा

अपनी दीर्घकालीन निरंतरता में मिथक एक स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण कर लेता है और यह अस्तित्व, जो किसी मानव समुदाय की सामूहिक कल्पना से ज्यादा कुछ नहीं होता, आदमी के जीवन के रोज-ब-रोज के ठोस अनुभवों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली ढंग से उनके व्यवहारों और संबंधों को निर्धारित करता है। इस तथ्य का सबसे जीता-जागता नमूना हमारी वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था से जुड़ा मिथक है, जो भारतीय समाज के सबसे गहरे विभेद और विभाजन की जड़ में है।

जाति विभाजन धार्मिक विभाजन और वर्ग विभाजन से कहीं अधिक गहरा होता है। विडंबना यह है कि वर्गीय अनुभूति, जो ठोस आर्थिक आधार पर खड़ी होती है, सबसे सतही भी होती है। इसका कारण यह है कि वर्ग आदमी की आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर करता है और इस वजह से आदमी की वर्गीय स्थिति सतत परिवर्तनशील रहती है। आज का मजदूर निजी प्रयासों या सामाजिक कारणों से मध्य वर्ग में दाखिल हो सकता है या मध्य वर्ग का आदमी स्थिति खराब होने से मजदूर की श्रेणी में गिर सकता है। इसी तरह कुछ लोग गरीब वर्गों में पैदा हो पूँजीपति तक बन जाते हैं और पूँजीपति दिवालिया हो मध्य वर्ग या मजदूर वर्ग तक में शामिल हो जाते हैं। चूँकि वर्गीय आरोहण की संभावना बनी रहती है, ज्यादातर लोग अपनी आकांक्षा और भावना में भी अपने से ऊपर के वर्ग के साथ जुड़ने की कोशिश करते हैं। यही कारण है कि बर्तानिया में, जहाँ का मजदूर वर्ग कभी वर्ग चेतना का क्लासिकी नमूना समझा जाता था, अब मजदूर यह चेतना खोने लगे हैं और बड़ी संख्या में अपने को मध्य वर्ग से जोड़ने लगे हैं । मार्क्स की उस कल्पना के विपरीत, जिसके अनुसार वर्ग चेतना राष्ट्रीय या अन्य सामूहिक वफादारियों के ऊपर हावी हो जाएगी, संसार भर के अनुभव यही बतलाते हैं कि राष्ट्रीय, जातीय, धार्मिक और मूल की चेतना ही वर्ग चेतना को खंडित कर मानव समुदायों पर हावी होती है।

धार्मिक तादात्म्य बोध वर्ग चेतना से अधिक गहरा होता है, क्योंकि आदमी का जन्म किसी विशेष धार्मिक समुदाय में ही होता है और उसका लालन-पालन, विवाह तथा मौत के बाद के संस्कार सभी अपने समुदाय के भीतर ही और इसी की संहिता के अनुसार होते

हैं। फिर भी चूँकि धर्म निजी विश्वासों का भी क्षेत्र है, व्यक्तियों के धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन हो सकते हैं – आदमी अनीश्वरवादी बन सकता है या अपना धर्म छोड़ कोई दूसरा धर्म कबूल कर सकता है। इसलिए धार्मिक तादात्म्य गहरा होता हुआ भी आदमी को संपूर्ण रूप से अपने घेरे में नहीं रख पाता।

लेकिन जातीय तादात्म्य इतना गहरा होता है कि यह न सिर्फ आदमी के जन्म के साथ जुड़ा हुआ है और उसके विभिन्न संस्कारों पर हावी है, बल्कि उसके विश्वासों से निरपेक्ष है। इसलिए अपने विश्वास-परिवर्तन से भी आदमी अपनी जाति से निकल नहीं सकता। कोई लाख कोशिश करे, अपनी जाति को उस तरह नहीं बदल सकता, जैसे अपने धर्म को। अपनी जाति को छोड़ कर आदमी दूसरी जाति का नहीं बन सकता, वह सिर्फ अजात बन सकता है-यानी सभी जातियों से बहिष्कृत। किसी भी व्यक्ति के लिए यह पूर्ण रूप से निराश्रित एकाकीपन की स्थिति है। इसीलिए कबीले से बहिष्कार की तरह जाति से बहिष्कार भी जाति के सदस्यों के लिए आत्यंतिक दंड बन जाता है।

मूल से तादात्म्य की तरह जातीय तादात्म्य भी इस विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक जाति का उद्‌भव प्राचीन काल में अलग-अलग मानव कुलों से हुआ और हजारों वर्षों से प्रत्येक जाति अपने रक्त की शुद्धता को बरकरार रखती रही है। इसलिए रक्त और बीज की शुद्धता का भाव गहराई से लोगों की भावना में बैठा हुआ है। इसी विश्वास से यह मान्यता पैदा होती है कि जातियों का मिश्रण अनैतिक है और ऐसे मिश्रण से वर्णसंकर पैदा होते हैं। मनुस्मृति ने, जिसे अंग्रेजों ने हिंदुओं के सिविल कोड का दरजा दे दिया था, इस मान्यता को और भी बल दिया।

लेकिन भारत के इतिहास के तथ्यों पर एक सरसरी निगाह दौड़ाने से भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह मान्यता असल में एक मिथक से ज्यादा कुछ नहीं, भले ही भारतीय समाज इसे एक अटल सत्य की तरह ढोता चला आ रहा हो। जातियों के संबंध में इस विश्वास के कायम रहने का एक कारण यह भी है कि लोग अक्सर जातियों के अस्तित्व और वर्ण व्यवस्था को अलग करके नहीं देखते, हालाँकि जातियों का अस्तित्व एक सामाजिक असलियत है, जबकि वर्ण एक खास विचारधारा के तहत वर्गीकरण की एक परंपरा मात्र। जातियाँ हजारों हैं, लेकिन वर्ण मात्र चार, और पाँचवीं कोटि अंत्यजों की है। जातियों को इन्हीं चार वर्णों एवं अंत्यज में वर्गीकृत किया जाता है। चूँकि वर्ण पारिभाषित विशेषण हैं, जिन्हें जातियों के साथ जोड़ा जाता है, इसलिए वर्ण अपरिवर्तनशील होते हैं, ठीक उसी तरह जैसे 'चतुर' और 'मूर्ख', 'तीव्र' और 'मंद' जैसे विशेषण अपरिवर्तनशील होते हैं, क्योंकि ये पारिभाषित हैं। लेकिन विशेषणों से जुड़नेवाले तत्व अनेक हो सकते हैं और परिवर्तनशील हो सकते हैं-जैसे आज का चतुर कल मूर्ख हो जा सकता है, या 'अ', 'ब','स' कोई भी आदमी या जंतु इन विशेषणों से युक्त हो सकता है।

इस तरह वर्णों यानी वर्गीकरण की कोटियों की अपरिवर्तनशीलता से यह अनुमान लगाया जाता रहा है कि इन वर्णों के साथ जुड़ी जातियाँ भी अतीत काल से वर्ण की उन्हीं कोटियों में रहीं हैं, जिनमें उन्हें हम आज पाते हैं। लेकिन इतिहास बताता है कि जहाँ वर्णों का वर्गीकरण अपरिवर्तित रहा है, वहीं इनके दायरे में आनेवाली जातियाँ लगातार बदलती रही हैं। और अक्सर ऐसा हुआ है कि जिन जातियों को आज हम वर्ण व्यवस्था के ऊपर के स्तरों में पाते हैं, वे कभी बहुत नीचे के स्थान पर थीं और दूसरी जातियाँ, जो आज अंत्यज या चौथे वर्ण में हैं, कभी वर्ण व्यवस्था के ऊपरी स्तरों पर मौजूद थीं। वर्णों में कुछ जातियों का प्रवेश और अन्य जातियों का निष्कासन वैसे ही होता रहा है, जैसे पूँजीपति वर्ग में व्यक्तियों का प्रवेश या निष्कासन होता है, हालाँकि वर्ग और वर्ण में प्रवेश और निष्कासन की प्रक्रियाएँ भिन्न रही हैं। पूँजीपति वर्ग में प्रवेश या इससे निष्कासन व्यक्तियों का होता है और यह प्रक्रिया सरल होती है, जबकि वर्णों में प्रवेश सामूहिक रूप से हुए हैं और इसकी प्रक्रिया काफी जटिल और समय लेने वाली रही है।

विभिन्न समुदायों की वर्णोन्नति का सबसे महत्वपूर्ण नमूना है राजपूत जाति का क्षत्रिय वर्ण में समावेश। राजपूत जाति का उद्‌भव उस काल में हुआ, जब राजसत्ता पर क्षत्रिय वर्ण की प्रधानता करीब-करीब समाप्त हो चुकी थी। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से सातवीं शताब्दी तक लगभग हजार वर्षों में भारत में अनेक मूलों के लोगों का आगमन बड़ी संख्या में खासकर उत्तर-पश्चम से हुआ था। इसमें यवन, शक, हूण, पठान, गुर्जर, जाट आदि अनेक समूह थे, जिन्होंने या तो छोटे-मोटे राज्य कायम कर लिये थे या यहाँ के राजवंशों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित कर लिये थे। इसके अलावा ऐसे कबाइली या जातीय समूह खुद देश के भीतर थे जो वर्ण व्यवस्था की निचली सीढ़ियों पर थे, लेकिन विभिन्न जगहों पर अपना शासन कायम करने लगे थे। ऐसे समूहों के लोग आठवीं और नौवीं शताब्दी से राजपूत जाति के नाम से क्षत्रिय वर्ग में स्थान पाने लगे। उच्च वर्णों में शामिल होने और उससे निष्कासित होने की प्रक्रिया तो इसके काफी पहले से शुरू थीं, लेकिन राजपूत जाति के अभ्युदय के बाद से यह प्रकिया काफी तेज हुई और राजसत्ता प्राप्त कर अनेक निम्न वर्ण के समुदाय और कबीले राजपूत बनकर क्षत्रियों की श्रेणी में दाखिल होने लगे। यह प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रही। इस प्रक्रिया में डोम और भर से लेकर जाट, गुर्जर, कुरमी (कुनभी), खरबार, चेरों तक अनेक मूलों के निम्नवर्गीय जातियों के लोग राजपूत बन कर क्षत्रिय वर्ण में दाखिल हो गए। यहाँ तक कि स्वयं शिवाजी कुनभी या किसी अन्य शूद्र जाति में जन्में थे, लेकिन राजसत्ता प्राप्त करने के बाद राज्याभिषेक के समय यथाविधि मराठा नाम से क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लिये गए। इसके पहले हेमू, जो अकबर के खिलाफ अनेक राजाओं के संयुक्त युद्ध अभियान का नेता था, इसी तरह जन्म से नमक बेचनेवाली धूसर जाति का था। लेकिन सिकंदर शाह का फौजी अफसर बन कर

राजपूत बन गया और इस तरह क्षत्रिय वर्ण में शामिल हो क्षत्रिय होने का दावा करने वाले अनेक राजपूत राजाओं में अग्रणी स्थान पर पहुँच गया। इसी प्रक्रिया से बिहार के पलामू जिले में चेरो लोग और रामगढ़ के खरबार लोग राजपूत बन गए। इन लोगों का राजपूत बन क्षत्रिय वर्ण में दाखिला हाल ही में, यानी १९वीं शताब्दी में हुआ। चेरो और खरबार जाति की बिरादरी के बाकी लोग अब भी अत्यज की श्रेणी में हैं।

इस तरह जो जातियाँ या कबाइली जमातें राजसत्ता पर कब्जा जमा क्षत्रिय वर्ण में दाखिल हो जाती थीं, उनके पुरोहित ब्राह्मणों की श्रेणी में दाखिल हो जाते थे। विभिन्न ब्राह्मण समुदायों के उद्‌भव की भिन्नता इस बात में भी जाहिर होती है कि ब्राह्मण होने का दावा करने के बावजूद अलग-अलग वंशों के ब्राह्मणों में शादी-ब्याह का संबंध नहीं होता। चितपावन, मैथिल, कान्यकुब्ज, सरयूपारीय आदि नामों से जानेवाले ब्राह्मण एक-दूसरे के कुलों में शादी का संबंध स्थापित नहीं कर सकते। उनमें अधिकांश एक-दूसरे को निम्न कोटि का ब्राह्मण मानते हैं।

समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता कायम होने के दो कारण थे। एक कारण तो यह था कि जन्म से लेकर मृत्यु तक के विभिन्न संस्कारों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। ये संस्कार इतने महत्व के माने जाते थे कि इनके बिना सामाजिक जीवन के बिखराव का खतरा था। यानी ब्राह्मणों के हाथ समाज के उन मूल्यों की धरोहर थीं जो मूल समाज को बाँध कर रखते हैं और संस्कार जिनके प्रतीक हैं। यह एक आम कारण है, जिससे सभी समुदायों के धर्म में पुरोहित या पुजारी वर्ग का महत्व होता है। दूसरा कारण यह था कि ब्राह्मण ही नवोदित राजवंशों की वंशावली तैयार कर उन्हें उच्च वर्णों में प्रतिष्ठित करते थे। जब तक वर्ण व्यवस्था की मान्यता रही, नवोदित राजवंशों के लिए अपनी सत्ता की स्वीकृति (लेजिटिमेसी) के लिए यह वंशावली अत्यंत महत्व की थी, जिससे लोगों को यह विश्वास होता था कि उनका राजा या शासक उस वर्ण का है जो शास्त्रों के अनुसार शासन करने का हकदार है। कोई भी नवोदित शासक यह नहीं चाहता था कि प्रजा उसके शासन करने के औचित्य पर शंका करे। इसलिए ऐसे शासक दान-दक्षिणा देकर ब्राह्मणों को खुश रखते थे और बदले में ब्राह्मण उन्हें चंद्रवंशी, सूर्यवंशी जैसे उदात्त वर्णों के साथ जोड़ कर उनकी स्थिति को मजबूत बनाते थे। बुद्धिमान ब्राह्मण शासकों की कुलीनता के दावे को अस्वीकार कर जान जोखिम में डालने के बजाय उनकी कुलीनता का यशगान कर धन अर्जित करना अधिक समझदारी की बात मानते थे। साथ ही सभी शास्त्रों के इजारेदार होने के कारण ब्राह्मण कहीं-न-कहीं यह सच्चाई भी तो जानते ही थे कि कुलीनता का आधार उन जैसे ब्राह्मणों द्वारा अन्वेषित मिथक से अधिक कुछ नहीं है। इस तरह ब्राह्मणों और राजाओं के बीच का यह सामाजिक संबंध वर्ण व्यवस्था के मिथक को बनाए रखने में काफी हद तक जिम्मेदार रहा कि भारत के कुलीन लोग (यानी द्विज) वास्तव में कुलीन हैं,

जबकि असलियत है यह कि इस देश की सभी जातियों में और सबसे अधिक राजवंशी राजपूतों में देश की सभी जातियों और कबीलों का लहू प्रवाहित होता है। मनुस्मृति की कसौटी मान लेने पर भारत के सभी द्विज वर्णसंकरों के भी वर्णसंकरों में गिने जाएंगे, इतना व्यापक अंतरजातीय और अंतरकबायली यौन संबंध इनके उद्भव के अतीत में हैं।

अंग्रेजों की प्रभुसत्ता की स्थापना के बाद जो राजे-महाराजे देश में बच गए, वे इतने शक्तिहीन थे कि अपनी कुलीनता के दावे को आसानी से लोगों पर लाद नहीं सकते थे। इसलिए गैर-क्षत्रिय राजवंशों के क्षत्रिय वंश में प्रवेश के प्रयास विफल हुए, अगर ये प्रयास अंग्रेजी शासन के स्थापित होने के बाद किए गए। इसी तरह का विफल प्रयास कूचबिहार के राजवंशियों (कोच) का था। आजादी के बाद कूचबिहार के राज का अंत होने के बाद वहाँ के शासकों के कुल के राजवंशियों की सामाजिक स्थिति में और भी गिरावट आई और वे आज पश्चिम बंगाल में अनुसूचित जाति की कोटि में हैं, जबकि एक समय असम समेत बंगाल के बड़े भू-भाग पर उनका शासन था।

हालाँकि अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद ऊँचे वर्णों में प्रवेश का परंपरागत मार्ग यानी राजसत्ता पर अधिकार प्राप्त कर पदोन्नति का मार्ग प्रायः रुक गया, फिर भी, चूँकि उच्च वर्णों के साथ सामाजिक प्रतिष्ठा जुड़ी थी, ऊपर उठने की आकांक्षा बनी रही। इस आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए इस शताब्दी के शुरू के काल से एक दूसरे तरह का प्रयास होता रहा है, जिसे समाशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास 'संस्कृतीकरण' कहते हैं। इस प्रक्रिया की तुलना वे आधुनिकीकरण (मार्डनाइजेशन) से करते हैं। जिस तरह आधुनिक कहलाने की ललक में हिंदुस्तानी पश्चिमी देशों के लिबास, बोलने-चालने के तौर-तरीके, भोजन आदि की नकल करते हैं और आपस की बात-चीत में भी अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी तरह अद्विज पिछड़ी जातियों ने अपना सामाजिक स्थान ऊंचा करने के लिए द्विजों के रहन-सहन की नकल करना शुरू किया। अद्विज जातियों में अनेक ने जनेऊ पहनना शुरू किया और इस गलतफहमी में कि द्विज शाकाहारी और शुद्ध खान-पान वाले हैं, कई जातियों के लोगों ने मांस-मछली खाना तथा ताड़ी-दारू आदि पीना बंद कर दिया। (हालाँकि वास्तव में द्विजों पर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं था और अतीत काल के द्विज, खासकर ब्राह्मण तो गोमांस भी बड़े चाव से खाते थे)। भले ही इन प्रयासों से इन जातियों के अपने रहन-सहन में काफी बदलाव आया और आत्मसम्मान की भावना बढ़ी, लेकिन द्विजों ने इन्हें अपने कुल में शामिल नहीं किया। कारण यह था कि इसके लिए राजनैतिक सत्ता की जैसी जरूरत थी (वर्णों में उन्नति का परंपरागत माध्यम यही था), वह इनके पास नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि ऊपर के वर्ण में गिने जाने का पिछड़ी जातियों का प्रयास विफल हुआ। अगर कहीं स्तरों की उन्नति हुई भी तो अपने ही वर्ण में स्थित जातियों की तुलना में। धीरे-धीरे पिछड़ी जातियों में ऊपर उठने का यह प्रयास खत्म होता गया।

संस्कृतीकरण के माध्यम से ऊपर उठने के प्रयास से पिछड़ी जातियों के विमुख होने का सबसे अहम कारण था-अंग्रेजी शासन के कायम होने से वर्णों के माध्यम से वरीयता प्राप्त करने के आधार का ही ध्वस्त हो जाना। धर्मशास्त्रों की मान्यता चाहे जो रही हो, अंग्रेजी हुकूमत के आने और उनकी शिक्षा पद्धति लागू होने से पैदा वस्तुस्थिति यही बतलाती थी कि नयी शिक्षा के प्रणेता अंग्रेज विद्वान ही नए ब्राह्मण थे और विजेता तथा शासक अंग्रेज ही नए क्षत्रिय भी थे। अंग्रेजों ने न सिर्फ नयी शिक्षा का जाल फैलाया, बल्कि इसमें प्रशिक्षित भारतीय शिक्षाविदों, अफसरों और व्यापारियों आदि का एक ऐसा वर्ग पैदा किया, जिसने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के परंपरागत पेशों-शिक्षा-दीक्षा, शासन-प्रशासन और युद्ध तथा व्यापार आदि को अपने हाथों में ले लिया। इस तरह पुरानी वर्ण व्यवस्था का सामाजिक और आर्थिक आधार नष्ट हो गया।।

लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि परिस्थिति के इस बदलाव से वर्णगत विषमताएँ भी मिट गयीं! हुआ यह कि परंपरा से शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी वर्णों में शामिल जातियाँ—ब्राह्मण, राजपूत, बनिया और कायस्थ (जो शूद्र वर्ण में गिने जाने के बावजूद मध्य युग से तो लिखा-पढ़ी के क्षेत्र.में काफी आगे आ गए थे)- अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने में भी आगे आ गईं और इस शिक्षा के बल पर प्रशासनिक सेवाओं, व्यवसाय और व्यापार में अपना स्थान बनाने लगीं। दूसरी ओर, शूद्र और दलित प्रायः नयी शिक्षा और इससे संबद्ध नौकरियों तथा व्यवसायों से वंचित रहे ।

अंग्रेजों के आने से एक दूसरी तरह का विकास भी हो रहा था जिससे शूद्रों तथा दलितों की स्थिति बदतर होती गई। भारत का आर्थिक आधार यहाँ का परंपरागत शिल्प था, जिसमें उत्पादन संपूर्ण रूप से यहाँ की अद्विज जातियों के हाथों में था। अंग्रेजों ने जब अपना शासन भारत पर कायम किया तो अपने देश के कारखानों के माल को इस देश पर लाद कर यहाँ के परंपरागत शिल्पों और उद्योगों को नष्ट कर दिया। प्रारंभ में यह काम मुख्य रूप से शक्ति प्रयोग के जरिए किया गया, बाद में कारखाने के बने सामान के सस्ता होने से प्रतिस्पर्धा में पारंपरिक शिल्प पर आधारित यहाँ के कुटीर उद्योग नष्ट हो गए। चूँकि इन उद्योगों में लगे लोग उन जातियों के थे जिन्हें शूद्र वर्ण या अंत्यजों में गिना जाता था, अंग्रेजी शासन का सबसे विनाशकारी फल इन्हीं जातियों के लोगों को भोगना पड़ा। अपने पारंपरिक उद्योगों के नष्ट होने से इन जातियों के लोग बड़ी संख्या में आजीविका के लिए अकुशल मजदूरों की श्रेणी में आ गए। इनमें कुछ औद्योगिक और प्रशासनिक केंद्रों के इर्द-गिर्द विकसित हो रहे नए नगरों में मजदूरी करने चले गए। बाकी लोग गांवों में भूमिहीन खेत-मजदूरों की श्रेणी में। ततवा (बुनकर), नुनियाँ (नमक, शोरा आदि बनानेवाले), जुलाहा (बुनकर), शिकलगढ़ (धुनकर), लोहार, बढ़ई, तेली, चमार (चमड़े का सामान बनाने वाले), धोबी, बड़ई (पान का रोजगार करने वाले), ठठेरा (बर्तन बनाने वाले), कुम्हार,

रंगसाज, सोनार आदि सभी औद्योगिक जातियों के लोग बड़ी संख्या में अब अकुशल मजदूरों में पाए जा सकते हैं। इस विकास का नतीजा यह हुआ कि जहाँ वर्णों की परंपरागत विषमता का महत्व घटने लगा, वहीं शिल्पी जातियाँ अपनी आजीविका के प्रतिष्ठित परंपरागत साधनों को खो कर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा भी खोने लगीं। कभी इस देश के शूद्र-शिल्पी काफी संपन्न थे और इनकी श्रेणियों(गिल्डों) ने अनुदान दे कर महत्वपूर्ण कलाकृतियों का निर्माण कराया था। अब ये घोर विपन्नता की स्थिति में आ गए। इस तरह अंग्रेजी शिक्षा में प्रशिक्षित हो अंग्रेजी नौकरियों और अंग्रेजी शिक्षा से उपलब्ध नए व्यवसायों (जैसे वकालत, डॉक्टरी आदि) में घुस तथा उद्योगों के ऊँचे तकनीकी स्थानों पर पहुँचे, द्विजों और बनियों ने जहाँ अपनी आर्थिक और सामाजिक हैसियत को पहले से भी अच्छी कर ली, वहाँ शूद्रों और अंत्यजों की स्थिति पहले से कहीं बदतर हो गई। इस तरह सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अगली और पिछली जातियों के बीच की खाई और भी गहरी होती गई। यह ठीक है कि सामाजिक दृष्टि से परंपरागत समाज में ब्राह्मण पुरोहितों की वरीयता मानी जाती थी, लेकिन आर्थिक दृष्टि से ब्राह्मण पुरोहित प्रायः गरीब और याचक ही थे। सिर्फ महाराष्ट्र या दक्षिण के कुछ राज्यों में वे आर्थिक दृष्टि से भी संपन्न थे और सत्ता में भी खास स्थान रखते थे। लेकिन वे द्विज, जो नयी शिक्षा के माध्यम से ऊँचे अफसर बन गए थे, आम लोगों से आर्थिक स्थिति और रहन-सहन सभी मामले में इतने भिन्न हो गए थे कि यह सोचना मुश्किल हो गया कि ये लोग और आम लोग एक ही समाज के हैं।

अंग्रेजी शासन के अंतिम चरण में जब देश में विभिन्न तरह के आधुनिक उद्योग लगाए जाने लगे और आजादी के बाद जब आधुनिकीकरण के नाम पर देश में पश्चिमी ढंग का उद्योगीकरण तेजी से शुरू हुआ, तब परंपरागत उद्योगों का नाश और भी तेजी से हुआ। इसके फलस्वरूप तुलनात्मक दृष्टि से नव-अभिजात वर्ग, जो मूलतः अगली जातियों के नयी शिक्षा पद्धति और नयी औद्योगिक और प्रशासनिक व्यवस्था में प्रवेश से पैदा हुआ, टूटते परंपरागत पेशों में विपन्नता की जिंदगी व्यतीत करने वाले पिछड़ी जातियों से और भी अधिक शक्तिशाली और संपन्न बन गया।

नयी प्रशासनिक सेवाएँ शक्ति और संपन्नता के स्रोत हैं, यह समझ कर अद्विजों में यह चाहत पैदा हुई कि वे भी इन सेवाओं में प्रवेश पाएं। इसी चेतना के फलस्वरूप दक्षिण में जस्टिस पार्टी ने पहले पहल प्रशासनिक सेवाओं में अद्विजों के लिए आरक्षण की माँग की। दलितों में एक धुँधला एहसास इस बात का हो रहा था कि राजसत्ता को प्रभावित करने की क्षमता के साथ उनका उत्थान गहराई से जुड़ा हुआ है। इसी एहसास से शुरू में बाबा साहब आंबेडकर के नेतृत्व में विधायिकाओं में दलितों के अलग प्रतिनिधित्व की माँग शुरू हुई। लेकिन इस मांग का अंग्रेज 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति के तहत उपयोग करना चाहते थे, ताकि असली सत्ता सदा वे अपने हाथों में रखें। पहले भी अंग्रेज

मुसलमानों को हिंदुओं से अलग करने के लिए अलग प्रतिनिधित्व के हथियार का इस्तेमाल कर चुके थे। दलितों की समस्याओं के प्रति गहरी संवेदना के बावजूद इस मांग के इसी पहलू के कारण महात्मा गांधी ने अलग प्रतिनिधित्व की माँग का विरोध करने में अपनी जान की बाजी लगा दी और आमरण अनशन पर बैठ गए। बाद में १९३२ का पूना पैक्ट हुआ, जिसमें अलग प्रतिनिधित्व की माँग को तो छोड़ दिया गया, लेकिन दलितों को उनकी संख्या के अनुपात में प्रशासनिक सेवाओं और विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व देने का सिद्धांत कबूल किया गया। बाद में जब डॉ. आंबेडकर ने भारतीय संविधान की रूप-रेखा बनाई, तब इस समझौते की मूल शर्तों को हमारे संविधान में शामिल किया गया।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, इतिहास का सबक यही रहा है कि जातियों की वर्णोन्नति उनकी राजनैतिक हैसियत के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी रही है और इस दृष्टि से दलितों द्वारा आरक्षण की माँग, जो शासन और प्रशासन में उचित प्रतिनिधित्व दिलाता, खास अहमियत रखती है। शासन और प्रशासन में कम से कम अपनी संख्या के अनुपात में स्थान पाने के साथ उनका सामाजिक सम्मान जुड़ा हुआ है। जिस दिन सवर्ण लोग शासन और प्रशासन के उच्चतम स्थानों पर दलितों की उपस्थिति को सहज भाव से स्वीकार करने लगेंगे, उस दिन परंपरा से प्राप्त यह भावना मिट जाएगी कि खास-खास पद और पेशे खास-खास वर्णों के लिए सुरक्षित हैं। समय के साथ आरक्षण से यह निष्पत्ति अनिवार्य रूप से आएगी। इससे वर्णों के साथ जुड़े सम्मान और अपमान बोध का लोप तो अवश्य होगा, लेकिन विभिन्न जातियों के बीच की आर्थिक विषमता और नवअभिजात वर्ग और आम लोग के बीच की गहराती आर्थिक और सामाजिक खाई को नहीं पाटा जा सकता।

नए ढंग की उद्योग नीति और देश पर लादी जाने वाली नयी शिक्षा नीति परंपरा से चली आ रही विषमता को मिटानेवाली नहीं, बल्कि और तेजी से बढ़ानेवाली है। आधुनिक उद्योग का ढाँचा पिरामिड का होता है, जिसमें लगे लोगों को कई स्तरों में विभाजित कर दिया जाता है। इस पिरामिड की चोटी के समीप उपस्थित लोग अत्यधिक शक्ति और सुविधाओं से संपन्न होते हैं और नीचे के लोग कम वेतन पाते हैं और मशीन के पुर्जे की तरह व्यवहार में लाए जाते हैं। इनका काम ऐसा होता है कि जरूरत पड़ने पर इन्हें काम से हटा कर इनका काम मशीनों से लिया जा सकता है। ऊपर के स्थानों पर (यानी तकनीकी विशेषज्ञ, प्रबंधन विशेषज्ञ आदि के स्थानों पर) पहुँचने के लिए लंबे समय के विशेष तरह के प्रशिक्षण की जरूरत होती है। इस तरह के प्रशिक्षण हेतु चयन के लिए भी बचपन से ही खास तरह के प्रशिक्षण की जरूरत होती हैं। ऐसा प्रशिक्षण वैसे ही परिवारों के बच्चों को प्राप्त हो सकता है, जिन परिवारों के लोग पढ़े-लिखे हैं या जिनमें इतनी संपन्नता है कि खर्चीले स्कूलों में खास तरह की शैक्षणिक तैयारी के लिए अपने बच्चों को भेज सकें। चूँकि अभी देश में दो तरह के स्कूल हैं- एक-सरकारी, जहाँ आम आदमियों के बच्चे

पढ़ते हैं और दूसरे–पब्लिक स्कूल, जहां संपन्न लोगों के बच्चे पढ़ते हैं, आम आदमी का बच्चा उच्च तकनीकी या प्रबंधकी की शिक्षा प्राप्त करने की दौड़ से पहले ही छँट जाता है। यह स्थिति नवोदय विद्यालयों के खुलने से भी नहीं बदली है, क्योंकि इन विद्यालयों में भी उन्हीं के बच्चे चुने जाते हैं, जो अपने बच्चों को अच्छा प्रारंभिक प्रशिक्षण देने की योग्यता या प्रशिक्षण दिलवाने की आर्थिक क्षमता रखते हैं। नतीजा यह हुआ है कि उन जातियों के लोग, जो पहले से शिक्षित हैं या प्रशासन तथा उद्योगों में ऊँची जगहों पर हैं, अपने बच्चों को भी इन स्थानों के योग्य शिक्षा दिला देते हैं बाकी लोग ऐसी शिक्षा से वंचित हो जाते हैं। इस वजह से एक नई जाति व्यवस्था पैदा हो रही है, जिसमें एक जाति में नई शिक्षा प्राप्त औद्योगिक–तकनीकी विशेषज्ञ, प्रबंधकी विशेषज्ञ तथा प्रशासक शामिल हैं और बाकी जातियों में वे लोग हैं, जो इन उद्योगों की निचली सीढ़ी पर अर्धकुशल या कुशल मजदूर हैं। इससे भी नीचे असंगठित उद्योगों, सेवाओं और खेती आदि के कामों में लगे हैं, जो किसी तरह अपना गुजारा चला रहे हैं। नई औद्योगिक सभ्यता में इस आखिरी वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं है। वे इस सभ्यता के अंत्यज हैं।

अगर हम गौर से देखेंगे तो पाएँगे कि इस आखिरी श्रेणी में अपनी कुल संख्या के हिसाब से सबसे बड़ा अनुपात दलित, आदिवासी एवं अति पिछड़ी जातियों के लोगों का है, जो औद्योगीकरण के प्रारंभिक काल से ही नई सभ्यता में प्रवेश की दौड़ में पीछे छूट गये हैं। उनके लिए अब इस औद्योगिक सभ्यता में कोई प्रतिष्ठित जगह नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि इन समूहों के थोड़े से लोग, जो आरक्षण के जरिए इस सभ्यता की ऊँची जाति में प्रवेश पा चुके हैं, अपने वंशजों के लिए भी इस व्यवस्था में स्थान बना लेंगे। लेकिन इससे दलितों से निकले इन अभिजात लोगों और आम दलितों के बीच का संबंध टूटता जाएगा और ये 'दलित अभिजात' दूसरे अभिजातों की बिरादरी में शामिल हो जाएँगे। इसका एक परिणाम यह हो सकता है कि दलितों का वह मुखर हिस्सा, जो इस विषमतापूर्ण व्यवस्था के खिलाफ दलितों को संगठित कर समतामूलक समाज की ओर बढ़ने की दिशा दे सकता था, इस नई सभ्यता का हामी बन जाएगा और आम दलित नेताविहीन हो जाएँगे। चूँकि वर्तमान विकास दिनोंदिन विशेष सुविधाएँ बढ़ाता जाता है, लेकिन इनका दायरा छोटा करता जाता है और ऐसे लोगों की संख्या बढ़ाता जाता है जो इस विकास के लिए अप्रासंगिक हैं। इसलिए एक नई तरह का ध्रुवीकरण समाज में हो रहा है। इसमें एक ध्रुव पर सभी जातियों से भरता एक छोटा–सा अति सुविधाप्राप्त समुदाय पैदा हो रहा है और दूसरे ध्रुव पर पैदा हो रही है एक ऐसी विशाल जनसंख्या, जो नयी अर्थव्यवस्था के लिए अप्रासंगिक है, क्योंकि वह वैसी शिक्षा से वंचित है जो नयी व्यवस्था से उसे जोड़ सके।

लेकिन इस त्रासदिक स्थिति में परिवर्तन की एक नई संभावना भी छिपी है। समता के अपने संघर्ष में, जो इस पूरी व्यवस्था के विकल्प की तलाश में निहित है, दलित अब

अकेले नहीं रहेंगे। दलितों के अलावा सभी वर्णों का भारी बहुमत, जो नयी औद्योगिक व्यवस्था के द्वारा सभ्यता के कूड़ेदान में डाला जा रहा है, विकल्प की तलाश में उसका साथी हो सकता है। समाज का सबसे शोषित वर्ग होने के कारण इस तलाश में दलित अगुआ का काम कर सकते हैं। इसमें उन्हें वर्णों के उस इतिहास से सबक लेना पड़ेगा, जिस इतिहास का जिक्र ऊपर किया गया है। जातियों द्वारा वर्णों में अपनी हैसियत ऊपर करने में राजसत्ता पर अधिकार का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। आज भी यह सच्चाई ज्यों की त्यों है। सदियों बाद एक ऐसी स्थिति आई है जब सत्ता पर अधिकार करने के अपने प्रयत्न में दलित अकेले नहीं होंगे, क्योंकि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने विभिन्न वर्णों के लोगों के बहुमत को अंत्यजों की एक ही कतार में खड़ा कर दिया है। आज परंपरागत दलितों के संघर्ष में यह नव दलितों की विशाल सेना भी शामिल होगी और विशाल बहुमत होने के कारण लोकतंत्र के माध्यम से एक ऐसी नयी व्यवस्था के निर्माण में सहायक होगी जो समता पर आधारित हो। आज की स्थिति में एक बुनियादी परिवर्तन यह हुआ कि जहाँ प्राचीन काल में नीचे स्थित जाति या कबाइली समूह सत्ता हासिल कर उच्च वर्णों में स्थान पा लेते थे, लेकिन वर्ण–व्यवस्था ज्यों की त्यों रहती थी, अब इतिहास ने पूरी वर्ण व्यवस्था को अप्रासंगिक बना दिया है। इसलिए नया परिवर्तन समतामूलक समाज की दिशा में ही संभव है। वर्णों का इतिहास हमारी शताब्दी के वर्तमान मोड़ पर दलितों के सामने यही चुनौती प्रस्तुत कर रहा है।

n

इस महाव्याधि को मिटाइए

सन्तराम बी. ए.

भारत की सबसे महान् व्याधि जो इसे ले डूबी है, हिन्दुओं की जन्ममूलक ऊंच-नीच की दुर्भावना अर्थात् जात-पांत है। एक समय था जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक सारा देश हिन्दू होता था। इतना ही क्यों, नौवीं शताब्दी में काबुल में भी पाल वंश के हिन्दू राजा राज करते थे। परंतु आज हम देखते हैं कि आधा पंजाब मुसलमान हो गया, आधा बंगाल मुसलमान हो गया है और आधा मद्रास ईसाई हो गया है। अनंत छोटी-छोटी जातियों में बंटे होने के कारण सब हिन्दू मिलकर विदेशी आक्रामकों का सामना नहीं कर सके। हिन्दू ऊपर से चाहे एक राष्ट्र दीख पड़ते हों, परंतु भीतर से झांका जाए तो इनकी जितनी जातियां और उपजातियां हैं उतने ही अलग-अलग राष्ट्र हैं। संसार का ऐसा कोई भी देश नहीं जहां के अधिवासी आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार न करते हों। भारत ही एक ऐसा देश है जहां के अधिवासी आपस में बिल्कुल अलग-अलग पड़े हैं। स्वर्गीय डॉ. भीमराव आम्बेडकर कहा करते थे कि प्रजातंत्र शासन पद्धति वहीं सफल हो सकती है जहां की प्रजा में समता, बंधुता और स्वतंत्रता का भाव हो। जात-पांत की दुर्भावना इन तीनों का ही उलट है। जब तक सामाजिक सुधार न हो, राजनीतिक सुधार सफल नहीं हो सकता। इस समय भारत में प्रजातंत्र शासन बेशक है, परंतु जात-पांत की व्याधि से ग्रस्त होने के कारण जिस जाति का कोई व्यक्ति उच्चाधिकारी बनता है वह अपनी ही जाति के व्यक्ति को आगे लाने का यत्न करता है। किसी दूसरी जाति के योग्य से योग्य व्यक्ति को भी ऊपर नहीं उठने देता। इसमें उसका भी कोई दोष नहीं। जिस व्यक्ति के साथ हम खान-पान और बेटी व्यवहार कर सकते हैं, जितना प्यारा और अपना हमें वह लगता है, उतना वह दूसरा मनुष्य कैसे हो सकता है जिसके साथ छू जाने से ही हम अपने को अपवित्र मानने लगते हैं।

जात-पांत की दुर्भावना केवल तथाकथित ऊंची और नीची कहलाने वाली जातियों में ही नहीं है। अपने को ऊंचा कहने वाली और नीची कहलाने वाली जातियों के अपने भीतर भी यही फूट है। मालवीय जाति के ब्राह्मण दूसरी जाति के ब्राह्मणों के साथ और चमार जाति के अछूत महार जाति के अछूतों के साथ बेटी व्यवहार नहीं करते। सन् १९२९ की

बात है लाहौर में एक भट्ट सज्जन मेरे पास आए और रोकर मुझसे कहने लगे कि मैं तो मुसलमान हो जाऊंगां। मैंने पूछा कि क्यों? वे बोले, मैं मालवीय ब्राह्मण हूँ। मेरी एक लड़की का विवाह पंडित मदनमोहन मालवीय के लड़के के साथ तय हुआ है। अपनी दूसरी लड़की के लिए मालवीय ब्राह्मणों में मुझे कोई लड़का नहीं मिला इसलिए मैंने उसका विवाह किया तो एक ब्राह्मण लड़के के साथ ही परंतु वह गैर मालवीय है। इस पर पंडित मदनमोहन मालवीय इतने सख्त नाराज हुए कि मेरी पत्नी के मरने पर भी उन्होंने अपनी बहू और मेरी बेटी को मेरे घर नहीं आने दिया। ऐसे धर्म में रहकर मैं क्या करूं।

इसी प्रकार की एक और बात सुनिए। पूना निवासी श्री राजभोज एम.पी. मेरे मित्र थे। इसी प्रकार डॉ. भीमराव आम्बेडकर भी मेरे मित्र थे। वे दोनों तथा कथित अछूत जाति के थे। मैंने श्री राजभोज से कहा कि आप अपनी बेटी का विवाह डॉ० आम्बेडकर के बेटे से कर दीजिए। वे बड़े जोश में आकर बोले, मैं अपनी बेटी डॉ० आम्बेडकर के लड़के को कैसे दे दूं। हम चमार तो अछूतों में वैसे ही ऊंचे हैं जैसे सवर्ण हिन्दुओं में ब्राह्मण । डॉ० आम्बेडकर तो महार हैं जो हमसे कहीं नीची जाति हैं।

जातिभेद राष्ट्रीय एकता के लिए ही हानिकारक नहीं व्यक्तिगत रूप से भी यह बड़ा हानिकारक है। हिन्दू अपनी बहन के साथ और अपने ही गोत्र में विवाह क्यों नहीं करते? क्योंकि एक ही रक्त में ब्याह करने से संतान उतनी अच्छी नहीं होती जितनी कि दूसरे रक्त में विवाह करने से होती है। घोड़े और गधे के मिलाप से जो खच्चर पैदा होता है वह उन दोनों से अधिक बलवान होता है। इसी प्रकार भारतीय और अंग्रेज के समागम से जो ऐंग्लो-इंडियन संतान उत्पन्न होती है, वह दोनों से अच्छी होती है। उसमें अंग्रेज का रंग-रूप और भारतीय की आकृति आ जाती है। सफल सेनापति बनने के लिए व्यक्ति में केवल शारीरिक वीरता ही नहीं बौद्धिक विचारशीलता भी होना आवश्यक है। हमारे हिन्दू राजपूत वीर तो बहुत बड़े थे परंतु उनमें विचारशीलता बहुत कम थी। इसीलिए वे मुसलमान, तुर्कों और मुगलों का सामना न कर सके और भारत पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। यदि राजपूत और ब्राह्मण का आपस में बेटी व्यवहार होता तो उनकी संतान में राजपूत वीरता और ब्राह्मण की दूरदर्शिता, दोनों आ जाते और वह सफल सेनापति बनते। मुसलमानों और ईसाइयों में जन्ममूलक ऊंच-नीच की ऐसी दुर्भावना न होने से उनमें ऐसे सैनिक उत्पन्न होते रहे जिनको हिन्दू योद्धा न हरा सके। इस बुराई की ओर हिन्दुओं का कभी ध्यान ही नहीं गया। जातिभेद की दुर्भावना के कारण लाखों हिन्दू तो मुसलमान और ईसाई हो गए। परंतु हम एक भी अहिन्दू को शुद्ध करके रोटी-बेटी के संबंध द्वारा आत्मसात् नहीं कर सके। एक ब्राह्मण एक मुसलमान तो दूर किसी हिन्दू कहार या तेली के साथ भी खान-पान नहीं कर सकता। किसी मुसलमान का छुआ पानी पी लेने मात्र से ही वह अपने आपको पतित और अहिन्दू समझने लगता है। मुसलमान या ईसाई तो वह है जो हजरत मुहम्मद या ईसा को

अपना गुरू मानता है। इसका खान-पान के साथ कुछ संबंध नहीं। मुसलमान मांस खाते हैं तो बंगाल के सभी ब्राह्मण, एक विधवा स्त्री के सिवा, मांस-मछली खाते हैं। उनका बना भोजन खाने से जब कोई हिन्दू मुसलमान नहीं बन जाता तो मांसाहारी मुसलमान के हाथ की बनी रोटी खा लेने से आदमी कैसे मुसलमान हो जाता है। पाकिस्तान बनने से पहले की बात है कि मैं लाहौर में रहता था। वहां एक शिया मुसलमान नवाब कजलवाश दहलवी भी रहते थे। वह ताजियों के उत्सव के बाद एक बड़ा सहभोज किया करते थे। उन्होंने मुझे निमंत्रण दिया कि आप जात-पांत नहीं मानते तो मेरे इस सहभोज में खाना खाने आइए। मैंने कहा कि मैं आऊंगा परंतु मेरे भोजन में मांस नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा बहुत अच्छा हम आपको मांस नहीं देंगे। मैं उनके यहां खाना खाने गया। वे मेरे लिए हलवा, खीर और फल लाए। मैंने वे सब बड़े आनंद से खाए। इससे वह बड़े प्रसन्न हुए। इसी प्रकार देहरादून में एक मुसलमान हलवाई से मैंने एक आने की मिठाई मांगी। वह बोला मैं मुसलमान हूँ। मैंने कहा मैंने तुमसे पूछा है कि तुम कौन हो? तुम मुसलमान हो तो क्या हुआ? तुम हिन्दुओं की मिठाई खाकर मुसलमान के मुसलमान रहते हो। मैं तुम्हारी मिठाई खाकर मुसलमान कैसे हो जाऊंगा? इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ। और पल्ला भरकर मेरे लिए मिठाई ले आया। मैंने कहा कि मैंने तो केवल एक आना दिया है आप इतनी मिठाई क्यों दे रहे हैं? इस पर वह बोला-छोड़ो जी रूपये-पैसे की बात आप मिठाई खाइए। वह पूछने लगा कि आप ही इस विचार के हैं या और भी कोई है? मैंने कहा, हमारा जात-पांत तोड़क मंडल, सारे का सारा इसी विचार का है। इस पर वह प्रसन्न होकर बोला, यदि ऐसा हो जाए तो हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा ही न खत्म हो जाए।

जात-पांत की व्याधि को मिटाने के लिए केवल आख्यान और सम्मेलन ही पर्याप्त नहीं । जात-पांत को मिटाने का प्रचार वही कर सकता है जिसने आप जात-पांत तोड़ी हो। नहीं तो-

पर उपदेश कुशल बहुतेरे।
आप करें सो नर न घनेरे।।

जनता के विचार बदलेंगे तभी सरकार भी जात-पांत को मिटाने का पूरा प्रयत्न करेगी। आज से कोई पचास साल पहले जात-पात तोड़कर किया हुआ विवाह कानून की दृष्टि से जायज नहीं होता था। ऐसे विवाह की संतान अपने पिता की जद्दी जायदाद की अधिकारी नहीं मानी जाती थी। हमारे जात-पांत तोड़ो मंडल ने ही सर हरिसिंह गौड़ को प्रेरित करके अंतर्जातीय विवाह को कानून संगत बनवाने का सफल प्रयत्न किया। हमारे मंडल की स्थापना स्वर्गीय भाई परमानंद जी ने सन् १९२२ में अमेरिका से आकर लाहौर में की थी। उन्होंने अपनी बिरादरी के विरोध की परवाह न करते हुए अपनी बेटी का विवाह

जात-पांत तोड़कर किया था। इसी प्रकार हमारे मंडल के और भी बहुत से सदस्यों ने जात-पांत तोड़ी है। मेरे स्वर्गीय मित्र पंडित भूमानंद जी की सगाई एक ब्राह्मण लड़की के साथ हुई थी परंतु जब वे हमारे मंडल में आए तो उन्होंने वह सगाई छोड़ दी और हमने उनका विवाह मुल्तान की एक अरोड़ा लड़की के साथ कराया।

जातिभेद को मिटाने के लिए भाषणों की अपेक्षा लेखों की अधिक आवश्यकता है। लेख जितनी गहरी काट करता है और उसका प्रभाव जितना स्थायी होता है,उतना उच्चस्तर में गरजकर भाषण करने का नहीं। इसलिए हमें जात-पांत के विरुद्ध साहित्य बढ़ाते रहना और सुकर्म द्वारा जात-पांत तोड़कर एकता का प्रचार करते रहना चाहिए।।

n

जाति का उन्मूलन

डॉ० भीमराव आम्बेडकर

मित्रो,

जात-पांत तोड़क मंडल के जिन सदस्यों ने कृपापूर्वक मुझे इस सम्मेलन का सभापति चुना है, मुझे चिंता है, उन लोगों से मेरे चुनाव के संबंध में अनेकों प्रश्न किए जाएँगे। उनसे पूछा जा सकता है, क्या लाहौर में कोई योग्य पुरुष नहीं था जो सभापति चुनने के लिए बंबई दौड़ गए? मैं हिन्दू धर्म का आलोचक हूँ, मैंने महात्मा जी के सिद्धांतों की भी, जिन पर हिंदुओं की श्रद्धा है, आलोचना की है, जिससे वे मुझे अपनी वाटिका का सर्प समझते हैं। मैं समझता हूँ, शायद राजनीतिक हिंदू भी मंडल से जवाब तलब करेंगे कि उसने इस आदणीय पद के लिए मुझे चुनकर हिन्दुओं का अपमान क्यों किया। सामान्य हिन्दुओं को तो यह पसंद नहीं आएगा, क्योंकि सवर्ण हिन्दुओं की सभा में संबोधन के लिए एक अंत्यज का चुना जाना शास्त्रीय मर्यादा को भंग करना है। अंत्यज कितना ही अनुभवी क्यों न हो, शास्त्र उसे 'उपदेष्टा' स्वीकार करने की आज्ञा नहीं दे सकते। शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही तीनों वर्णों का उपदेष्टा और गुरू है। हिन्दू राज्य के संस्थापक शिवाजी के गुरू संत रामदास जी ने अपने मराठी ग्रंथ 'दासबोध' में हिदुओं से प्रश्न किया है कि क्या तुम किसी अंत्यज को, जो तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, अपना गुरू स्वीकार कर सकते हो? यही प्रश्न यदि मैं करूँ, तो मंडल के पास इसका क्या उत्तर होगा? उस कारण को तो मंडल ही जानता है, जिसने उसे बंबई भेजा और जिसने उसे मेरे जैसे व्यक्ति को, जो हिंदू धर्म का इतना विरोधी और अंत्यज है, मर्यादा के विरूद्ध सवर्ण हिन्दुओं का संबोधन करने के लिए सभापति चुना।

अपने संबंध में मैं आपसे यह कहने की अनुमति चाहता हूँ कि मैंने आपके निमंत्रण को अपनी एवं अपने अछूत साथियों की इच्छा से स्वीकार नहीं किया। मैं जानता हूँ, हिन्दू मुझसे और मेरे भाइयों से घृणा करते हैं, इसीलिए मैंने सदा अपने को उनसे अलग रखा और अपने विचारों का प्रकाश अपने प्लेटफार्म पर करता रहा। हिंदुओं के प्लेटफार्म पर अपनी बातें सुना कर अपने को उनके ऊपर रखने की मैंने कभी इच्छा नहीं की। यहाँ भी मैं अपनी इच्छा से नहीं, आपके चुनाव से आया हूँ। मैंने इससे इन्कार करना इसलिए उचित नहीं

समझा, क्योंकि मुझे बताया गया कि इस सम्मेलन का उद्देश्य सामाजिक सुधार है, और समाज-सुधार एक ऐसा विषय है जिससे मुझे मोह है- विशेषत: उस दशा में, जबकि आप समझते हों कि इस काम में मैं आपकी कुछ सहायता कर सकता हूँ। यह आपके न्याय पर निर्भर है कि मैं यहाँ जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे समस्या के हल के लिए आप कहाँ तक ग्रहण कर सकेंगे।

इस प्राक्कथन के साथ अब मैं मुख्य विषय पर अपने विचार आपके सामने रखने की अनुमति चाहता हूँ।

कांग्रेस और समाज सुधार

भारत में समाज सुधार का काम निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग के समान अनेक कठिनाइयों से पूर्ण हैं। कारण, भारत में समाज सुधार के मित्र थोड़े और शत्रु बहुत अधिक हैं। इंडियन नेशनल कांग्रेस देश की सबसे बड़ी संस्था है, किन्तु समाज सुधार के साथ उसका व्यवहार कैसा रहा है, पहले इसी पर नजर डालिए।

पश्चिमी विद्वानों के संपर्क में जब यह देश आया, तो लोग मानने लगे कि कुरीतियों से आक्रांत हिंदू समाज में सामाजिक चेतना नहीं रही। अत: कुरीतियों को मिटाने का प्रयास निरंतर होना चाहिए। इस सत्य को स्वीकार कर लेने के कारण ही 'कांग्रेस' के जन्म के साथ, सोशल कान्फ्रेंस (समाज सुधार सम्मेलन) की भी नींव रखी गई। और कांग्रेस अधिवेशन के साथ ही , उसी पंडाल में 'सोशल कान्फ्रेंस' का भी अधिवेशन होने लगा। किंतु सामाजिक सुधार की चर्चा चलने पर जब हिंदू समाज व्यवस्था की तीव्र आलोचना होने लगी, तो यह बात ब्राह्मणों और कट्टर हिंदुओं को बर्दाश्त नहीं हुई और कांग्रेस के पूना अधिवेशन में, पूना के ब्राह्मणों के अनुरोध से, जब लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने इसका विरोध किया, तो कांग्रेस ने 'समाज सुधार सम्मेलन' को अपना पंडाल नहीं दिया और सामाजिक सम्मेलन के प्रेमियों ने जब अपना पंडाल अलग बनाना चाहा, तो विरोधियों ने उसे जला डालने की धमकी दी। कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन के सभापति मि. डब्ल्यू. सी.बनर्जी ने 'समाज सुधार सम्मेलन' के विरूद्ध अपने भाषण में कहा-

'मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो कहते हैं कि जब तक हम अपनी सामाजिक पद्धति में सुधार नहीं करते, तब तक हम राजनैतिक सुधार के योग्य नहीं हैं। मुझे इन दोनों के बीच कोई संबंध नहीं दिखाई देता । क्या हम राजनैतिक सुधार के योग्य इसलिए नहीं हैं क्यों कि हमारी विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता और हमारी लड़कियों की शादी कम उम्र में हो जाती है या हमारी पत्नियाँ और पुत्रियाँ हमारे साथ गाड़ी में बैठकर हमारे मित्रों से मिलने नहीं जातीं? क्योंकि हम अपनी बेटियों को ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में पढ़ने के लिए नहीं भेजते ?' (हर्षध्वनि)

मि. बनर्जी के इन आक्षेपों के पर्याप्त उत्तर हैं। उनसे पूछा जा सकता है, क्या आपको यह मालूम है कि हिंदू समाज व्यवस्था ने देश की पंचमांश जनसंख्या को 'अछूत' बना रखा है? पेशवाओं के शासनकाल में, महाराष्ट्र में, इन अछूतों को उस सड़क पर चलने की आज्ञा नहीं थी जिस पर कोई सवर्ण हिंदू चल रहा हो। इनके लिए आदेश था कि ये अपनी कलाई में या गले में काला धागा बाँधें, ताकि हिंदू इन्हें भूल से छू न लें। पेशवाओं की राजधानी पूना में तो इन अछूतों के लिए यह आदेश था कि ये कमर में झाड़ू बाँधकर चलें ताकि इनके पैरों के चिह्न झाड़ू से मिट जाएँ और कोई हिंदू इसके पद-चिह्नों पर पैर रखकर अपवित्र न हो जाए; अछूत अपने गले में हाँड़ी बाँधकर चले, और जब थूकना हो तो उसी में थूकें, भूमि पर पड़े हुए अछूत के थूक पर किसी हिंदू का पैर पड़ जाने से वह अपवित्र हो जाएगा। अछूत भी मनुष्य है, पेशवा ब्राह्मण भी मनुष्य है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ यह व्यवहार!

इसी तरह मध्य भारत में गरीब बलाई जाति के विरुद्ध वहाँ के कालोटों, राजपूतों और ब्राह्मणों ने इंदौर जिले के १५ गाँवों में ऐसे अमानवीय कानून बनाए थे, जिनका पालन न कर सकने के कारण बलाइयों को स्त्री-बच्चों सहित उन गाँवों को छोड़ कर, जहाँ उनके बाप-दादे पीढ़ियों से रहते आए थे, धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर और दूसरे निकटवर्ती राज्यों के सुनसान गाँवों में चला जाना पड़ा, और इन नए घरों में उनके साथ जैसी बीती, वह अवर्णनीय है। बलाई भी मनुष्य हैं और ब्राह्मण-राजपूत भी मनुष्य हैं। (टाइम्स ऑफ इंडिया, ४ जनवरी १९२०)

गुजरात के अंतर्गत कविथा ग्राम की घटना अभी पिछले साल की है। कविथा के हिंदुओं ने अछूतों के बच्चों को सरकारी स्कूलों में पढ़ने नहीं दिया। अहमदाबाद के 'जन' नामक गाँव की नवंबर १९३५ की घटना है कि वहाँ के अछूतों की स्त्रियों पर सवर्ण हिंदुओं ने इस कारण आक्रमण किया क्योंकि वे धातु के बर्तनों में पानी लाने लगी थीं। जयपुर राज्य के चकवारा गाँव की ताजा घटना है कि वहाँ एक अछूत ने तीर्थयात्रा से लौट कर अपने भाइयों को पकवान का भोज दिया। बेचारे अछूत मेहमान भोजन कर ही रहे थे कि सैकड़ों हिंदू लाठी ले कर उन पर टूट पड़े और उनका भोजन खराब कर दिया, क्योंकि वे लोग घी के बने पकवान खा रहे थे। उन्होंने अतिथि बन कर घी खाने की ढिठाई क्यों की? घी तो हिंदुओं का खाद्य है; अछूतों को घी खाने का अधिकार नहीं।

प्रश्न होता है, जिस समाज में मनुष्य दुर्बलों पर इस तरह के क्रूर, गर्हित और अमानवीय आचरण करते हों, वहाँ समाज सुधार की आवश्यकता क्यों नहीं है?

समाज सुधार के दो अर्थ हैं : एक पारिवारिक सुधार और दूसरा, समाज का पुनर्गठन। विधवा विवाह, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा आदि पारिवारिक सुधार के अंतर्गत हैं

तथा समाज में ऊँच-नीच, छूत- अछूत का अधिकार-भेद, वर्ण भेद या जाति भेद मिटाना सामाजिक सुधार है। हमारे देश में जो सांप्रदायिक बँटवारा (कम्यूनल अवार्ड) हुआ, वह सामाजिक सुधार न होने के कारण हुआ। यदि देश की सामाजिक व्यवस्था ठीक होती, तो सांप्रदायिक बँटवारे का प्रश्न ही न उठता।

इतिहास इस बात का समर्थन करता है कि समुन्नत देशों में राजनैतिक क्रांतियों से पहले सामाजिक और धार्मिक क्रांतियाँ हुई हैं । लूथर द्वारा किया हुआ धार्मिक सुधार यूरोपीय लोगों के राजनैतिक उद्धार का पूर्व लक्षण था। प्यूरीटिनिज्म एक धार्मिक सुधार था, और इसने नए संसार की नींव रखी, अमेरिकी स्वतंत्रता का युद्ध जीता। हजरत मुहम्मद द्वारा धार्मिक क्रांति होने के बाद ही अरबों ने राजनैतिक शक्ति प्राप्त की। भगवान बुद्ध द्वारा की हुई धार्मिक क्रांति के फलस्वरूप ही चंद्रगुप्त और अशोक जैसे सम्राट हुए। साधु-संतों द्वारा की हुई धार्मिक क्रांति के बाद ही शिवाजी हिंदू राष्ट्र की स्थापना कर सके। गुरू नानक द्वारा पैदा की गई धार्मिक क्रांति के फलस्वरूप ही सिखों ने राजनैतिक शक्ति प्राप्त की। तब कैसे कहा जा सकता है कि शक्तिशाली और सुदृढ़ राष्ट्र को बनाने के लिए धार्मिक और सामाजिक क्रांति की आवश्यकता नहीं है?

सत्य तो यह है कि सामाजिक सुधार के बिना सच्ची राष्ट्रीयता का उदय संभव नहीं है।

कम्युनिस्ट और समाज सुधार

कांग्रेस के बाद राजनीतिज्ञों का दूसरा दल कम्युनिस्टों (साम्यवादियों) का है। इस दल के सिद्धांत सामाजिक अवस्था के अनुरूप स्थिर हुए। कम्युनिस्टों का ध्येय आर्थिक असमानता को मिटा कर समाज में समता लाना है। कम्युनिस्ट कहते हैं- ' मनुष्य एक आर्थिक प्राणी है। उसकी आकाँक्षाएँ और चेष्टाएँ आर्थिक तथ्यों से बँधी हुई हैं।' ये लोग वर्ण भेद और जाति भेद मिटा कर सामाजिक समता लाने के स्थान पर यूरोपीय साम्यवादियों का अंधानुकरण कर आर्थिक समता पर ही सारी शक्ति लगा देते हैं। इनके मत में धार्मिक और सामाजिक सुधार भ्रम-मात्र है। साम्पत्तिक शक्ति ही एकमात्र शक्ति है, इस बात को मानव समाज का अध्ययन करने वाला कोई भी मनुष्य स्वीकार नहीं करेगा।

साधु-संतों का सर्वसाधारण पर जो शासन होता है, वह इस विचार का अपवाद है। भारत के करोड़ों लोग लँगोटीधारी संपत्तिहीन साधु-संतों की आज्ञा मानते हैं और अपना अंगूठी-छल्ला बेच कर काशी, मक्का आदि तीर्थों के दर्शनों को जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? भारत का इतिहास बताता है कि धर्म एक बड़ी शक्ति है। भारत में पुरोहितों का शासन मजिस्ट्रेट से भी बढ़कर है। यहाँ काउंसिलों के चुनाव और हड़तालों को भी आसानी से धार्मिक रंगत मिल जाती है। भारत ही नहीं, यूरोप के इतिहास में भी धर्म की प्रबलता पाई

जाती है। रोम के प्रजातंत्री शासन काल में एक काउंसिल (प्रतिनिधि) दूसरे काउंसिल के काम को रद्द कर देता था। वहाँ प्लेबियनों और पेट्रीशियनों का संघर्ष था। रोम की जनता का यह धार्मिक विश्वास था कि कोई भी अफसर वहाँ किसी पद को ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक डेल्फी देवी की देववाणी उसे स्वीकार न करे। डेल्फी देवी के पुरोहित पेट्रीशियन थे, इसलिए जब कभी प्लेबियन ऐसे व्यक्ति को अपना नेता चुनते, जो पेट्रीशियनों के विरूद्ध होता, तो देववाणी सदा विघोषित कर देती कि डेल्फी देवी उसे स्वीकार नहीं करतीं। इस कारण प्लेबियनों को अपने में कभी ऐसा प्रतिनिधि न मिल सका, जो पेट्रीशियनों का मुकाबला करता। प्लेबियन लोग इस ठगी को इसलिए स्वीकार कर लेते, क्योंकि उनका अपना भी विश्वास था कि देवी की स्वीकृति आवश्यक है, केवल जनता द्वारा चुना जाना ही पर्याप्त नहीं है। धार्मिक विश्वास छोड़ने के बदले प्लेबियनों ने अपना लौकिक लाभ छोड़ दिया। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्लेबियन संपत्ति की अपेक्षा धर्म को अधिक महत्व देते थे ?

धर्म, सामाजिक स्थिति और संपत्ति, ये तीनों प्रभुता के स्रोत हैं। आज के यूरोपीय समाज में संपत्ति की प्रमुखता है, किंतु भारत में धर्म और सामाजिक व्यवस्था का सुधार किए बिना आप आर्थिक सुधार नहीं कर सकते। क्या भारत का सर्वहारा वर्ग ऐसी क्रांति लाने के लिए इकट्ठा हो जाएगा? इसके लिए उसे प्रेरणा तभी मिल सकती है जब उसे विश्वास हो जाए कि जिनके साथ वह काम कर रहा है, वे समता, बंधुता और न्याय के लिए ही संघर्ष कर रहे हैं तथा क्रांति के बाद वर्ण, जाति और धर्म का कोई भेद न रहेगा। कम्युनिस्टों का केवल यह कहना काफी नहीं है कि 'मैं जाति भेद को नहीं मानता'। भारत में जहाँ साधारण जनता धनी और निर्धन, ब्राह्मण और शूद्र एवं ऊँच-नीच के भेद को मानती है और इसे पूर्व जन्म के कर्मों का फल,विधाता का विधान अथवा तकदीर समझती है, वहाँ वह धनवानों के विरूद्ध कैसे इकट्ठी हो सकती है? और यदि नहीं इकट्ठी हो सकती, तो ऐसी आर्थिक क्रांति का होना ही असंभव है। यदि किसी कारण ऐसी क्रांति हो भी गई, तो ब्राह्मण-शूद्र, ऊँच-नीच और वर्ण-जाति के भेद-भाव को उत्पन्न करने वाले पक्षपातों से युद्ध किए बिना मार्क्सवादी शासन यहाँ चल सकना संभव नहीं। आप किसी भी ओर मुँह कीजिए वर्ण भेद और जाति भेद एक ऐसा राक्षस है जो सब ओर से आपका मार्ग रोके हुए है। जब तक आप इस राक्षस का वध नहीं करते, आप न यहाँ राजनैतिक सुधार कर सकते हैं और न आर्थिक सुधार।

क्या चातुर्वर्ण श्रम का विभाजन है?

कुछ लोग कहा करते हैं कि चातुर्वर्ण व्यवस्था श्रम का विभाजन है। परंतु यह बात निराधार है। वस्तुतः चातुर्वर्ण व्यवस्था का आधार भोगैश्वर्य की सुलभता, समाज पर प्रभुता और श्रेष्ठता,श्रम से बचना, आराम और लौकिक सुविधा का स्वार्थ है। यही कारण है

कि इसे राष्ट्रीयता विघातक समझते हुए भी सवर्ण हिंदू नेता इसका विध्वंस सहन नहीं कर पाते। धनी और निर्धन की विषमता मिटा कर सापेक्षिक समता लाने का राग अलापनेवाला सोशलिस्ट हिंदू भी यहाँ चातुर्वर्णी मर्यादा की रक्षा के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाता देखा जाता है। सवर्ण हिंदू को मानो जन्म में ऊँचाई का पट्टा मिला हुआ है, जिसके भोग में वह ऐसा प्रसक्त है कि वह शूद्रों के अभाव-ग्रसित कष्टमय जीवन का अनुभव ही नहीं कर सकता। एक अहीर या चमार मजदूर ब्राह्मण-मजदूर के शाप से डर कर उसका पूजन करता एवं उसकी गाली, डींगें और बदतमीजी बरदाश्त करता है। ब्राह्मण और भंगी के बीच परंपरागत धार्मिक कुसंस्कारों के कारण कल्पित उच्चता और पवित्रता की दीवार खड़ी है। खेद है, भारत में आज तक जितने सुधारक हुए, वे सब भी सवर्ण हिंदुओं में ही पैदा हुए। यही कारण है कि वर्ण व्यवस्था द्वारा होने वाली घोर हानि की वे अनुभूति नहीं कर सके।

वर्ण व्यवस्था और जाति भेद वस्तुतः श्रम का नहीं, श्रमिकों का विभाजन है। यही कारण है कि यहाँ नीचे गिराई गई जाति का मनुष्य ऊपरवाली जाति का पेशा नहीं कर सकता। यहाँ भंगी हलवाई का काम नहीं कर सकता, परचूनी नहीं कर सकता, चाय और पान की दुकान नहीं रख सकता, पुरोहित नहीं बन सकता। ऐसा कोई सामाजिक कार्य नहीं, जिसमें भंगी से ब्राह्मण तक समान भाव से लग सकें। हिंदुओं को एकता या एक-राष्ट्रीयता के सूत्र में बाँधनेवाली एक भी बात नहीं, सब अपने को अलग-अलग अनुभव करते हैं। हिंदू का जन्म से मरण पर्यंत सारा जीवन अपने वर्ण और जाति की तंग चहारदीवारी के भीतर ही सीमित रहता है। एक जाति और एक वर्ण का मनुष्य दूसरी जाति और दूसरे वर्ण से घृणा और द्वेष रखता है। यहाँ तक कि लोगों ने एक-दूसरे की जाति के विरूद्ध निंदा और घृणापूर्ण कहावतें भी बना रखी हैं।

आर्य समाज की वर्ण व्यवस्था

आर्य समाय ने वर्ण व्यवस्था को आकर्षक बनाने के लिए यह दावा पेश किया कि वर्ण जन्म से नहीं, गुण-कर्म-स्वभाव से होता है। वह यह भी कहता है कि भारत की चार हजार जातियों और उपजातियों को गला कर चार वर्णों में ढाल देना चाहिए। ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं। सवाल यह है कि यदि व्यक्ति को गुणों के अनुसार समाज में आदर मिलता है, तो फिर चार वर्णों का आग्रह कैसा ? ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नाम के गंदे लेबलों की आवश्यकता क्यों? वर्णों का लेबुल न लगाने से क्या समाज में सम्मान नहीं मिल सकता ? दूसरा यह कि गुण क्या चार ही हैं? यदि चार ही हैं, तो यदि एक ही व्यक्ति में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र चारों के गुणों का विकास हो, तो वह किस वर्ण में रहेगा? फिर, नीचे वर्ण में जनमे व्यक्ति को गुण-कर्म के अनुसार ऊँचे वर्ण का माना जाने के लिए क्या समाज को मजबूर किया जा सकेगा? अतः चार हजार जातियों को चार वर्णों में ढालना असंभव-

सा है। फिर गुणों के अनुसार चार वर्णों का विभाजन करने के लिए क्या म्युनिसिपैलिटी और काउंसिलों के इलेक्शन की तरह वर्णों का इलेक्शन हुआ करेगा अथवा परीक्षाएँ ले कर यूनिवर्सिटी से वर्णों का सर्टीफिकेट बँटा करेगा?

इसके सिवाय समाज में आधी आबादी स्त्रियों की है। क्या आज भी समस्त नारी जाति को 'शूद्रा' बना कर रखा जा सकता है? यदि नहीं, तो क्या चातुर्वर्ण के अनुसार कुछ स्त्रियाँ पुरोहित बनेंगी, कुछ सिपाही का काम करेंगी और कुछ सेठ बन कर व्यापारी का काम करेंगी? इतिहास-प्रसिद्ध प्लेटो ने भी गुणों के अनुसार विचारक, शूर और वणिक व श्रमिक-तीन श्रेणियों में समाज को बाँटने की व्यवस्था की थी, किंतु उसकी व्यवस्था भंग हो गई। यह सिद्ध हो गया कि किन्हीं दो मनुष्यों को भी सदा एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि गुण और स्वभाव परिवर्तनशील होते हैं। अतएव आर्य समाजी कल्पना से उदभूत गुणों के अनुसार चातुर्वर्ण व्यवस्था हानिकर और अस्वाभाविक ही नहीं, वरन मूर्खतापूर्ण और असम्भव भी है।

वस्तुतः चातुर्वर्णी व्यवस्था चाहे गुण-कर्म के अनुसार हो, चाहे जन्म के आधार पर, दोनों रूपों में अस्वाभाविक है। स्वतंत्र मानव समाज को चार वर्णों में केवल कठोर कानून और राज-दंड के भय से ही ठूँसा जा सकता है, जैसा कि चातुर्वर्ण के रक्षक राम ने शूद्र हो कर तप करने के कारण शंबूक का शिरच्छेदन कर दिया। आज बीसवीं शताब्दी के स्वतन्त्र मानव समाज को मनुस्मृति की अंधकारयुगीन दण्डनाओं से अनुशासित नहीं किया जा सकता।

वर्ण व्यवस्था असाध्य और हानिकारक

चातुर्वर्ण व्यवस्था मानव समाज के लिए असाध्य ही नहीं, हानिकर भी है। इसका अर्थ है, कुछ इने-गिने मनुष्यों के भोगैश्वर्य के लिए बहुजन समाज को कंगाल बना दिया जाए एवं थोड़े से लोगों के प्रभुत्व के लिए बहुत-से लोगों को सर्वहारा बना दिया जाए। थोड़े-से लोगों के जीवन के विकास और प्रकाश के लिए बहुत-से लोगों को प्रवंचित, निःसत्व और अंधकारमय बना दिया जाए। भारत में यही हुआ। इस राक्षसी व्यवस्था ने यहाँ के बहुसंख्यक लोगों को निर्जीव और पंगु बना दिया। यही कारण है कि दूसरे समुन्नत देशों की तरह यहाँ कभी सामाजिक क्रांति नहीं हुई। यहाँ का खेतिहर हल के सिवाय तलवार नहीं चला सकता था। जनता के पास संगीनें न थीं। क्रांति के द्वारा दासता से मुक्त होने का कोई साधन न था। उसे समझाया गया था कि परमेश्वर ने ही तुम्हारे भाग्य में दासता लिखी है। इसके फलस्वरूप शूद्र बनाई गई जनता घोर दासता का दुःख भोगती थी। भारतीय इतिहास में केवल मौर्य साम्राज्य का काल ही वह काल था, जब चातुर्वर्ण ध्वस्त हो गया था, शूद्र और दास होश में आ गए थे और देश के शासक बन गए थे।

महाभारत और पुराण ब्राह्मण-क्षत्रियों के संघर्ष से पूर्ण हैं। कभी ब्राह्मण क्षत्रियों का विनाश करते पाए जाते हैं और कभी क्षत्रिय ब्राह्मणों का। यदि क्षत्रिय और ब्राह्मण गली में मिल जाएँ तो कौन किसको पहले प्रमाण करे या रास्ता छोड़ दे, ऐसी छोटी बातों पर भी लड़ पड़ते थे। क्षत्रिय और ब्राह्मण एक-दूसरे की आँख के काँटे थे। भागवत में स्पष्ट लिखा है कि कृष्ण का अवतार क्षत्रियों का विनाश करने के लिए हुआ था और ब्रह्म-हत्या निवारण के लिए ही राम को अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा था। इन सब बातों से सिद्ध हो जाता है कि चातुर्वण व्यवस्था आदर्श रूप में कभी सफल नहीं हुई।

जो लोग कहते हैं कि वर्ण भेद केवल श्रम विभाग का दूसरा नाम है और प्रत्येक सभ्य समाज के लिए श्रम विभाग आवश्यक है, वे इसकी गहराई को नहीं देखते। भारतीय वर्ण भेद केवल श्रम विभाग नहीं, वरन श्रमिकों का विभाग है तथा श्रमिकों को एक-दूसरे के ऊपर श्रेणीबद्ध करके रखा गया है। बेचारे श्रमिकों को स्वयं अच्छा व्यवसाय चुनने की छूट नहीं है। ऐसा किसी भी सभ्य समाज में नहीं है।

स्वेच्छा से व्यवसाय न चुन सकने का परिणाम यह होता है कि लोगों को अपने पैतृक कामों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इस अरुचि का कारण व्यवसायों पर लगा हुआ कलंक तथा इसे करने वालों के प्रति ऊँच-नीच की सामाजिक भावनाएँ होती हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि उस व्यवसाय की उन्नति नहीं होती।

वर्णभेद और प्रजनन विज्ञान

वर्णभेद के हिमायती कुछ लोग इसे रक्त की पवित्रता और वंश की विशुद्धि कायम रखने का साधन कहते हैं; किंतु डॉ. भंडारकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फॉरेन एलिमेन्ट्स इन द हिंदू पॉपुलेशन' (हिंदू लोगों में विदेशी तत्त्व) पुस्तक में तर्क और प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भारत में ऐसी कोई श्रेणी नहीं जिसमें विजातीय अंश न हो। लड़ाकू राजपूत और मराठों में ही नहीं, ब्राह्मणों में भी शुद्ध रक्त नहीं है। वर्णभेद वस्तुतः विभिन्न जातियों के रक्त और संस्कृति-सम्मिश्रण के बहुत पीछे बना। पंजाब और मद्रास के ब्राह्मणों अथवा बंगाल और मद्रास के अस्पृश्यों में ही एक वंश या एक ही रक्त नहीं है। वस्तुतः पंजाब के ब्राह्मण और पंजाब के चमार एवं मद्रास के ब्राह्मण और मद्रास के चमार में रक्त और वंश की एकता है। यदि विभिन्न वर्णों के लोगों में वर्णांतर विवाह होने दिया जाए, तो इससे हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक होगा। मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं है, क्योंकि विभिन्न वर्णों के विवाहों से संतान पैदा होती है, स्त्रियाँ बाँझ नहीं हो जातीं । थोड़ी देर के लिए यदि मान लिया जाए कि रक्त सम्मिश्रण की रुकावट सुप्रजनन या रक्त शुद्धि की दृष्टि से है, तो विभिन्न वर्णों के पारस्परिक सहयोग की रुकावट का उद्देश्य क्या है?

वर्ण भेद यदि सुप्रजनन शास्त्र के मौलिक सिद्धांतों के अनुसार होता, तो इस पर

अधिक आपत्तियाँ न होतीं, क्योंकि तब उसका उद्देश्य उत्तम संतान उत्पन्न कर नस्ल का सुधार करना होता। परंतु ऐसा है नहीं। वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता है। वर्ण भेद ने तो ऐसी नस्ल पैदा की जिसका न लंबा कद है, न बलिष्ठ शरीर। शारीरिक दृष्टि से हिंदू ठिगने ओर बौने लोगों की जाति है। एक ऐसी नस्ल, जिसका दसवाँ भाग सैनिक सेवा के योग्य है। ऐसी दशा में यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वर्ण व्यवस्था का आधार वैज्ञानिक सुप्रजनन शास्त्र है। यह तो एक ऐसी सामाजिक पद्धति है जिसमें इसके व्यवस्थापकों का घमंड और स्वार्थ भरा है। इन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी, जिससे ये ऐसी गर्हित व्यवस्था अपने से छोटों पर लाद सकें। इसने हिंदुओं को पूर्णतः असंगठित और नीति-भ्रष्ट बना दिया है।

हिंदू समाज एक काल्पनिक वस्तु

'हिंदू समाज' एक काल्पनिक वस्तु है। 'हिन्दू' नाम भी एक विदेशी नाम है। यहाँ के निवासियों को अपने से अलग पहचानने के लिए मुसलमानों ने यह नामकरण किया था। मुस्लिम आक्रमण के पूर्व के किसी भी संस्कृत ग्रंथ में 'हिंदू' शब्द नहीं मिलता। शायद उस समय सत्ताधारियों को ऐसे किसी नाम की आवश्यकता ही न थी, क्योंकि उन्हें इस बात की कल्पना ही न थी कि हम सब यहाँ के निवासी एक जाति, एक समाज या एक बिरादरी हैं। वस्तुतः भाईचारे के रूप में 'हिंदू समाज' का कोई अस्तित्व नहीं है—यह केवल वर्णों और उपवर्णों का संग्रह मात्र है। प्रत्येक वर्ण और उपवर्ण केवल अपने ही अस्तित्व का अनुभव करता है और उसे बनाए रखने के लिए वह प्रयत्नशील भी रहता है।

विभिन्न वर्ण-उपवर्ण या जाति-पाँति कोई संघ भी नहीं बनते, क्योंकि एक वर्ण कभी यह अनुभव नहीं करता कि वह दूसरे वर्णों के साथ संबद्ध है, सिवाय उस समय के जबकि हिंदू-मुस्लिम फसाद हो रहा हो। प्रत्येक वर्ण अपने ही भीतर खान-पान और ब्याह-शादी करता है और अपनी पृथकता का प्रकाश करने के लिए अपनी रस्मों और पहनावे में भी भिन्नता रखता है। वस्तुतः आदर्श हिंदू वहीं है जो चूहे की तरह अपने ही बिल में घुसा रहता है। यही कारण है कि यहाँ 'सामूहिक जाति चेतना' नहीं है। अतएव हिंदू एक समाज या एक राष्ट्र नहीं कहला सकते।

हिंदू एक आकारहीन ढेर हैं, इस बात को कुछ देशभक्त मानना नहीं चाहते। वे कहते हैं, इस बाहर से दिखाई देनेवाली भिन्नता के नीचे कोई मौलिक एकता है। वह मौलिक एकता क्या है? इसे लादी गई चीज के सिवाय कोई बता नहीं पाता। किसी संस्कृति के प्रसारक यदि सारे देश में फैल गए हों, तो उस प्रसारित संस्कृति से देश एक समाज नहीं बन सकता, जब तक कोई ऐसी चीज न हो, जिसमें सबका साझेदारी का अधिकार हो। देश में आदिम जातियों का एक समाज अवश्य है क्योंकि विविध आदिम जातियों के स्वभावों,

रीतियों, विश्वासों और विचारों में एकसदृश्यता और मौलिक एकता पाई जाती है। जब तक किसी कार्य में लोग साझीदार नहीं बन जाते और उस काम की सफलता या विफलता को अपनी निजी सफलता या विफलता नहीं समझते, तब तक लोग एक समाज नहीं हो सकते। वर्ण भेद इस साझेदारी को रोकता है, इसी कारण देश कभी एकीभूत जीवनवाला राष्ट्र नहीं बन सका।

आदिवासी और जाति भेद

देश में आदिवासियों की एक खासी संख्या है, जो मानव समाज से अलग असभ्य जंगली हालत में पाए जाते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो विवश हो 'जरायमपेशा' हो गए हैं। हिंदू डींगे मारते हैं कि उनके वेद में सारे विश्व को 'आर्य' बनाने का आदेश हैं, तो फिर अपने ही देश में रहने वाले इन आदिवासियों को उन्होंने अब तक सभ्य आर्य क्यों नहीं बनाया? क्या यह शर्म की बात नहीं है?

हिंदुओं ने इन आदिवासी मानवों को सभ्य बनाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया, इसका सही उत्तर यह है कि हिंदू वर्ण और जाति के अहंकार से ग्रसित हैं, इसलिए वह इनसे संपर्क स्थापित नहीं कर सकता। इन्हें सभ्य बनाने में उसे इनके बीच बसना, इनसे प्रेम व सहानुभूति पैदा करना एवं इन्हें अपनाना पड़ता। यह सब उनके लिए संभव न था, क्योंकि ऐसा करने में हिंदू में वर्ण और जाति की पवित्रता नष्ट हो जाती। इसलिए वह इनसे दूर रहा। हिंदुओं को यह कल्पना नहीं हुई कि यदि अहिंदुओं ने इन जातियों को सुधार कर इन्हें अपने धर्म का साझीदार बना लिया, तो ये बहुसंख्यक आदिवासी उनके शत्रुओं की संख्या बढ़ा देंगे और तब हिंदुओं को अपने जाति भेद और वर्ण भेद को ही धन्यवाद देना पड़ेगा।

केवल यही नहीं कि हिंदुओं ने इन जंगलियों को सभ्य बनाने का यत्न नहीं किया, ऊँचे वर्णवाले हिंदुओं ने अपने से नीचे वर्णवालों के सांस्कृतिक विकास को भी रोका है। महाराष्ट्र के सुनारों और पठारे प्रभुओं के साथ बलपूर्वक ऐसा किया गया। बेचारे सुनारों को शौक हुआ कि वे भी ब्राह्मणों की तरह चुनी धोती और त्रिपुंड धारण कर परस्पर 'नमस्कार' किया करें, तो उन्हें पेशावाओं ने दबाव डाल कर ऐसा करने से रोक दिया और पठारे प्रभु जब ब्राह्मणों की नकल कर विधवाओं को बिठलाने लगे (क्योंकि विधवा विवाह अनार्य प्रथा है, आर्य हिंदुओं में विधवा विवाह नहीं होता), तो उनको कानूनन रोका गया।

हिंदू लोग मुसलमानों और ईसाइयों की हमेशा निंदा किया करते हैं, किंतु ये दोनों धर्म मानवता के अधिक निकट पाए जाते हैं। ये गिरे हुओं को उठाते और ज्ञान का प्रकाश फैला कर लोगों की उन्नति का मार्ग खोलते हैं, जबकि हिंदुओं का जातीय राग-द्वेष दुर्बलों को सदा अज्ञानांधकार में रख कर उन्हें दासता का सबक सिखाने और उन्हें दलित, पीड़ित, प्रवंचित व शोषित करने में ही अपना परम पुरूषार्थ समझता है।

शुद्धि और संगठन

ईसाई मिशनरियों की देखा-देखी हिंदुओं में भी विधर्मियों की शुद्धि करके संख्या बढ़ाने का शौक पैदा हुआ। उन्होंने यह नहीं सोचा कि हिंदू धर्म मिशनरी (प्रचारक) धर्म नहीं है, अतः शुद्धि आंदोलन एक मूर्खता और व्यर्थ चेष्टा सिद्ध होगा।

वस्तुतः हिंदू समाज वर्णों और उपवर्णों (जातियों) का संग्रह मात्र होने से प्रत्येक वर्ण एक ऐसा संगठित संघ है, जिसमें बाहर से भीतर आने का द्वार बन्द है। हिंदू संस्कृति के अनुसार किसी जाति विशेष में जन्म लेनेवाला ही उस जाति का सदस्य माना जा सकता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे धर्म में जाता है, तो उसके सामने केवल सिद्धान्तों और दर्शनों को ही दिमाग में ठूँस लेने का प्रश्न नहीं होता, वह यह भी देखता है कि उस समाज में प्रवेश करने पर उसका स्थान क्या होगा, वह कहाँ रखा जाएगा, किस बिरादरी में उसे जगह मिलेगी, किन लोगों में उसके बच्चों के ब्याह होंगे इत्यादि। हिन्दुओं का जाति भेद इन प्रश्नों का उत्तर देने में विमूढ़ है।

जिन कारणों से शुद्धि संभव नहीं है, प्रायः उन्हीं कारणों से संगठन भी असंभव है। जातिवाद होने से हिंदू शारीरिक शक्ति रखते हुए भी भीरु, कायर, दब्बू और अकेला है। उसे विश्वास नहीं है कि संकट पड़ने पर दूसरी जाति का हिंदू उसकी सहायता करेगा। मुसलमानों और सिखों की तरह वह किसी संकटग्रस्त को अपने घर में छिपा कर रोटी नहीं खिला सकता, न विभिन्न जातियों के हिंदू एक परिवार की तरह संगठित होकर एक घर में रह सकते हैं। यही कारण है कि जब एक हिंदू पिटता या लुटता है, तो दूसरा उसे बचाने के लिए अपनी जान जोखिम में डालने की हिम्मत नहीं करता। किसी हिंदू लड़की का अपहरण हो जाने पर हिंदू उसे वापस लाने में इसलिए उदासीन रहता है कि उसकी शादी कहाँ करेगा? बिरादरी में तो उसे कोई अच्छा घर-वर मिलेगा नहीं।

वर्ण भेद और जाति भेद से ग्रस्त होने के कारण हिंदू समझता है कि भाग्य ने उसे अकेला पैदा किया है। हिंदू के रहन-सहन, खान-पान ओर पूजा-उपासना में कोई ऐसी बात नहीं है, जो उसे मुसलमानों और सिखों की तरह एकनिष्ठ करके परस्पर सहानुभूति उत्पन्न करे, न ऐसा कोई सामाजिक बंधन है जिससे एक हिंदू दूसरे हिंदू को अपना भाई समझे। इसीलिए हिंदू संगठित भी नहीं हो पाता।

जाति भेद और सदाचार

वर्णवाद और जातिवाद ने इस देश में मानवी सदाचार का भी संहार कर दिया है, जो अत्यंत खेदजनक है। मानवीय सदाचार का अर्थ है सार्वजनिक सद्‌गुण और सार्वजनिक सदाचार। मनुष्यों के केवल दो विभाग किए जा सकते हैं: अच्छे और बुरे, ज्ञानी और अज्ञानी, धर्मात्मा और धर्महीन, विद्वान और मूर्ख । किंतु वर्ण और जाति की भावना ने

हिंदुओं की दृष्टि को ऐसी संकुचित बना दिया है कि अन्य मनुष्य कितना ही सद्‌गुणी और सदाचारी क्यों न हो, यदि वह किसी वर्ण-विशेष या जाति-विशेष का व्यक्ति नहीं है, तो उसकी कोई सुनेगा ही नहीं। एक ब्राह्मण किसी अब्राह्मण को अपना नेता और गुरू नहीं मानेगा। इसी तरह कायस्थ कायस्थ को और बनिया बनिए को ही अपना नेता मानेगा। वर्ण और जाति का विचार छोड़ कर मनुष्यों के सद्‌गुणों की कद्र वह नहीं करेगा। यहाँ मानवीय सदाचार 'कबायली सदाचार' बन गया है। सद्‌गुण और सदाचार की प्रधानता नहीं है, वर्ण और जाति की प्रधानता है।

मेरा आदर्श समाज

आप पूछ सकते हैं, यदि आप वर्ण और जाति नहीं चाहते, तो आपका आदर्श समाज क्या है? मैं कहूँगा, एक ऐसा समाज, जिसमें न्याय, बन्धुता, समता और स्वतंत्रता हो। मैं समझता हूँ, किसी भी विचारवान को इससे इन्कार न होना चाहिए। बन्धुता का अर्थ यह है कि देश में उत्पन्न सभी व्यक्ति परस्पर भाई-भाई हैं और सभी का पिता की संपत्ति की भाँति देश की संपत्ति पर समान अधिकार है। जीवन के लिए आवश्यक भोजन, वसन, औषधि और शिक्षा के लिए सभी बराबर के हकदार हैं। इसी का नाम बन्धुता या भाईचारा है। इसका दूसरा नाम है जनतंत्र या लोकतंत्र।

'समता' शब्द पर फ्रांसीसी राज्य क्रांति के समय बहुत विवाद हुआ, क्योंकि सब मनुष्य समान नहीं होते। कोई प्रतिभाशाली है, कोई जड़-बुद्धि; कोई कलाकार है, कोई लंठ; कोई बलिष्ठ है, कोई दुर्बल; कोई वीर है, कोई भीरु; कोई पुरूषार्था है; कोई आलसी; कोई कर्मिष्ठ है और कोई आरामतलब ; कोई सर्वांग-सुन्दर है और कोई कुरूप इत्यादि। प्राकृतिक असमानता के कारण व्यवहार में भी असमानता न्यायसंगत है। किंतु प्रत्येक व्यक्ति को, उसके अन्दर निहित शक्ति के पूर्ण विकास में, समान भाव से प्रोत्साहन और सुविधा मिलना आवश्यक है। इसमें जाति, वंश, खानदान, पारिवारिक ख्याति, सामाजिक संबंध इत्यादि बातें बाधक नहीं होनी चाहिए। जनतंत्र में वोट सबके समान होते हैं, वोटों का वर्गीकरण नहीं होता। अतः सबके उन्नति के अधिकार और व्यवहार में भी समता होना अनिवार्यतः आवश्यक है।

स्वतंत्रता समय की माँग और युग-धर्म है। जैसे उठने-बैठने, चलने-फिरने, हिलने-डुलने, सोने-जागने की स्वतंत्रता सभी को प्राप्त है, उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने और आचरण करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। दूसरों की इच्छानुसार जीविका अर्जन करने और अपने जीवन का कर्तव्य स्थिर करने की विवशता होना तो दासता है। वर्ण विधान अर्थात कल्पित वर्णों के अनुसार कर्मों की व्यवस्था तो एक वैधानिक 'दास प्रथा' मात्र है। खान-पान, रहन-सहन, धर्माचरण, चिंतन-भाषण, लेखन-

मुद्रण इत्यादि की स्वतंत्रता सभी को होनी चाहिए।

इस प्रकार न्याय, बन्धुता, समता और स्वतंत्रता से युक्त समाज ही मेरा आदर्श समाज है।

अहिंदुओं की जात-पाँत

जाति भेद की बात चलने पर कुछ लोग सिखों, मुसलमानों और ईसाइयों के अंदर जात-पाँत का नाम ले कर संतोष की साँस लेते हैं। इन लोगों से मेरा निवेदन है कि अहिंदुओं की जात पाँत में हिंदुओं की जाति-पाँति से मौलिक भिन्नता है। हिंदुओं में कोई ऐसी संयोजन शक्ति नहीं है जो वर्ण भेद से उत्पन्न होने वाली भिन्नता का इलाज हो, जबकि अहिंदुओं में सबको एकत्र रखने वाले अनेक बंधन हैं एवं जातियों का उनके यहाँ उतना महत्व नहीं है। आपके यह पूछने पर कि तुम कौन हो, जब कोई अहिंदू कहता है कि वह मुसलमान या ईसाई है, तो आप उसके उत्तर से संतुष्ट हो जाते हैं, उससे यह नहीं पूछते कि मुसलमानों में तुम शेख, सैयद, जुलाहा-कौन हो? परंतु जब कोई मनुष्य कहता है कि वह हिंदू है, तो इतने से आपको संतोष नहीं होता और आपको उसकी जाति पूछने की आवश्यकता रहती है, क्योंकि हिंदू होने की दशा में जाति इतनी आवश्यक है कि उसके जाने बिना आप यह स्थिर नहीं कर सकते कि आपको उसके साथ किस तरह बरतना चाहिए।

दूसरी बात यह कि मुसलमानों, सिखों और ईसाइयों में जात-पाँत का कोई सामाजिक महत्व न होने के कारण वे जाति तोड़नेवाले का बहिष्कार नहीं करते; परंतु हिंदू अपनी जाति तोड़ने पर बहिष्कृत हो जाता है। इससे हिंदुओं और अहिदुओं की जात-पाँत के महत्त्व का अंतर साफ समझ में आ जाता है।

तीसरी बात यह है कि हिंदुओं का जाति भेद उनके धर्म का अंग है। व्यास आसन पर बैठ कर कथा केवल ब्राह्मण ही बाँच सकता है, कायस्थ या कलवार नहीं बाँच सकता, चाहे कितना ही विद्वान क्यों न हो। अहिंदुओं की जातियाँ उनके धर्म का अंग नहीं। धर्म हिंदुओं को बाध्य करता है कि वे जातियों की पृथकता को सद्गुण और सदाचार समझें। अहिदुओं को ऐसा समझने के लिए धर्म बाध्य नहीं करता। हिंदू यदि अपनी जाति को तोड़ना चाहे, तो धर्म रास्ते में खड़ा हो जाता है, अहिंदुओं में धर्म बाधक नहीं। अतएव अहिदुओं में जात-पाँत देखकर हिन्दुओं को संतोष की साँस नहीं लेनी चाहिए।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मानते ही नहीं कि वर्ण भेद से हिंदुओं की हानि हुई। ये लोग केवल इस बात से सांत्वना पा रहे हैं कि हिंदू अभी तक जीवित हैं, मिट नहीं गए। डॉ. राधाकृष्णन ने भी अपनी पुस्तक 'हिंदू व्यू ऑफ लाइफ' में इसी मत का समर्थन किया है। किंतु मेरा निवेदन है, क्या अब तक जीता रहना भविष्य में भी जीवित रहने का प्रमाण है? प्रश्न यह है कि आप किस अवस्था में जीते हैं? केवल जीने और उपयुक्त रीति से जीने में

बड़ा अन्तर है। समाज में लड़ कर विजय-कीर्ति के साथ जीना एक प्रकार का जीना है और रण में पीठ दिखा कर अधीनता स्वीकार कर जीना दूसरे प्रकार का जीना है। इतिहास साक्षी है कि हिंदू जीवन निरंतर पराजय का जीवन रहा है। यह बच कर जीवित रहना तो ऐसा है, जिसके लिए प्रत्येक विचारवान हिंदू को, जो सत्य को स्वीकार करने से नहीं डरता, लज्जा और शर्म का अनुभव करना चाहिए।

जाति भेद मिट कैसे सकता है?

अब प्रश्न यह है कि जाति भेद या वर्ण भेद कैसे मिट सकता है? हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था दूषित है, उसका सुधार आवश्यक है। कुछ सुधारकों का मत है कि उपजातियों को, जो हजारों की संख्या में हैं, घटा कर चार वर्णों में कर देना चाहिए । इनका ख़याल है कि जिन उपजातियों के रस्म-रिवाज जिस वर्ण या प्रमुख जाति से मिलते हों, उनको उसमें मिला देना आसान तरीका है। मेरी समझ में यह कल्पना ही गलत है। क्योंकि पहले तो प्रमुख वर्णों में ही सदृशता नहीं है। जैसे कि उत्तरी और मध्य भारत के ब्राह्मण अधिकतर 'रसोइए' और 'पानी पांडे' तथा कश्मीर और बंगाल के ब्राह्मण प्रायः मांसाहारी हैं, इनकी अपेक्षा बंबई और मद्रास के ब्राह्मणों का खान-पान और सामाजिक स्थिति बहुत ऊँची है। इनका यह भेद कैसे मिटेगा? इसी तरह उत्तर भारत, बिहार और बंगाल के कायस्थ योग्यता में दक्षिण भारत के ब्राह्मणों के समकक्ष हैं तथा निरामिषता की दृष्टि से गुजराती, मारवाड़ी और जैनी दक्षिणी ब्राह्मणों के समतुल्य हैं। ऐसी दशा में किसको किस वर्ण में ठूंसा जाएगा? फिर, आधुनिक समाज के इंजीनियर, डॉक्टर, प्रोफेसर, लेक्चरर, शायर, एडिटर, लेखक, कलाकार, टेकनीशियन, वैज्ञानिक इत्यादि- जिनमें सभी उपजातियों के लोग हैं- इन सबको किस वर्ण में घुसेड़ा जाएगा? क्षण भर के लिए मान भी लिया जाए कि हजारों उपजातियाँ चार वर्णों में ठूँस दी गईं,तब भी चार का जाति भेद बना रहा और यह प्रमुख जाति भेद प्रबल होकर क्या और अधिक अनिष्टकारी न हो जाएगा? फिर, उपजातियोंके टूटने के साथ ही क्या इनके द्वारा होनेवाले सामाजिक काम बन्द हो जाएँगे? इसीलिए यह खयाल गलत ही नहीं, असंभव भी है।

कुछ लोगों का मत है कि अन्तरजातीय सहभोज होने चाहिए। इससे जाति भेद मिटेगा। मेरे विचार में यह उपाय भी अपर्याप्त है, क्योंकि सहभोज अर्से से हो रहे हैं। इसका जाति भेद मिटने पर कोई असर नहीं हुआ।

मेरे विचार में जाति भेद मिटाने का वास्तविक उपाय अन्तरजातीय और अंतर-वर्णीय विवाह हो सकते हैं। केवल रक्त-मिश्रण ही स्वजन, आत्मीय और मित्र होने का भाव पैदा कर सकता है। जब तक यह आत्मीयता, बन्धुता और मित्रता का भाव प्रधान नहीं होता, तब तक जाति भेद द्वारा उत्पन्न किया हुआ अमित्रता का दुर्भाव दूर नहीं होगा। जाति भेद मिटा

कर हिंदुओं के सामाजिक जीवन को तेजस्वी बनाने का यही एक सही उपाय है।

इस दृष्टि से लाहौर के जात-पाँत तोड़क मंडल का कार्य सराहनीय है। यह सही और सीधा रास्ता है। जाति भेद के रोग का सही निदान ढूँढ लेने के लिए मंडल धन्यवाद का पात्र है। परन्तु क्या कारण है कि हिंदुओं की बड़ी संख्या इस आंदोलन के साथ सहयोग नहीं कर रही है।

हिंदू इसलिए जाति भेद तोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि उसे अपना धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा है। वस्तुतः जाति भेद बनाए रखने में लोगों की उतनी अधिक भूल नहीं है, जितनी हिन्दू धर्मशास्त्रों की। हिन्दू धर्मशास्त्र जाति भेद का समर्थन करते हैं, वर्ण संकरता को पितरों को नरक में ढकेलने वाली कुल-घातिनी कहते हैं अतएवं यह कहना गलत नहीं है कि वर्ण भेद और जाति भेद की रक्षा के लिए ही हिंदू-शास्त्रों की रचना हुई है।

जो सुधारक अस्पृश्यता मिटाने का यत्न कर रहे हैं, जिनमें महात्मा गाँधी भी शामिल हैं, वे इस बात को नहीं समझ पाते कि लोगों के आचरण का मूलाधार धर्मशास्त्र हैं। जाति भेद, वर्ण भेद, अधिकार भेद, अस्पृश्यता इत्यादि बुराइयों को मिटाने का मौलिक उपाय हिंदू शास्त्रों का विरोध और उनके विरुद्ध घृणा का प्रचार करना है। व्याकरण और तर्क द्वारा शास्त्रों का अर्थ बदलना उपयुक्त नहीं। हमें यह कहने का साहस होना चाहिए कि सारी खराबी की जड़ हिंदू धर्म ग्रंथ हैं, जिन्होंने जाति भेद और वर्ण भेद की पवित्रता का प्रचार किया।

हिंदू रोम-रोम शास्त्रों से बँधा है

वर्णाश्रम हिंदू धर्म की रीढ़ होने के कारण वर्णों और जातियों के कर्मों, अधिकारों और भोगों की अलग-अलग व्यवस्था ही हिंदू शास्त्रों का उद्देश्य है तथा एक हिंदू,जिसे धार्मिक होने का अभिमान है, शास्त्रों से ऐसा बँधा है कि वह उनके विरुद्ध कुछ भी सोचने और करने को स्वतंत्र नहीं है। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए वेद ही प्रमाण है। श्रुति वेद हैं और धर्मशास्त्र स्मृतियाँ। ये दोनों संपूर्ण अर्थों में निर्विवाद हैं और इन्हीं से धर्म का प्रकाश हुआ है। मनु का स्पष्ट आदेश है --

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयात् द्विजः
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः ।

जो द्विज (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) इन धर्म-मूलों का कुतर्क से अपमान करे, उसका सज्जन पुरूषों को बहिष्कार कर देना चाहिए, क्योंकि वेद निंदक नास्तिक होता है।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभो स्मृतौ।

यदि कहीं पर दो श्रुतियों में अन्तर हो, तो दोनों को प्रमाण मान कर किसी एक का पालन करना चाहिए।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च कश्चि कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि तः स्मृताः।

यदि श्रुति और स्मृति में परस्पर विरोध हो, तो श्रुति को प्रमाण मानना चाहिए। यह कुतर्क न करना चाहिए कि इन दोनों में ठीक कौन है। वशिष्ठ कहते हैं-

वेदायत्वोपनिबंधृत्वत् प्रामाणगं हि मनोःस्मृतं ।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।

यदि कहीं स्मृतियों में परस्पर विरोध हो, तो वहाँ मनुस्मति को प्रमाण मानना चाहिए। मनु के अर्थ के विरुद्ध कोई स्मृति मान्य नहीं हैं।

धर्म क्या है, इसके लिए मनु का स्पष्ट आदेश है-

वेदः स्मृतः सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः
एतच्चतुर्विषं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ।

वेद, स्मृति, सदाचार तथा जिससे अपना संतोष हो, यह चार प्रकार का साक्षात धर्म का लक्षण कहा गया है।

मतलब यह है कि हिंदू धर्म का निर्णय वेद और शास्त्र में है, उसके आगे या उससे भिन्न सोचना वेद-शास्त्र का अपमान और निंदा करना है। ऐसे कुतर्की निंदक का समाज से बहिष्कार कर देना चाहिए। यदि दो श्रुतियों में कहीं पर अंतर पाया जाए, तो दोनों को ठीक मान कर किसी एक का पालन करना चाहिए और यदि श्रुति और स्मृति में अंतर हो, तो कुतर्क न कर श्रुति के आदेश को मान लेना चाहिए। वृहस्पति कहते हैं, यदि दो स्मृतियों में परस्पर विरोध हो, तो यहाँ मनु को मानना चाहिए, क्योंकि मनु के अर्थ के विरूद्ध कोई स्मृति मान्य नहीं है। यदि कोई ऐसा मसला हो, जिसके लिए श्रुति और स्मृति– दोनों में कोई स्पष्ट आदेश न मिलता हो, तो सदाचार से उसका निर्णय करना चाहिए या फिर अपने को जो प्यारा लगे या जिससे अपना संतोष हो, उसे मानना चाहिए।

श्रुति और स्मृति के आदेश तो उन ग्रंथों में मौजूद ही हैं, सदाचार किसे कहते हैं, यह समझना शेष है। सदाचार को समझने में कहीं लोग शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन न कर बैठें, इसलिए मनु ने सदाचार की भी परिभाषा कर दी है-

यस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः
वर्णानाँ किल सर्वेषां स सदाचार उच्यते।

जिस देश में (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-वर्णशंकर शूद्रादि) सभी वर्णों का परंपरा क्रम से जो आधार चला आ रहा है, शास्त्र उसी को सदाचार (सदा का आचार) कहते हैं।

'सदाचार' का अर्थ यह नहीं है कि 'अच्छा आचरण' या 'अच्छे पुरुषों का आचरण'।

'आत्मा को प्यारा' तो वही होगा, जिससे राहत और आराम मिले! लेकिन मनु ने सदाचार उसे कहा है जो परंपरा से समर्थित है।

इन धर्मादेशों में कहीं भी हिंदू को स्वतंत्र चिंतन की गुंजाइश नहीं है। स्वतंत्र भाव से सोचने-विचारने वाला नास्तिक और समाज-बहिष्कृत करने योग्य है। कुछ समस्याएँ ऐसी आ जाती हैं, जैसे कि रेल या जहाज की यात्रा, अनार्य देशों या विदेशों में गमन और निवास तथा शूद्र, अति शूद्र अनार्यों के साथ सहभोज, सो शास्त्रों में इनकी 'आपद्धर्म' संज्ञा है और इनके लिए 'प्रायश्चित' का विधान है।

इस तरह शास्त्रों में रोम-रोम बँधे हुए बेचारे हिंदू को जाति भेद विनाश की हिम्मत कहाँ से हो सकती है, जब तक उसे उन शास्त्रों से ही घृणा न हो आए, जो जाति भेद के समर्थक हैं। शास्त्रों का अर्थ बदल कर जनता को धोखा देना व्यर्थ है।

जाति भेद क्यों नहीं मिट सकता?

मेरी समझ में हिंदू समाज से जाति भेद मिटना इस कारण भी असम्भव है क्योंकि ब्राह्मणों ने इस आन्दोलन के विरुद्ध शत्रुता का भाव दिखाया है। ब्राह्मण राजनीति के और कुछ-कुछ आर्थिक सुधार के नेता तो बने हुए हैं, परंतु वे जाति भेद मिटाने के नाम से भी चिढ़ते हैं। यह बात नहीं कि ब्राह्मण इस बात को समझते न हों कि जाति भेद राष्ट्रीयता-विघाती एवं सारी बुराइयों की जड़ है, परन्तु वे इसे मिटाना इसलिए नहीं चाहते क्योंकि इसके मिटने से उनका हजारों वर्षों से चला आ रहा सामाजिक प्रभुत्व मिट जाएगा।

आप जानते हैं, ब्राह्मण दो तरह के हैं; एक याचक जो यजमानों की पुरोहिताई, पूजा-पाठ और कर्म-कांड कराते हैं, दूसरे लौकिक जिनकी जीविका ब्राह्मणी वृत्ति से नहीं है। किंतु याचक और लौकिक दोनों एक ही शरीर की दो भुजाएँ हैं। दो में से कोई भी इस आंदोलन का अगुआ बन कर ब्राह्मण जाति की शक्ति और विशेषाधिकार को हानि पहुँचाना नहीं चाहता।

प्रोफेसर डाइसी ने अपने पुस्तक 'इंगलिश कांस्टिट्यूशन' में इस बात का तात्त्विक विवेचन करते हुए स्पष्ट कह दिया है कि 'क्रांतिकारी मनुष्य वैसा नहीं होता जो पोप बनता है, और जो पोप बनता है, वह कभी सामाजिक क्रांति की इच्छा नहीं करता।' ठीक यही बात ब्राह्मणों पर लागू है जो मनुष्य ब्राह्मण के घर जन्म लेता है और जिसे ब्राह्मण होने का गर्व है, उसे सामाजिक क्रांतिकारी बनने की इच्छा नहीं हो सकती। ब्राह्मणों से सामाजिक क्रांति की आशा करना, लेजली स्टीफन के शब्दों में, उतना ही व्यर्थ है जितना ब्रिटिश पार्लियामेंट से सभी नीली आँखोंवाले बच्चों को मार डालने का कानून पास कराने की आशा करना।

आप में से यदि कोई यह कहे कि जाति भेद मिटाने के आंदोलन में ब्राह्मण आगे आएँ, न आएँ, इसकी क्या परवाह है, तो मेरी समझ में ऐसी धारणा उस महत्व से आँखें

बंद कर लेना है जो किसी समाज में बुद्धिजीवी श्रेणी को प्राप्त होता है। प्रत्येक देश में बौद्धिक श्रेणी ही नेतृत्व करती है, चाहे वह शासक न भी हो। साधारण जनता बुद्धिजीवी लोगों के पीछे चलती है और उनका अनुकरण करती है। बुद्धिमान मनुष्य धर्मात्मा हो सकता है और दुरात्मा भी आसानी से हो सकता है। बुद्धिजीवी श्रेणी महापुरुषों के ज्ञान की प्रसारक भी हो सकती है और बड़ी आसानी से दुष्टों का दल अथवा भोगैश्वर्य में प्रसक्त व्यक्तियों से वृत्ति पानेवाले चाटुकारों का जत्था भी।

भारत में ब्राह्मण जाति ही यहाँ की बौद्धिक श्रेणी है। किन्तु यहाँ की बौद्धिक श्रेणी 'ब्राह्मण जाति के हितों की रक्षा करना' अपना प्रथम कर्त्तव्य समझती है और देश के हितों की रक्षा करना अन्तिम कर्त्तव्य। ब्राह्मण जाति हिंदुओं की बौद्धिक श्रेणी ही नहीं, वरन एक ऐसी श्रेणी है जिसे शेष हिंदू सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। हिन्दू शास्त्रों का आदेश है कि 'ब्राह्मण सब वर्णों का गुरू है' (वर्णानां ब्राह्मणो गुरू:) । मनु ने तो यहाँ तक लिखा है-

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति-चेदभवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयु: स धर्म: स्यादशंकित:।

अर्थात धर्म की जिन बातों का शास्त्रों में विधान नहीं है, उनके संबंध में शिष्ट ब्राह्मण जो कहें, नि:संदेह वही धर्म है।

ऐसी बौद्धिक श्रेणी, जिसकी मुट्ठी में सारा समाज है, यदि जाति विनाशी आंदोलन में सहयोग नहीं करती, तो उसकी सफलता की संभावना बहुत कम है।

हिन्दुओं में जाति भेद के दो रूप हैं: एक रूप में तो वह जनता को अलग करता है और दूसरे रूप में उन सब जातियों को एक-दूसरी पर क्रमबद्ध (चढ़ा-उतार) रूप में रखता है। इस क्रमविन्यास की बाहरी पहचान उनके धार्मिक और सामाजिक अधिकार हैं। इन अधिकारों का नाम 'संस्कार' है। जिस जाति का पद जितना ऊँचा है, उसके संस्कारों की संख्या भी उतनी ही अधिक है। और जिस जाति का पद जितना नीचा है, उसके संस्कारों की संख्या भी उतनी ही कम है। यही नीच-ऊँच का भाव उन्हें जाति भेद के विरुद्ध संगठित नहीं होने देता। यदि कोई जाति अपने से ऊँची जाति के साथ रोटी-बेटी का संबंध स्थापित करना चाहती है, तो धूर्त लोग उसे यह कह कर निरस्त कर देते हैं कि तुम्हें भी अपने से छोटी जाति के साथ रोटी-बेटी का संबंध करना पड़ेगा।

जाति भेद के सभी दास हैं। किंतु सभी दासों का दुख एक समान नहीं। जिस तरह आर्थिक क्रांति के लिए कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को समझाया था कि 'इस क्रांति से तुम्हारी हथकड़ियाँ कट जाने के सिवाय तुम्हारी और कोई हानि नहीं होगी,' ऐसा कोई नारा या युद्ध-नाद हिंदुओं को जाति भेद के विरुद्ध उत्तेजित करने के लिए नहीं है। जाति भेद तो एक राज्य के भीतर दूसरा राज्य है। इसके मिटने से कुछ जातियों के अधिकार और प्रभुता

की अधिक हानि होगी और कुछ की कम। इसलिए जाति भेद के किले को मिसमार करने के लिए सेना में सब हिंदुओं के भरती होने की आशा आप नहीं कर सकते।

सुधार का पहला कदमः पुरोहितशाही पर नियंत्रण

मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ कि मानव समाज के लिए धर्म की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में महान विचारक बर्क के इस कथन का मैं समर्थन करता हूँ कि सच्चा धर्म समाज की बुनियाद होता है, जिसके आधार पर सच्ची हुकूमतें बनती हैं तथा जनता एवं सरकार दोनों फूलती-फलती हैं। मेरे विचार में, प्रचलित पुराने हिंदू विचारों के स्थान पर सुविचारित कल्याणकारी सिद्धांतों को धर्म के रूप में प्रचलित करना चाहिए। हिंदू जनता को जाति भेद की बुराई से मुक्त करने की दिशा में पहला कदम यह उठना चाहिए कि पुरोहितशाही पर नियंत्रण हो। इस नियंत्रण के लिए आवश्यक है कि-

(१) अनेक पुस्तकों को छोड़ कर केवल एक धर्म-ग्रंथ रखा जाए जो सभी हिंदुओं को मान्य हो। उसके सिवाय जो लोग अन्य पुस्तकों में लिखित विरुद्ध सिद्धांतों को 'धर्म-सिद्धांत' बना कर प्रचार करें, उन्हें दंडनीय ठहराया जाए।

(२) अच्छा हो कि हिंदुओं की पुरानी पुरोहितशाही को खत्म कर दिया जाए: उसके स्थान पर प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जो अपने को हिंदू कहता हो, पुरोहित बनने का अधिकार दिया जाए। यह कानून बन जाना चाहिए कि कोई हिंदू तब तक पुरोहित न बन सकेगा, जब तक वह राज्य द्वारा निर्धारित परीक्षा पास नहीं कर लेगा और जब तक उसके पास राज्य से प्राप्त पुरोहित का काम करने की सनद न हो।

(३) जिस पुरोहित के पास सनद न हो, उसके द्वारा कराया हुआ कोई संस्कार वैध न समझा जाए और सनद के बिना पुरोहित का काम करने वाले व्यक्ति को दंडनीय ठहराया जाए।

(४) पुरोहित भी लोक सेवकों की भाँति राज्य का नौकर हो, उसे राज्य से वेतन मिले और दूसरे नागारिकों के साथ देश के साधारण राज-नियम के अधीन होने के अतिरिक्त वह अपने आचार, विश्वास और पूजा-पाठ के विषयों में राज्य-नियंत्रण के अधीन हो।

(५) आई.सी.एस. की तरह पुरोहितों की संख्या भी राज्य की आवश्यकता के अनुसार राज नियम द्वारा सीमित होनी चाहिए।

कुछ लोगों को शायद ऐसी व्यवस्था विचित्र मालूम हो, किंतु इसमें क्रांतिकारी कुछ भी नहीं है। पुरोहिती एक व्यवसाय मात्र है और किसी व्यवसाय का नियंत्रित होना उसकी उन्नति का द्योतक है। भारत में अनेक व्यवसाय नियंत्रित हैं। इंजीनियरों, डॉक्टरों, वकीलों आदि सभी को पहले अपने व्यवसायों में दक्षता प्राप्त करनी होती है, तब कहीं उन्हें अपने पेशों में प्रैक्टिस करने की इजाजत मिलती है। यही नहीं, इन्हें अपने कार्य-काल में केवल

कानूनी पाबंदी ही नहीं, वरन अपने व्यवसायों के लिए निर्धारित सदाचार का पालन भी करना पड़ता है। किंतु हिंदू पुरोहित परम स्वतंत्र है। उस पर कोई पाबंदी नहीं है। वह मूर्ख, प्रमेह, उपदंश आदि घृणित रोगों से पीड़ित, सदाचारहीन, नशेबाज और जुआरी ही क्यों न हो, परंतु वह पवित्र संस्कार कराने, देवताओं के पवित्र स्थानों में प्रवेश करके देव-पूजा करने योग्य समझा जाता है। हिंदू के यहाँ इन बातों का कोई विचार नहीं, केवल ब्राह्मण के घर में जन्म लेना काफी है। वह किसी राज-नियम या समाज-नियम के अधीन नहीं, केवल अपने अधिकार और प्रभुता को जानता है। यह तरीका समाज के लिए हानिकारक है। पुरोहित व्यवसाय को कानून के द्वारा नियंत्रण में लाना आवश्यक है। इस व्यवसाय पर एक जाति विशेष का अधिकार होना उचित नहीं है। इस व्यवसाय के द्वार सबके लिए खुले होना चाहिए। इसे जनतांत्रिक होना चाहिए। ऐसा होने से जातिवाद और जाति भेद खत्म करने में सहायता मिलेगी। जाति भेद का मूलाधार ब्राह्मणवाद के सिवाय और कुछ नहीं। गुण-कर्मवादी आर्य समाज को इस क्षेत्र में आगे आना चाहिए, क्योंकि जाति व्यवस्था गुण-कर्म के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

हिंदू धर्म का युगानुरूप कोई सैद्धांतिक आधार होना आवश्यक है और वह आधार समता, स्वतंत्रता और बन्धुता जैसे लोकमान्य जनतंत्र के अनुरूप हो। इसके लिए सारी सामग्री उपनिषदों में मौजूद है। उपनिषदों के एकात्मवादी विचार के आधार पर व्यवस्था बनाई जा सकती है। इस सुधार का अर्थ होगा जीवन की मौलिक भावना में परिवर्तन तथा एक नवजीवन में प्रवेश। किंतु यह जीवन नवीन शरीर में प्रवेश करे, इसके लिए पुराने शरीर का मर जाना आवश्यक होगा।

हिंदुओं के लिए कुछ विचारणीय प्रश्न

मैंने आपका बहुत अधिक समय ले लिया। अब मैं अपना भाषण समाप्त करना चाहता हूँ। हिंदुओं के संबंध में, हिंदू जनता के सामने, शायद यह मेरा अंतिम भाषण है। इसलिए समाप्त करने से पहले यदि आप मुझे अनुमति दें, तो मैं कुछ प्रश्न उपस्थित करूँ, जिन पर, मेरा ख़याल है, हिंदुओं को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। वे प्रश्न ये हैं--

(१) हिंदुओं को यह सोचना चाहिए कि क्या उन्हें केवल इतना समझ कर ही संतोष कर लेना है कि संसार की भिन्न-भिन्न जातियों के लोगों के विश्वासों, स्वभावों, नैतिकता और जीवन के ध्येय में भिन्नता है या यह मालूम करने का प्रयत्न करना आवश्यक है कि किस प्रकार का नैतिक चरित्र, विश्वास, स्वभाव और जीवन का ध्येय समाज को फूलने-फलने, मजबूत बनाने, पृथ्वी को बसाने और सुराज्य-स्थापन करने की शक्ति रखता है और किस प्रकार का नहीं।

(२) हिंदुओं को सोचना चाहिए कि क्या उन्हें अपने समस्त पैतृक सामाजिक धर्म

और भावनाओं का उत्तराधिकार अपनी भावी संतति को सुरक्षित रखने के लिए देना ठीक है अथवा उसमें जो उपयोगी है, केवल उतना ही देना आगे उचित है।

(३) हिंदुओं को सोचना चाहिए कि क्या उन्हें अपने अतीत काल के समस्त आदर्शों की पूजा आँख बंद करके करते रहना लाभदायक है अथवा उनकी पूजा बंद कर वर्तमान युग में जो उत्तम, उपयोगी एवं उन्नति के शिखर पर ले जाने वाले आदर्श हैं, उनकी पूजा करना हितकारी है।

(४) हिंदुओं को सोचना चाहिए कि क्या अभी तक उनके लिए यह स्वीकार करने का समय नहीं आया है कि कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, कोई भी वस्तु अपरिवर्तनीय नहीं है, कोई भी वस्तु सनातन नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक वस्तु बदल रही है, अतएव परिवर्तन ही व्यक्ति और समाज के जीवन का नियम है। संसार की बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल जो व्यक्ति या समाज अपने जीवन में परिवर्तन नहीं लाता, वह संसार के समुन्नत समाज के समक्ष सिर ऊँचा करके जीवित नहीं रह सकता।

मेरी धारणा है, इन प्रश्नों के सही हल पर आरूढ़ होना कल्याणकारी सिद्ध होगा।

उपसंहार

मैं समझता हूँ, मेरा यह भाषण बहुत लंबा हो गया है। किन्तु जाति भेद की विषम समस्या पर जितनी बातें मुझे कहनी थीं, उन्हें कह देना भी आवश्यक था।

भारत में जाति भेद मूलतः हिंदुओं के भीतर से निकली हुई वह गंदगी है जिसने सारे देश के वायुमंडल को विषाक्त बना दिया है। और यह विष सिख, मुसलमान, ईसाई आदि अहिन्दू लोगों में भी फैला पाया जाता है। अतएव, लाहौर के जात-पाँत तोड़क मंडल को केवल हिन्दुओं का ही नहीं, सिख, मुसलमान, ईसाई आदि सभी का समर्थन मिलना चाहिए। मंडल का काम राष्ट्र की एक महान सेवा है और मंडल का यह प्रयत्न स्वराज्य के लिए किए गए प्रयत्नों से कहीं अधिक कठिन है, क्योंकि स्वराज्य संग्राम जब आप लड़ते हैं तो सारा राष्ट्र आपके साथ होता है, किन्तु इस जाति भेद विनाशक संग्राम में स्वयं मंडल को सारे राष्ट्र से संघर्ष करना होगा और वह राष्ट्र भी कोई दूसरा नहीं- स्वयं अपना ही। मेरे विचार में तो मंडल का यह काम स्वराज्य से अधिक महत्वपूर्ण है। उस स्वराज्य से क्या लाभ, यदि हम उसकी रक्षा नहीं कर सकते ।

मेरी सम्मति में हिंदू समाज से जाति भेद के महारोग के विनाश से ही उसमें अपनी आजादी की रक्षा करने की शक्ति उत्पन्न होने की आशा की जा सकती है। इस भीतरी शक्ति के अभाव में स्वराज्य का महल सदा हिलता ही रहेगा।

n

जाति का विनाश : क्यों और कैसे ?

डॉ० राम मनोहर लोहिया

हिन्दुस्तानी जीवन में जाति सबसे ज्यादा लेडूबू उपादान है। जो सिद्धान्त में उसे नहीं मानते वे भी व्यवहार में उस पर चलते हैं। जाति की सीमा के अंदर जीवन चलता है, और सुंसस्कृत लोग जातिप्रथा के विरुद्ध हौले हौले बात करते हैं, जबकि कर्म में उसे नहीं मानना उन्हें सूझता ही नहीं। अगर उनका ध्यान उनके कर्मों की तरफ खींचा जाता है, जो कि अविश्वसनीय ढंग पर जाति के अनुरूप होते हैं, तो वे चिढ़ कर अपने विचार और अपनी बोली का हवाला देने लगते हैं। वास्तव में जो लोग उनका ध्यान उनके जातिगत व्यवहार की ओर खींचते हैं, उन्हीं के विरुद्ध वे जातिगत मनोवृत्ति का आरोप लगाते हैं। वे कहते हैं कि जब कि वे सिद्धान्तों और व्यापक रूपरेखा के बारे में स्वस्थ बहस करने में लगे हैं, तो उनके आलोचक इस बहस में कर्म का कलुषित अंग घुसेड़ कर उसे दूषित कर देते हैं। उनका कहना है कि ये आलोचक ही जाति का वातावरण बनाते हैं। कौन जाने विचार और कर्म के बीच इतना विचित्र अलगाव, जो कि और किसी से अधिक भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है, जाति के असर का ही परिणाम हो। जाति का एक ऐसा चौखटा है जिसे बदला नहीं जा सकता। उसमें रहने के लिए बड़ी जबरदस्त पटुता, दुहरे, तिहरे या अनेक तरीकों से सोचना और काम करना नितान्त आवश्यक है।

जीवन के बड़े तथ्य जैसे जन्म, मृत्यु, शादी ,ब्याह, भोज और अन्य सभी रस्में जाति के चौखटे में ही होती हैं। उसी जाति के लोग इन निर्णायक कामों में एक दूसरे की मदद करते हैं। ऐसे मौकों पर दूसरी जातियों के लोग किनारे पर रहते हैं, अलग और जैसे वे तमाशबीन हों। शुरू ही से एक आम गलती से छुटकारा पा लेना चाहिए। इधर के दशकों में देश के कई हिस्सों में कुछ अन्तरजातीय काम हुए हैं। अब्बल तो, इस तरह के काम भोज की छोटी रस्म की हद तक ही सीमित रहे और शादी ब्याह और बच्चे होने के बड़े काम नहीं हुए। दूसरे, यह काम सिर्फ सतही तौर पर और भ्रान्तिजनक रूप में अन्तरजातीय है। कभी-कभी ऊँची जातियों के विभिन्न समुदायों के बीच अन्तरजातीय विवाह और भोज हो जाया करते हैं। सचमुच के सामूहिक काम के क्षेत्र में, ऊँची जाति और छोटी जाति के बीच अगर और ज्यादा नहीं, तो कम से कम हमेशा जैसा बड़ा भेद बना हुआ है। जब लोग

अन्तरजातीय विवाह इत्यादि की बात करते हैं, तो उनका मतलब सिर्फ ऊँची जाति के समुदायों के बीच विवाह से ही होता है।

यह साफ है कि जाति दुनिया में सबसे बड़ा बीमा है, जिसके लिए किसी को कोई औपचारिक अथवा नियमित बीमा किस्त नहीं देनी पड़ती है। जब सब कुछ काम नहीं आता, तो जाति का समैक्य हमेशा रहता है। वास्तव में, दूसरे तरीकों को काम में लाने के बहुत कम मौके आते हैं। जाति के अन्दर ही और अपने परिवार वालों में से ही लोग दोस्त बनाते हैं। जन्म,मृत्यु, कर्म, शादी और दूसरे रस्म-रिवाजों के वक्त इतने घनिष्ठ समैक्य का लाजमी प्रभाव जीवन के दूसरे अंगों पर, जिसमें राजनीतिक जीवन भी शरीक है, पड़ता है। आदमी के मन और उसके बुनियादी विचारों को वही वास्तव में प्रभावित और करीब करीब निश्चित करता है। राजनीतिक अंग तो आसानी से प्रभावित हो जाते हैं। जब जीवन की सभी बड़ी और व्यक्तिगत घटनाओं के अवसर पर लगातार मेल जोल होता है, तब उस चौखठ के बाहर अगर राजनीतिक घटनाएँ हों, तो कुछ हास्यास्पद ही होंगी। किसी जाति के लगभग एक ही तरह से वोट देने पर जब लोग हैरान हो जाते हैं तो वे ऐसे बनते हैं जैसे वे और किसी दुनिया से आये हों। कोई एक समुदाय जो एक दूसरे के साथ ही पैदा होता है, शादी करता है, मरता है और दावत करता है, उससे और किस बात की आशा करनी चाहिए। अगर जाति की जाति एक साथ वोट नहीं करती, तो यह हैरानी की बात है। मतदान जाति से हटकर २० प्रतिशत के ऊपर, मुश्किल से, अगर कभी हो तो हो और वह भी तब–जब कि जाति के एवज में कोई और सुरक्षा उपलब्ध हो।

भारतीय समाज के, यदि हजारों नहीं तो, सैंकड़ों जातियों में विभाजन से, जिनका जितना राजनीतिक उतना ही सामाजिक महत्व है, साफ हो जाता है कि हिन्दुस्तान बार-बार विदेशी फौजों के सामने क्यों घुटने टेक देता है। इतिहास साक्षी है कि जिस काल में जाति के बन्धन ढीले थे, उसने लगभग हमेशा उसी काल में घुटने नहीं टेके हैं। हिन्दुस्तान के इतिहास को गलत ढंग से पढ़ना अब भी जारी है। विदेशी हमलों के दुःखदायी सिलसिले को, जिसके सामने हिन्दुस्तानी जनता पसर गयी, अन्दरूनी झगड़ों और छलकपट के माथे थोपा जाता है। यह बात वाहियात है। उसका तो सबसे बड़ा एकमात्र कारण है, जाति । वह ९० प्रतिशत आबादी को दर्शक बना कर छोड़ देती है, वास्तव में, देश की दारुण दुर्घटनाओं के निरीह और लगभग पूरे उदासीन दर्शक।

हजारों बरसों के बावजूद जातियाँ चल रही हैं। उन्होंने कुछ लक्षणों और रीतियों को जन्म दिया है। एक तरह का छँटाव हो गया है जो कि सामाजिक रूप में भी उतना ही सार्थक है जितना कि सहज छँटाव के रूप में । व्यापार, दस्तकारी, खेती, प्रशासन या सिद्धान्तों से सम्बन्धित कामकाज के हुनर पुश्तैनी हो गये हैं। कोई प्रतिभाशाली ही इनमें वास्तविक पैठ कर सकता है। हुनर के इस जातिगत निर्धारण से कोई यह भी उम्मीद कर

सकता है कि ऐसे परम्परागत छँटाव से बहुत फायदे निकलेंगे। यदि सभी हुनरों से समान सामाजिक हैसियत मिलती या आर्थिक लाभ होता, तो ऐसा हो सकता था। साफ है, ऐसा नहीं है। कुछ हुनर अन्य हुनरों से अविश्वसनीय ढँग पर ऊँचे माने जाते हैं और उस सीढ़ी में खत्म न होने वाली सीढ़ियों का सिलसिला लगा हुआ है। निचले हुनर की जातियों को नीच माना जाता है। वे लगभग बेजान लोथ के रूप में जम जाती हैं। वे भंडार नहीं बन पातीं कि जिसमें राष्ट्र खुद को नूतन कर सके और नवस्फूर्ति प्राप्त कर सके। सर्वाधिक श्रेष्ठ हुनरों की, तादाद की दृष्टि से अल्पसंख्यक जातियाँ स्वभावतः राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान करती हैं। अपना बहुत ही स्वाभाविक अधिकार जमाये रखने के लिए वे छलकपट से उबलता दरिया बन जाती हैं और ऊपर ऊपर बहुत ही परिष्कृत और सुसंस्कृत होती हैं। जनता बेजान है; विशिष्टवर्ग कपटी है। जाति ने ऐसा बना दिया है।

एक मानी में जाति विश्वव्यापी तत्व है। जब श्री ख्रुश्चेव ने आज के रूस में उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की शारीरिक काम करने में आनाकानी पर अफसोस जाहिर किया तो उन्होंने उसकी जड़ की शुरूआत को खोल कर रख दिया। शारीरिक और बौद्धिक काम के बीच यह अन्तर करना और एक को नीचा और दूसरे को ऊँचा काम समझना और इस अन्तर के बढ़ते हुए पेंच और स्थायित्व जाति को पैदा करते हैं। और किसी देश की बनिस्बत हिन्दुस्तान को जाति का अनुभव गहरा है और दुनिया उससे कुछ सीख सकती है। जातियों ने हिन्दुस्तान को भयंकर नुकसान पहुँचाया है और हिन्दुस्तान उनसे निजाते कैसे पा सकता है, फिलवक्त हम इसी पर विचार करेंगे। मूल्यों का पूरा निकष ही गड़बड़ा दिया गया है। ऊँची जातियाँ सुसंस्कृत पर कपटी हैं; छोटी जातियाँ थमी हुई और बेजान हैं। देश में जिसे विद्वता के नाम से पुकारा जाता है, वह, ज्ञान के सार की अपेक्षा, सिर्फ बोली और व्याकरण, की एक शैली है। उदारता का मतलब हो गया है उसे संकुचित करके जाति और रिश्तेदार के लिए उसका इस्तेमाल करना और उसके द्वारा अपना स्वार्थ साध लेना। शारीरिक काम करना भीख माँगने से ज्यादा लज्जास्पद समझा जाता है। क्योंकि कुछ ऊँचे किस्म के भिखमंगेपन के द्वारा दाता को परलोक में अमूल्य लाभ होता है। साफ सीधी बात और बहादुरी के गुणों के बजाय चालबाजी, सामने जो हुकुम और पीठ पीछे अवहेलना, राज्य के सफल व्यक्तियों की निशानी हो जाती है। झूठ को सार्वजनिक जीवन का सबसे बड़ा गुण बना दिया जाता है। धोखेधड़ी का एक आम वातावरण बन जाता है, क्योंकि न्याय की और राष्ट्रीय कल्याण की रक्षा की अपेक्षा अपनी जाति के लोगों और रिश्तेदारों की रक्षा करना लक्ष्य बन जाता है। सार यह है कि जाति की आवश्यकताएँ राष्ट्र की आवश्यकताओं से भिड़ जाती हैं। इस भिड़न्त में जाति जीत जाती है, क्योंकि विपत्ति में अथवा रोजमर्रा की तकलीफों में व्यक्ति की यही एकमात्र विश्वसनीय सुरक्षा है।

पिछले दिनों हमारे प्रधानमंत्री ने यह रोना रोया कि वे इतने लोकप्रिय हैं और फिर भी

जिस तरह वे चाहते हैं, लोग काम नहीं करते। यह ऐसे बहुत ही कम मौके में से एक था जब कि प्रधान मंत्री सच बोले। जबरदस्त लोकप्रियता और उतने ही जबरदस्त महत्व के बीच दरार का रहस्य इसी में तो छिपा है। किसी महान् परिवर्तन के लिए आदमी अपनी लोकप्रियता को जोखिम में डालने के लिए तैयार ही नहीं है। महात्मा गाँधी अपनी लोकप्रियता को जोखिम में डालना जानते थे। उन्होंने एक खास स्थिति में पवित्र गाय के बछड़े को मौत की सुई दिलवा दी, एक बन्दर को बन्दूक से मरवा दिया। वे हरिजनों को मन्दिर में ले गये, वे उन्हीं शादियों में जाते थे जो अन्तरजातीय होती, उन्होंने तलाक को माना, ऐसे समय पर उन्होंने ५५ करोड़ रूपये की बड़ी रकम पाकिस्तान को दिलवा दी जबकि हिन्दुओं ने इसे देशद्रोहिता कहा, वे सम्पत्ति के विरूद्ध सिर्फ बोलते ही नहीं, बल्कि काम भी करते थे, संक्षेप में, वे ऐसे किसी काम को करने से नहीं चूके जो कि देश में नयी जान डालता, चाहे उस काम से उनको खतरा और अपयश ही क्यों न हो। कुछ लोगों को नाराज किये बिना कभी कोई बड़ा काम नहीं होता। कुछ तबकों को, कभी-कभी बड़े तबकों को नाराज करने पर ही बड़े सामाजिक परिवर्तन किये जा सकते हैं। पुरानी चीजों के हिमायती हमेशा हुआ ही करते हैं; अलग-अलग स्थितियों में केवल उनकी संख्या में फर्क रहता है। एक महान नेता की हुनरमन्दी तो इसमें है कि जिन्हें वह नाराज करता है उनकी नाराजी का काल और उनकी संख्या को कम करे। लेकिन उनको उसे नाराज करना ही होगा। उनके बीच उसे अपनी लोकप्रियता को जोखिम में डालना चाहिए, हालाँकि अन्ततोगत्वा उसकी प्रतिष्ठा पहले से ज्यादा बढ़ सकती है। देश में जातिप्रथा की और किसी प्रतिरूपी उपज की तरह ही, प्रधानमंत्री भी किसी बदलाव के लिए अपनी लोकप्रियता को जोखिम में डालने में स्वभावतः अक्षम हैं।

परिवर्तन के विरूद्ध और स्थिरता के लिए जातिप्रथा एक भयंकर शक्ति है, ऐसी शक्ति जो मौजूदा टुच्चेपन, कलंक और झूठ को स्थिर करती है। एक अपवित्र डर लगा रहता है कि कहीं कोई टुच्चापन या झूठ चौड़े में आ गया तो पूरा ढाँचा ढेर हो जायेगा। अनेक तात्विक रूपों में आजाद हिन्दुस्तान ब्रिटिश इण्डिया का ही तो सिलसिला है। भारतीय जनता आज भी वंचित है। वह अपने ही देश में विदेशी है। उसकी भाषाएँ कुचली जाती हैं और उससे उसकी रोटी छीन ली जाती है। कहने को कुछ बड़े सिद्धान्तों के लिए यह सब किया जा रहा है। और ये सिद्धान्त जातिप्रथा से गुँथे हुए हैं, कुछ ऊँची जातियों और छोटी जातियों के ४० करोड़ के बीच महान् भेद के साथ। ये ऊँची जातियाँ अपना राज कायम रखना चाहती हैं, राजनीतिक और आर्थिक दोनों और, निःसन्देह धार्मिक भी। सिर्फ बन्दूक के जरिये वह यह नहीं कर सकतीं । जिन पर वे शासन करना चाहती हैं उनमें हीन भावना भरनी होगी। अपने को छँटी हुई जाति बना कर ही वे इसे अच्छी तरह से कर सकती हैं, विशिष्ट भाषा, भूषा, आचार और रहन सहन के द्वारा, जिसके लिए छोटी जातियाँ अक्षम हैं।

जनता के बहुलांश में हीन भावना भरने के विचार से ही हिन्दुस्तान की राजनीतिक पार्टियों का रुख बनता है। जनता की भाषाएँ अविकसित हैं, उनके घर और उनके रहन सहन के तरीके उन्हें अच्छे और बड़े काम के लिए अयोग्य बना कर छोड़ देते हैं और उनके दिमाग की तो बात ही नहीं करनी चाहिए। इस तरह ऊँची जातियाँ भ्रान्ति का जाल बुनती हैं। हिन्दुस्तान में वर्तमान राजनीतिक मत विचार योग्य नहीं हैं, इसलिए कि ऊँची जातियों के झूठे और अस्वाभाविक हितों को प्रतिबिम्बित करते हैं।

छोटी जातियों का राजनीतिक आचरण विचित्र है। वे रजामन्दी से इस साजिश में क्यों हिस्सा लेती हैं, यह समझ के परे हैं। एक कारण तो काफी साफ है। ऊँची जाति को जाति से जितनी सुरक्षा मिलती है, उससे ज्यादा छोटी जाति को मिलती है पर, निःसन्देह जानवर से भी बदतर स्तर की। उसके बिना वे अपने को असहाय अनुभव करेंगे। इन छोटी जातियों के बारे में कई बार ऐसा लगता है कि बाद में जाति भोज और रस्म रिवाज करने के लिए ही उन्होंने दिन भर मेहनत की। असल चीज वे ही हैं और बाकी सब छाया। कोई भी चीज उनमें हस्तक्षेप करती है तो वह उन्हें बहुत बुरी लगती है। उनके पास ऐसे किस्से कहानियाँ हैं कि जिनसे वे अपनी गिरी हुई हालत का औचित्य बतलाते हैं, और उसे त्याग और ओजस्विता का प्रतीक मानते हैं। कहार, जिन्हें मल्लाह, कैवर्त, नाविक आदि भी कहा जाता है, शायद एक करोड़ से ज्यादा होंगे। ये लोग अपने पौराणिक पुरखों के किस्से बतलाते हैं कि वे कैसे सीधे सादे, अलोलुप , वीर और उदार थे और क्षत्रियों और अन्य ऊँची जातियों से इसलिए हार गये कि ये ज्यादा लोलुप, कपटी और धोखेबाज थे। ऐसा सोच कर, छोटी जातियों का दरिद्रता का अपना मौजूदा जीवन बड़े सिद्धान्तों की खातिर कभी भी समाप्त न होनें वाले त्याग के काम का सिलसिला प्रतीत होता है। यह त्याग पौराणिक प्रतीकों के लिए है। वे परिवर्तन करने वाले सक्रिय सिद्धान्त के लिए नहीं, बल्कि जो है उसके सामने कुछ किए बिना आत्मसमर्पण कर देना, अपना कर्तव्य समझते हैं। इतिहास में ऐसे त्याग का कोई प्रयोजन नहीं होता। लेकिन त्याग हमेशा सन्तोषकारी होता है। इन मल्लाहों और कहारों की (जब पानी रहता है तो वे नाव चलाते हैं और मछली पकड़ते हैं और जब पानी और पीछे चला जाता है तो घरों में नौकरी करते हैं) चर्चा चल पड़ी तो यह कहना होगा कि ये लोग मखाने की तलाश में जब पानी में गोता लगाते हैं तब साँस रोके रहने की इनकी क्षमता गजब की होती है। १० बरस की उमर से भी छोटे छोटे मल्लाह बच्चे प्राणायाम योग करने लगते हैं और वह भी पानी के अन्दर और १५ मिनट से भी ज्यादा देर तक अपनी साँस रोके रहते हैं। ऊँची जातियों में ऐसे योगी जो पढ़े-लिखे और परिष्कृत भूषा वाले दिखाई देंगे, शायद डींग मारेंगे कि उस योग प्रक्रिया में उनका मन तो रिक्तता साधता है जबकि मल्लाह लड़के का मन कुछ नहीं करता। चूँकि किसी एक आदमी के लिए इन दोनों प्रकार के लोगों के मन में पैठ सकना सम्भव नहीं है, इसलिए कोई भी राय बना सकना मुश्किल है। दोनों

स्थितियों में क्या मन एक जैसे हो सकते हैं? यदि वे इतने विभिन्न हैं जैसा कि दावा किया जाता है, तो जाति प्रथा का अपराध ठहराने के लिए यही पर्याप्त है।

इस धारणा पर कि सैद्धान्तिक आधिपत्य की लम्बी परम्परा ने छोटी जातियों को निश्चल बना दिया है, उनका राजनीतिक आचरण कुछ समझ में आता लगता है। यह धारणा बिलकुल सही है। जो है उसकी विनीत स्वीकृति, परिवर्तन के लिए अनमनापन, अच्छे और बुरे दिनों में भी जाति के साथ चिपके रहना, पूजा द्वारा अच्छे जीवन की कामना करना, रस्म रिवाज और सामान्य नम्रता उनमें सदियों से कूट कूट कर भरी गयी है। यह बदल सकता है। वास्तव में, इसे बदलना चाहिए। जाति से विद्रोह में हिन्दुस्तान की मुक्ति है या कह सकते हैं, ऐसा अभूतपूर्व और अब तक अनुपलब्ध अवसर आया है, जब हिन्दुस्तान सचमुच और पूरी तौर पर जीवन्त होगा। क्या ऐसा विद्रोह सम्भव है? विद्वान साधिकार इसे भले ही नकारें। कर्मशील व्यक्ति इसको मानते चले जाएँगे। आज सफलता की कुछ आशा दिखाई देती है। जाति पर इकतरफा हमला नहीं है। वास्तव में यह उतना ही राजनीतिक भी है जितना कि सामाजिक। जाति पर राजनीतिक हमला करने पर, यानी राष्ट्र का नेतृत्व करने का मौका देश की सभी जातियों के लोगों को देने पर, वह क्रान्ति की जा सकती है, जिससे कि जाति के छोटे समुदायों को ही अभी जो समैक्यता और आश्वासन मिलता है, वह पूरे हिन्दुस्तानी समाज को मिले। विदेशी शासन ने हिन्दू को मुसलमान से लड़ा दिया, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि देश में यहाँ के धर्मों ने जो झगड़ा पैदा किया, उसे छोड़ दें। भिड़ाओ और राज करो की नीति पर हुकूमत चलती है। भिड़ाने के जो तत्व पहले से ही मौजूद हैं, उन पर भी यह बात लागू करनी चाहिए। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज ने जाति के तत्व को ठीक उसी तरह इस्तेमाल किया जिस तरह कि उसने धर्म के तत्व को। चूँकि भिडन्त कराने में जाति की शक्ति धर्म के जितनी बड़ी न थी, इस प्रयत्न में उसे सीमित सफलता मिली। पश्चिमी हिन्दुस्तान में मराठा पार्टी और अनुसूचित जाति संघ, दक्षिण में जस्टिस पार्टी और पूर्वी हिन्दुस्तान में ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा चालित आदिवासी दल इसी प्रयत्न के फल हैं। देशी राजाओं के गुट और पूर्वी हिन्दुस्तान के बड़े जमींदार विदेशी शासन के नेतृत्व में चले और, उनके अन्तिम दिनों में, ऐसे बदनाम हुए कि लगता था लाइलाज हो गये हैं। इन्हें भी उनके साथ शामिल कर लेना चाहिए।

अंग्रेजों ने जब यह प्रयत्न किया, उस समय उनकी निन्दा वाजबी तौर पर ही हुई। विदेशी शासन विभेदों को आदतन बढ़ाता और फैलाता है; वह उन्हें जोड़ता मिलाता नहीं । उसकी निन्दा होनी ही चाहिए। किन्तु ऐसी निन्दा से वह जमीन तो नहीं हट जाती जिस पर विभेद जनमते और पलते है। अंग्रेजी शासन तो खतम हो गया किन्तु जिन जातीय पार्टियों को उसने पैदा किया था, वे आजाद हिन्दुस्तान में भी चल रही हैं और नयी ताकत पा रही हैं। पश्चिमी हिन्दुस्तान का कामगारी, शेतकरी पक्ष और रिपबलिकन पार्टी, दक्षिण

हिन्दुस्तान का द्रविड़ मुनेत्र कजगम और पूर्वी हिन्दुस्तान की झारखंड पार्टी के साथ साथ गणतन्त्र और जनता पार्टियाँ न सिर्फ क्षेत्रीय पार्टियाँ हैं बल्कि जातीय पार्टियाँ भी हैं। अपने–अपने क्षेत्रों में ये क्षेत्रीय जातियाँ निश्चयात्मक रूप में बहुसंख्यक हैं। छोटा नागपुर के आदिवासी झारखंड पार्टी के प्राण हैं, जैसे रिपबलिकन के महार, कामगारी शेतकरी के मराठा, द्रविड़ मुनेत्र कजगम के मुदलियार और दूसरे अब्राह्मण भी, और गणतन्त्र और जनता पार्टी के, उतने नहीं फिर भी, क्षत्रिय लोग प्राण हैं।

क्षेत्रीय जाति के दल बनने को, चाहे वे गरमपंथी मुखौटा लगा कर ही क्यों न आएँ कोई भी देशभक्त और कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति अच्छी नजर से नहीं देखेगा। उनकी तोड़ने की क्षमता को कभी भी नजर अन्दाज नहीं करना चाहिए। परन्तु, दूसरी जातियां अगर इस विच्छेदन क्षमता को समझ भी जाएँ तो उससे क्या फायदा? जो जाति इस विच्छेदन का वाहक बनती है, वह इसे समझे तो बात हैं। वह कब समझेगी।

जिन जातियों ने मराठा, जस्टिस या अनुसूचित जातियों की पाटियों को बनाया, उन जातियों के साथ समाज ने दुर्व्यवहार किया था। व्यथा और चोट की इस भावना का अंग्रेज शासकों ने इस्तेमाल किया बेशक बहुत गन्दा इस्तेमाल, पर उन्होंने उसे पैदा नहीं किया, और पैदा कर भी नहीं सकते थे। इसी कारण यह समस्या अब भी बनी हुई है, कुछ मामलों में, जिस जाति को चोट लगी और जिस जाति ने चोट लगाई, उनकी जगहों की अदला बदली हो गयी है। लेकिन इससे चोट की समस्या तो हल नहीं होती। इसके अलावा, अनेक जातियों को अभी भी मुखर होना है और प्रभावकारी बनना है, और आज प्रतिपक्षी राक्षसों के सामने अकर्मण्य रह कर अथवा उनके सहायक बनकर ही वे संतुष्ट हो जाती है। चोट और अन्याय का मुख्य स्रोत यही है।

जातियों के राजनीतिक खेल का आकर्षक उद्‌घाटन तो महाराष्ट्र में हुआ, और नाटक अभी खतम नहीं हुआ है। सन १९३० और उसके कुछ बाद तक, महाराष्ट्र का दृश्य चमत्कारी ढंग पर सीधा सादा था, और उसकी पृष्ठभूमि में एक तरफ तो थे ब्राह्मण और दूसरी तरफ बाकी लोग। इसके बाद करीब २५ वर्षों में भी इस दृश्य की अद्‌भुत सादगी में कुछ कमी नहीं आयी। सिर्फ छाने वाली जाति बदल गयी। आज की पृष्ठभूमि में एक तरफ मराठा हैं तो दूसरी तरफ हैं बाकी लोग। मराठा महाराष्ट्र की एक विचित्र जाति है, जो क्षत्रिय होने का दावा करती है पर वह उत्तर हिन्दुस्तान की कुछ काश्तकार शूद्र जाति जैसी ज्यादा है। उस इलाके में मराठा जाति सबसे ज्यादा दबाये गये लोगों की जाति थी। अलावा इसके, पश्चिमी हिन्दुस्तान में वैश्य और क्षत्रिय और कायस्थ भी नहीं के बराबर हैं, इसलिए द्विज या ऊँची जाति का प्रतिनिधित्व मोटे तौर पर ब्राह्मण ही करते हैं।

महाराष्ट्र में ब्राह्मणों के विरुद्ध विद्रोह करने में मराठों ने ही अगुवाई की, हालाँकि

विभिन्न मात्रा में दूसरी दबी जातियों ने भी उनकी मदद की। शुरू में तो, यह विद्रोह अंग्रेज समर्थक रहा, क्योंकि ब्राह्मण पूरी तौर पर अंग्रेज विरोधी थे किन्तु फिर राष्ट्रीय आंदोलन इतना मजबूत हो गया कि उसने उसे पचा लिया। राष्ट्रीयता की पार्टी, कांग्रेस पार्टी में मराठा घुसा, और उस पर लगभग छा ही गया। जाति की जाति को हटा देने का तत्त्व फिर प्रकट हुआ, पर इस बार भूमिका बदली हुई थी। एक तरफ तो ब्राह्मण के हाथ से राजनीतिक शक्ति का एकाधिकार खिसकने लगा, और दूसरी तरफ, मराठा ने अपने नव उपलब्ध अधिकार में अन्य दबी जातियों को हिस्सा नहीं दिया। ब्राह्मण बनाम बाकी के लोग वाली पहले की स्थिति का बदलना काफी स्वाभाविक था। सामयिक वादविवाद का घटाटोप जब छँट जाएगा और महाराष्ट्र और गुजरात के लिए एक ही द्विभाषी राज्य और सिर्फ महाराष्ट्र के लिए एकभाषी राज्य के झगड़े की जड़ में जब लोग जा सकेंगे, तो जाति की उतनी ही प्रेरक शक्ति खुल कर प्रकट हो जायेगी। भाषा की शक्ति को नकारने की आवश्यकता नहीं है। उसके साथ ही जाति की उतनी ही जनन शक्ति मिली हुई है। द्विभाषावाद और सरकारी पार्टी का जो पहले विद्रोही राष्ट्रीय पार्टी थी, प्रतिनिधित्व मराठा करते हैं। एक भाषावाद और संयुक्त महाराष्ट्र समिति का, जो अब सरकार की विरोधी पार्टी है, प्रतिनिधित्व बाकी दूसरे लोग करते हैं। सतही तौर पर भाषा के इर्द गिर्द इस नाटक में, जाति की जो शक्ति तल में थी, वह काफी जबरदस्त थी। ब्राह्मण जिसके हाथ से राजनीतिक शक्ति दिन पर दिन और बढ़ती हुई मात्रा में खिसकती गई, और मराठा को छोड़ कर अन्य दबी जातियाँ, जिनको लगा कि वे पीछे छूट गए हैं, दोनों हमला करने के ताक में बैठे थे। गोवा के मसले पर हल्ला मचाने का उन्होंने जो प्रयास पहले किया था, जबकि कुछ अरसे के लिये पूना का शनिवार पेठ फिर से महाराष्ट्र की सांस्कृतिक राजधानी बन गया था, वही प्रयास भाषा के लिए वर्तमान प्रयास का सूत्रधार बन गया। इस हालत के लिए मराठों को अपने आपको धन्य मानना चाहिए। और किसी भी तरह वो भी सत्ता के लिए उतने ही लोलुप और एकाधिकार वृत्ति के साबित हुए। जातिप्रथा और उसके चलते जो अन्याय होते हैं, उनका नाश करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी खुद की श्रेष्ठता को कायम रखने के लिए ही उन्होंने दबी जातियों के विद्रोह का इस्तेमाल किया। जाति प्रथा की समूची मारक शक्ति का नाश करने के बजाय, इस या उस जाति को ऊँचा उठाने के लिए ही दबी जातियों के विद्रोह का हमेशा और बार-बार बेजा इस्तेमाल किया गया।

शायद मराठा भी इससे हट कर कुछ नहीं करता। ब्राह्मण शायद फिर अपनी पहले वाली मनोवृत्ति दुहरा रहा है। हालाँकि कांग्रेस पार्टी के मराठों के खिलाफ समिति बाकी सब लोगों को लेकर बनी है, पर समिति के नेतृत्व में ब्राह्मण बहुत ही ज्यादा है। अगर समिति राजा बनती है, तो चक्र फिर घूम कर अपने पहले ठिकाने पर आ जायेगा, यानी ब्राह्मण बनाम बाकी सब। ऐसे अर्थतंत्र में जहाँ हाथ पैर मारने की जगहें कम होती हैं, अधिकार में

जहां मौका बहुत कम है और पैसे में तो उससे और भी कम है, तो आपाधापी कठिन होती है; दूरदर्शिता प्रायः असम्भव हो जाती है और अपने समुदाय से चिपके रहना नितान्त आवश्यक हो जाता है। तब क्या इससे कोई छुटकारा नहीं है? क्या यह चक्र बिलकुल समरूपी है?

जब बिना टले और लगातार ठहराव के साथ वही झगड़े बार-बार होते हैं, तो आत्मा का निढाल हो जाना अवश्यभावी होता है। परन्तु, एक सम्भव नतीजा हो सकता है कि तरक्की करता हुआ पुनर्गठन होता चला जाए। भले ही वर्तमान झगड़ा जारी रहे, और उसके खत्म होने के पहले भी, काँग्रेस पाटी के मराठा बाकी लोगों में से कुछ के साथ राजनीतिक दोस्तियाँ बना सकते हैं, और, इसी, तरह, समिति के ब्राह्मण भी बाकी लोगों के साथ एक सच्चा पर सीमित भाईचारा स्थापित कर सकते हैं। परन्तु, इससे वह हालत नहीं पैदा होगी कि जिसमें एक केन्द्र के अतराफ सभी जातियों के लोग इस संकल्प के साथ एकत्रित हों कि उन्हें जाति प्रथा खत्म करनी है। वह केन्द्र तो शायद अब भी मौजूद है। लोगों को आकर्षित कर सकने की उसकी क्षमता के विकसित होने में समय लग सकता है। वास्तव में मौजूदा और बाद के झगड़ों के खत्म होने पर ही वह अपनी सच्ची अभिव्यक्ति कर सकता है।

ऊँची जातियों को राजनीतिक सत्ता से वंचित करने का लाजमी मतलब यह नहीं होता कि उन्हें आर्थिक और दूसरे प्रकारों की सत्ता से भी वंचित किया जाए। अव्वल तो यह कि राजनीति से उस तरह वंचित करना कहीं भी, दक्षिण में भी नहीं, पूरी तौर पर नहीं हुआ। तमिलनाड में ब्राह्मण को ऊँची जाति का एक मात्र प्रतिनिधि मान कर, उसे इधर विधायिकाओं और प्रशासनिक सत्ता से लगातार हटाया जा रहा है; इसके बावजूद वे अब भी अद्‌भुत विशिष्ट पदों पर जमें हुए हैं। हालांकि वे आबादी में ४ प्रतिशत ही हैं, प्रशासन की गजटी नौकरियों में उनका हिस्सा ४० प्रतिशत के करीब होगा। एक वक्त तो उनका हिस्सा ६० प्रतिशत था। एक और ज्यादा मार्के की बात यह हुई कि तमिल ब्राह्मण ने आर्थिक सत्ता हथिया ली है। हिन्दुस्तान छोड़ कर जाने वाले अंग्रेजों से वह माउंट रोड लगातार खरीदता जा रहा है। इसलिए यह कहना कि आमतौर पर ब्राह्मणों की हालत गिरती जा रही है या देश के किसी हिस्से में उनकी हालत पर अफसोस करना सही नहीं होगा।

तमिल स्थिति बड़ी पेंचदार है। द्रविड़ आँदोलन और अब्राह्मण तत्त्वों ने कांग्रेस और काँग्रेस विरोधी दलों को समान रूप से प्रभावित किया है। दोनों द्रविड कजगम खुलकर द्रविड़ी हैं छिप कर और कुछ नरम तरीके से कांग्रेस पार्टी भी वैसी ही है। ब्राह्मण बनाम अब्राह्मण, आर्य बनाम द्रविड़, उत्तर बनाम दक्षिण और हिन्दी बनाम तमिल द्रविड़ आँदोलन के ये चारों तत्त्व अलग अलग मात्रा में, कांग्रेस और कांग्रेस विरोधी आँदोलनों में समान रूप से विद्यमान हैं। कांग्रेस विरोधी द्रविड़ आंदोलन के सामने कांग्रेस पार्टी की तरह

अखिल भारतीय लिहाज आड़े नहीं आता इसलिए उत्तर, हिन्दी या ब्राह्मण के प्रति, जब भी मौका आए, उनका विरोध तीव्र होता है।

लेकिन वह तो सिर्फ मात्रा का फर्क है । और, सरकारी पार्टी होने के नाते कांग्रेस पार्टी कुछ अधिक प्रभावशाली है, हालाँकि द्रविड़ भावना को वास्तव में उसने अधिक विवेक से आत्मसात किया है।

आर्थिक कार्यक्रमों को साफ न बतलाने के कारण भविष्य की असन्दिग्ध पूर्व घोषणा करना कुछ कठिन है। आर्थिक कार्यक्रमों के मामले में तो कांग्रेस विरोधी द्रविड़ पार्टियाँ कांग्रेस से भी ज्यादा अस्पष्ट हैं। उनमें से कुछ ने तो उत्तर-दक्षिण और इसी तरह की अन्य काल्पनिक द्वेषपूर्ण बातों से जाति समस्या की ठोस बात को धुँधला और कमजोर बनने दिया है। दोनों द्रविड़ प्रवाह, जो कि ऊँची जाति के प्रभाव से मुक्त हो चुके हैं, अगर भौगोलिक और भाषा विषयक द्वेषपूर्ण बातों से छुटकारा पाते चले जाते और जाति को नष्ट करना एक मन से लक्ष्य बनाते और अगर एक यथास्थिति और पूंजीवाद का मार्ग अपनाता और दूसरा गरमपंथी और समाजवादी आर्थिक नीतियां अपनाता तो इसका परिणाम शुभ होता।

एक और संभावित और हानिकारक हालत पैदा हो सकती है और वह यह कि द्वेष और बढ़ते जायें। अगर वह यह मान लें कि आने वाले २०-२५ वर्षों में दक्षिण और तमिलनाड समेत हिन्दुस्तान की आर्थिक हालत सुधरने की संभावना नहीं है, तो अविवेकी विस्फोटक राजनीति का मंच तैयार हो जाएगा। लोग भौगोलिक और भाषा विषयक विरोध की बातों पर ज्यादा ध्यान देने लगेंगे। सत्ता में आने के लिए राजनीतिक पार्टियां यदि ऐसे अवसरों पर फायदा न उठाएँ तो उन्हें मानवोचित नहीं कहा जाएगा। जो सबसे अधिक संभावित हालत पैदा हो सकती है वह ज्यादा आशाजनक है। उसके पूरी तौर पर विकसित होने में समय लग सकता है। काँग्रेस और कांग्रेस विरोधी पार्टियों के बीच जब इन द्वेषों का यह बेमतलब खेल खत्म हो जायेगा, तब जनता के अधिकाधिक तबके सम्पूर्ण निश्चयात्मक और ठोस कार्यक्रमों के लिए उत्सुक होंगे। आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी सिद्धान्तों पर और सामाजिक क्षेत्र में जातिप्रथा के सम्पूर्ण नाश पर ऐसे कार्यक्रम की बुनियाद रखनी होगी। इसके लिये वे द्रविड़ भावना के स्वस्थ अंग का इस्तेमाल करेंगे।

कुछ उत्तर में यानी आंध्र प्रदेश में, एक मानी में; उससे भी ज्यादा दिलचस्प हालत हो गई है। आंध्र के रेड्डी उत्तर हिन्दुस्तान के क्षत्रिय और अहीर के मेल जैसे हैं और निश्चय ही यहां की एकमात्र सर्वाधिक प्रभावशाली जाति बन गए हैं। आन्ध्र में क्षत्रिय और अहीर नहीं के बराबर हैं। आँध्र की शासक जाति सदफीसद रेड्डी ही है पर इन्होंने पूरी तौर पर ब्राह्मण को, जिसे उन्होंने राजनीतिक सत्ता से भगा दिया था, अलग नहीं कर दिया। वेलमा जैसी

छोटी जातियों के साथ उन्होंने सत्ता को बांटने की समझदारी भी की। परन्तु, वे कम्मा लोगों के साथ दोस्ती न कर सके। यह जाति लगभग पूरी तौर पर उत्तर भारत के कुर्मियों जैसी है यानी नाम में भी और खेती की हैसियत में भी। पैसे वैसे के मामले में कुछ अच्छे रहने और राजनीति में कुछ पिछड़े रहने के कारण, आंध्र के कम्मा पिछले २०बरसों से कुछ बेचैन रहे हैं। रेड्डियों से बदला लेने के लिये लगभग पूरी की पूरी जाति कम्युनिस्ट पार्टी का हथियार बनी। कम से कम फिलवक्त अपने प्रयास में असफल हो जाने के कारण, और दुबारा कम्युनिस्ट पार्टी के जरिये बदला चुकाने के पहले, वे भी रंगा को हथियार बना कर कोशिश कर सकते हैं।

संख्या में सर्वाधिक पर सबसे कम असर वाली जातियों की ओर आन्ध्र राजनीति कब मुड़ेगी? ये है कापू, पद्मशाली, माला और मादिगा। असल में, इन सबको समय-समय पर चेट्टी संघम् भी कहा जाता है। काश्तकार जाति में कापू सबसे ज्यादा हैं। ये बहुत ही गरीब दखलदारी काश्तकार है। और अगर ये खेत मजूर नहीं हुए, तो और भी ज्यादा गरीब बँटाईदार हैं। कापुओं के इस बड़े तबके में गरमी और क्रियाशीलता वही पार्टी ला सकती है जो लगभग पूरी तौर पर जमीन की मालिक रेड्डी और कम्मा जातियों की जकड़न से अपने आप को छुड़ा ले। ऐसी पार्टी का लक्ष्य होना चाहिये बँटाईदारी खतम करना और इसकी शुरूआत शायद ऐसे हो सकती है कि मालिक को एक तिहाई या उससे भी कम हिस्सा देना और शेष बँटाईदार को। कम्यूनिस्ट पार्टी ऐसी पाटी नहीं बन सकी और वह शायद वैसी कभी बन भी नहीं सकती। वह जरूरत से ज्यादा मालिकों की पार्टी है– की बड़े मालिक नहीं, जितनी कि छोटे छोटे । खेत मजूरों की,जो कि ज्यादातर हरिजन हैं, भक्ति प्राप्त करके उसने निःसंदेह मार्के की सफलता हासिल की है। यह बात अद्‌भुत है कि कम्युनिस्ट पाटी को सारे दक्षिण भारत में हरिजनों की भक्ति प्राप्त है। कापू बँटाईदारों के आँदोलनों के साथ-साथ हरिजन मजदूरों के आंदोलन चलाने वाला कोई नया केन्द्र जब तक नहीं बनता, तब तक आँध्र की आबादी के इतने बड़े तबके को जागृत करने की या हरिजनों की भक्ति को पलटने की कोई आशा नहीं है।

झारखंड और गणतंत्र जैसी क्षेत्रीय और जातीय पार्टियों का उत्थान बहुत ही बेमिसाल विचित्र घटना है। आदिवासियों या जंगल वासियों के न अधिकारों के लिये न ही उनका दमन करने वाले दूषित कानूनों अथवा परिपाटियों के विरूद्ध झारखंड पार्टी शायद ही कभी लड़ी हो। वास्तव में, समाजवादी दल के लोग अथवा वैसे ही लोग उनके लिए कुछ इलाकों में लड़े । फिर भी वे झारखंड को वोट देते हैं, क्योंकि वह उनके साथ रहती है, उनके साथ ही खाती पीती और नाचती गाती है, उनके सुख दुख में वह भागी बनती है और वह प्रायः उन्हीं का अंग है। जैसे कुछ और मामलों में वैसे ही इस मामले में भी जाति ने राजनीतिक और सामाजिक भाईचारे में दरार डाल दी है। राष्ट्रीयस्तर की राजनीतिक और

आर्थिक कार्यक्रम वाली पार्टियां जन्म, शादी, ब्याह खाने पीने और मृत्यु के मौके पर जब तक उनके साथ सामाजिक रूप में घुल मिल नहीं जाती, तब तक वे झारखंड जैसी पार्टियों का जो वर्चस्व कुछ इलाकों में है, उसे खत्म नहीं कर सकेंगी।

गणतन्त्र पार्टी का किस्सा कुछ अलग है। यह किस्सा निरन्तर निष्प्रभता का नहीं है। यह किस्सा है उस ज्योति का जो बुझ गयी, बीमारी ने फिर धर दबाया कंाग्रेस पार्टी के नये जालिम जनता के लिए इतने खराब साहिब हुये और, कुछ इलाकों में, इतने गन्दे कि वह अपने पुराने जालिमों को, राजाओं और जमींदारों को ही पसन्द करने लगी। कांग्रेस पार्टी ने जनता के साथ सचमुच वचन भंग किया, उड़ीसा इसका सुबूत है। भविष्य में क्या होगा कहना कठिन है। ऊब कर ही सही, जनता फिर एक बार अपनी तकदीर अपने पुराने जालिमों के हाथों सौंप सकती है। इस जाल के और आगामी जाल के कटने में और दस बरस भी लग सकते हैं। या सारे देश में जल्दी ही आने वाली हालत का चमत्कार भी इस दशक की घटनाओं को एक या दो बरस में ही समेट सकता है। हर हालत में, अपने वचन का पक्का और पुराने और नये जालिमों के साझे से पाक दामन वाला जातिविहीन शक्ति का नया केन्द्र होना चाहिए जो, जब जनता तैयार हो, उसे एक कर सके।

जाति प्रथा के प्रति अपने रुख में यह नया केन्द्र कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों से किस मानी में भिन्न होगा? आजकल हर एक आदमी जाति के विरूद्ध है। और फिर भी जाति प्रथा जीवित है, कुछ मानी में तो ऐसे कि जैसे पहले कभी न थी। इस विषैले कीटाणु के बारे में मैक्स वेबर जैसे प्रख्यात समाजशास्त्री अपने फलानुमानों में पूरे गलत साबित हुए हैं। उसका कहना था कि यूरोप-शिक्षित हिन्दुस्तानी, चूँकि उनकी दीक्षा तर्कनापरक विचारों और रहने सहने के ढंग पर हुई है, घर लौट कर जाति को खत्म करेंगे। वे इस बात को नहीं समझते थे कि ये यूरोप पलट हिन्दुस्तानी ज्यादातर ऊँची जातियों के ही होंगे और अपनी शिक्षा और बढ़ी हुई हैसियत के कारण विशिष्ट विवाहों के द्वारा वे जाति प्रथा को और भी मजबूत बनायेंगे। मुंह से तो जाति के विरूद्ध बोलना और काम से उसे दृढ़ करना दोनों साथ-साथ चलते हैं।

जाति का तीन अलग किस्म से विरोध होता है, एक जबानी, दूसरा निचले स्तर का और मिला जुला, और तीसरा वास्तविक । जाति के बारे में ऐसी आम जबानी निन्दा, जिससे कि वर्तमान ढांचे को आँच नहीं लगती, खूब जोर शोर से होती है। जाति प्रथा को बिलकुल ही गन्दी चीज बतला कर उसकी निन्दा की जाती है, किन्तु उसी तरह से उनकी भी निन्दा की जाती है, जो जाति प्रथा खत्म करने के लिए सक्रिय कदम उठाते हैं। जाति को नष्ट करने के लिए जीवनस्तर की बढोत्तरी और लियाकत और समान अवसर के सिद्धान्तों की दुहाई दी जाती है। सबकी आर्थिक उन्नति करो; सबको समान अवसर दो! ऐसा कहते हैं जाति का नाश करने वाले ये झूठे हिमायती, जैसे कि उन्नत स्तर और अवसर सिर्फ छोटी जातियों

के लिए ही रहेंगे। जब सबको समान अवसर मिलेगा, तो उदार शिक्षा की ५ हजार बरस पुरानी परम्परा की जातियाँ ही सिर पर सवार रहेंगी। छोटी जातियों में जिस किसी के पास खास प्रतिभा होगी, वही इस परम्परा को तोड़ सकेगा। श्री नेहरू के नेतृत्व के तहत हिन्दुस्तान की राजनीतिक पार्टियों, कांग्रेस, कम्युनिस्ट और प्रजा सोशलिस्ट, के मन में यही घुसा हुआ है। वे चाहते हैं कि छोटी जातियों से खास योग्यता वाली औरतें और मर्द ही उनके साथ आएँ। किन्तु वे यह भी चाहते हैं कि पूरा ढांचा जैसा का तैसा बना रहे। वे ज्यादातर ऊँची जातियों में से आये हैं। परम्परा, योग्यता और आचार विचार पर आधारित उनके सामाजिक समूह को जब तक आंच न आए, वे अपनी जाति अथवा ऊँची और नीची जाति में भेद भाव की निन्दा करने में हिचकिचाते नहीं। छोटी जातियों में से अगर कोई योग्यता और तौर तरीकों में सिद्ध है तो उसका स्वागत होता है पर कितने लोग सिद्ध होंगे। बहुत कम। एक व्यक्ति की प्रतिभा के विरुद्ध होगा पाँच हजार बरसों का जालिम प्रशिक्षण और परम्परा। इस कुश्ती में सिर्फ बहुत ही तेजस्वी और बहुत ही योग्य व्यक्ति जीत सकता है। इसे कुछ बराबर की जोड़ वाली कुश्ती बनाने के लिए उन्हें जिन्हें अब तक दबा कर रखा गया है, असमान अवसर देने होंगे। किन्तु उस नकली यूरोपी, श्री नेहरू, के नेतृत्व में सतही यूरोप अभिमुख राजनीतिक पार्टियाँ इस असमान अवसर के मार्ग के खिलाफ ऐसा भयानक शोर मचाती हैं कि जैसे वह उनके बाहर से आये हुए और निहित स्वार्थों वाले समाजवाद के मार्ग की धर्म निन्दा ही हो।

निहित स्वार्थ का समाजवाद सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति की ही बात करता है। इसका मतलब होता है निम्नतम स्तर पर वेतन वृद्धि या बोनस देना और उच्चतम स्तर पर कारखानों इत्यादि में निजी पूँजी को खत्म करना। परिवर्तनशील वर्गों के यूरोप में भी, इस तरह की क्रांति शारीरिक और बौद्धिक श्रम के बीच भेद रखेगी। जातियों से बँधे हिन्दुस्तान में यह भेद समाज के स्वास्थ्य को नष्ट कर देगा। भारतीय समाज में बौद्धिक श्रम करने वालों की जाति बँधी हुई है; सैनिक जाति समेत, ये ऊँची जाति के हैं आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति हो जाने के बावजूद राज्य और कारखानों के मैनेजर उन्हीं में से बनेंगे। कम से कम तुलना में, जनता का बहुलांश निरन्तर शारीरिक और बौद्धिक हीनता की स्थिति में पड़ा रहेगा। किन्तु तब योग्यता और आर्थिक मानी के आधार पर ऊँची जाति की स्थिति को उचित ठहराया जाएगा जैसे कि अब उसे जन्म और बुद्धि के आधार पर उचित ठहराया जाता है। इसीलिये तो हिन्दुस्तान का बौद्धिक वर्ग, जो ज्यादातर ऊँची जाति का है, भाषा या जाति या विचार की बुनियादों के बारे में आमूल परिवर्तन करने वाली मानसिक क्रांति की सभी बातों से घबराता है। वह सामान्य तौर पर और सिद्धांत रूप में ही जाति के विरुद्ध बोलता है। वास्तव में, वह जाति की सैद्धान्तिक निंदा में सबसे ज्यादा बढ़ चढ़ कर बोलेगा पर तभी तक जब तक उसे उतना ही बढ़-चढ़ कर योग्यता और समान

अवसर की बात करने दी जाये। जन्म से जाति के मामले में वह जो खोता है, उसे योग्यता से जाति के द्वारा पा लेता है। भाषा, व्याकरण, तौर तरीके, मेलजोल करने की क्षमता, मामूल के कामों में सलाहियत के बारे में उसकी योग्यता निर्विवाद है। इस निर्विवाद योग्यता को बनाने में पांच हजार बरस लगे हैं। कम से कम कुछ दशकों तक नीची जातियों को विशेष अवसर दे कर समान अवसर के नये सिद्धान्त द्वारा पांच हजार बरस की इस कारस्तानी को खत्म करना होगा। श्री नेहरू के नेतृत्व में हिन्दुस्तान की राजनीतिक पाटियां कांग्रेस या कम्युनिस्ट किसी बड़े पैमाने पर विशेष अवसर देने के पूरी तौर पर खिलाफ हैं। वे उसे जाति प्रेरित कदम कह कर उसकी निन्दा करते हैं जबकि वे स्वयं, शायद अनजाने ही, दुष्ट जाति भावना से भरे हुए हैं। वे जन्म से जाति वाली बात की निंदा करते हैं। पर योग्यता के सिद्धान्त को लागू करके वे अपनी खास हैसियत को सुरक्षित रखते हैं।

किसी भी हिसाब से हिन्दुस्तान की आबादी में ऊँची जाति वाले २० प्रतिशत से ज्यादा नहीं हैं। किन्तु देश में नेतागिरी की लगभग ८० प्रतिशत जगहों पर वे जमे हुए हैं। राष्ट्रीय क्रियाकलाप के चार मुख्य विभागों – व्यापार, सेना, ऊँची प्रशासनिक नौकरियाँ और राजनीतिक दल की ऊँची जगहों पर आसानी से ८० प्रतिशत ऊँची जाति वाले जमें हुए हैं। राजनीतिक दलों की ऊँची जगहों की हम जब बात करते हैं तो हमारा मतलब विधायिकाओं के सदस्यों से नहीं है, बल्कि उनका चयन करने वाली कार्यसमितियों से है। जब किसी राष्ट्र के मर्मस्थल के ८० प्रतिशत नेतृत्व को उसकी आबादी के २० प्रतिशत में से ही चुना जायेगा, तो निश्चय ही क्षय रोग की अवस्था आ जायेगी। उसकी ८० प्रतिशत आबादी अकर्मण्यता और अयोग्यता की अवस्था में पड़ जाती है। हमारा देश बीमार है और मौत के मुहाने पर बैठा है। ऐसे राष्ट्र को तन्दुरूस्त बनाने के लिए नेतृत्व का पूर्वनियोजित चयन करना होगा। राष्ट्र की कम से कम आधी या ६० प्रतिशत ऊँची नेतागीरी नीची जातियों के बीच से पूर्व नियोजित ढंग से चुननी होगी। इसे कानून के द्वारा करना आवश्यक नहीं है। इसकी उपादेयता समझ कर इसे करना अच्छा होगा। राष्ट्र के राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन के द्वारा इसकी शुरूआत की जा सकती है। हाल ही में समाजवादी दल की राष्ट्रीय समिति के चुनाव ने दिखला दिया कि ऐसा हो सकता है। यह भी सही है कि बाहर की और अन्दर की भी अनभिज्ञ ऊँची जातियों ने इस दल की बड़ी बदनामी की। समय ही बतलाएगा कि यह बदनामी सफल होती है या नहीं। इस मौके पर इस पार्टी का जो कुछ भी हो, जाति के अर्थ में इस राष्ट्र को पुनर्जीवित करने के लिये, सफल होने तक बार-बार प्रयत्न करना चाहिये।

सच्चे मानी में ऊँची जातियों का ज्यादातर बहुमत तो नीची जातियों की पाँत में ही आता है। किन्तु वे इस स्थिति से अनभिज्ञ हैं। यही अनभिज्ञता तो दुनियां में अब तक इस बेमिसाल बनावटी सामाजिक व्यवस्था को कायम रखे हुये है। ५ या १० लाख लोगों से

ज्यादा सचमुच ऊँची जाति के नहीं हैं। ये हैं पैसे वाले या बुद्धि वाले या असरदार लोग। ये बहुत ही खास जातियों के होते हैं जैसे बंगाली बड्डी , मारवाड़ी बनिये, काशमीरी ब्राह्मण जो व्यापार अथवा पेशे के नेताओं को उगलते हैं । सच्ची ऊँची जाति के दस लाख लोगों की इस सुई की नोंक वाली कटार पर आठ एक करोड़ झूठी ऊँची जातियाँ टिकी हुई है और फिर इन्हीं पर तीस एक करोड़ छोटी जातियाँ लदी हुई हैं। इस कटार ने समूचे राष्ट्र के जीवांगों को फाड़ कर छोड़ दिया है।

जाति की यह चक्की निर्दयता से चलती है। अगर वह छोटी जातियों के करोड़ों को पीस देती है, तो वह ऊँची जाति को भी पीस कर सच्ची ऊँची जाति और झूठी ऊँची जाति को अलग-अलग कर देती है। सच्ची ऊँची जाति कोट और कंठलंगोट या शेरवानी और चूड़ीदार पहनती है। ये है दिल्ली और अन्य राजधानियों के ब्राह्मण और बनिये, क्षत्रिय और कायस्थ। गाँवों और छोटे कसबों में आने जाने वाले द्विज केवल भ्रान्त रूप में इनसे सम्बन्धित हैं। ये झूठी ऊँची जातियाँ जनता की भूषा, धोती या पायजामा, पहनती हैं। लेकिन वे भ्रम को चिपटा लेते हैं और वास्तविकता को परे कर देते हैं। वे आदमी नहीं रह गये है; वे परम्परा की अकर्मण्य छाया बन गये हैं। दरअसल तो इन चलायमान संसार में जहाँ खुश्चेव लोग और आइजनहावर लोग कुछ सक्रिय राष्ट्रों की शक्ति पर इठलाते हैं, उनके बीच ये सच्ची ऊँची जातियाँ भी परम्परा की निष्प्रयोजन छाया है। श्री नेहरू और हिन्दुस्तान के राजनीतिक नेता लोग अपने ही देशवासियों को बड़े लगते होंगे; विश्व इतिहास में तो वे केवल कमजोर राष्ट्रों के उछलकूद करने वाले बौने ही हैं।

जाति कितनी अपरिमेय है और उसकी चक्की कितनी निर्दयता से पीसती है यह बनिया जाति के अन्दर सिर्फ वास्तविक, बल्कि नामकरण में भी जो भेदभाव है, उससे स्पष्ट होता है। पुराने जमाने का अच्छा खाता पीता, थोक व्यापारी, वैश्य बन गया। ठीक-ठीक यह कैसे हुआ कहना मुश्किल है। यह हो सकता है कि थोक व्यापारी या अच्छा खाता पीता वैश्य बना रहा, बाकी बनिये बन गये। बनिया जाति की बहुत बड़ी संख्या, तेली, जायसवाल, पंसारी इत्यादि के साथ पोंगापंथी लोग शूद्र जैसा व्यवहार करते हैं। वे पुराने जमाने के चिल्लर व्यापारी हैं, और आज भी, ज्यादातर वही हैं। पुराना थोक व्यापारी है द्विज, और पुराना चिल्लर व्यापारी है शूद्र। आज तक हमेशा भारतीय इतिहास में थोक व्यापारी और पुजारी की सांठगांठ रही। उनकी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मिली भगत, जिसका मराठा राजनीति ने इतना सचित्र वर्णन किया कि उसे सेठजी-भटजी का जोड़ा नाम दिया, उन्हें द्विज और आधुनिक हिन्दू समाज की उत्कृष्ट उच्च जाति बना दिया । और यह खुली धोखेबाजी चल रही है, जिससे पैसे और प्रतिष्ठा के जमाव के रूप के अतिरिक्त जाति और किसी रूप में नहीं प्रकट होती।

द्विजों के नेतृत्व में जाति पर यह पहला जबानी हमला, कुछ खास शूद्र समूहों के

नेतृत्व में जाति के विरूद्ध दूसरे थोथे आन्दोलन से बराबर मेल खाता है। शूद्रों के अन्दर कुछ जातियाँ तादाद में शक्तिशाली हैं और कुछ इलाकों में तो बहुत ही ज्यादा शक्तिशाली हैं। बालिग मताधिकार के युग ने उनके हाथ में शक्ति सौंप दी है। दक्षिण के मुदलियार और रेड्डियों ने और पश्चिमी हिन्दुस्तान के मराठों ने उसका इस्तेमाल किया है। वे ही, न कि द्विज, अपने इलाकों के राजनीतिक मालिक हैं, हालाँकि वहाँ भी ऊँची जाति ने अपनी आर्थिक पकड़ को मजबूत बना लिया है और फिर से राजनीतिक क्षेत्र में आने का बहुत ही चालाक और धोखे का प्रयास कर रही है। यह सम्भव है, मुख्यरूप से इसलिए कि जाति के विरूद्ध ये आन्दोलन थोथे हैं। समाज को ज्यादा न्यायसंगत, चलायमान और क्रियाशील बनाने के अर्थ में वे समाज को नहीं बदलते। वे सभी नीची जातियों को अधिकार नहीं देते, बल्कि सिर्फ उसको जो उनके बीच अकेली सबसे बड़ी हो। इसलिए वे जाति का नाश नहीं करते, बल्कि सिर्फ पद और अवसर में हेरफेर करते हैं। ब्राह्मण अथवा वैश्य को लगे हुए ऊँची जाति के तमगे उनसे खीच कर मराठा या रेड्डी को चिपका दिये जाते हैं। इससे कोई समस्या हल नहीं होती। बल्कि बाकी सभी नीची जातियाँ इससे जुगुप्सित होती हैं और ऊँची जातियाँ गुस्से में आ जाती हैं। अपनी समूची ग्लानि और कुछ ज्यादा ही उत्तप्त अवस्था में जाति कायम रहती है।

सारे देश के पैमाने पर अहीर, जिन्हें ग्वाला, गोप भी कहा जाता है, और चमार जिन्हें महार भी कहा जाता है, सबसे ज्यादा संख्या की छोटी जातियाँ हैं। अहीर तो हैं शूद्र और चमार हैं हरिजन, हिन्दुस्तान की जाति प्रथा के ये वृहत्काय हैं, जैसे द्विजों में ब्राह्मण और क्षत्रिय । अहीर, चमार, ब्राह्मण और क्षत्रिय, हर एक २ से ३ करोड़ हैं। सब मिला कर ये हिन्दुस्तान की आबादी के करीब १० से १२ करोड़ हैं। फिर भी इनकी सीमा से हिन्दुस्तान की कुल आबादी के तीन चौथाई से कुछ कम बाहर ही रह जाते हैं। कोई भी आन्दोलन जो उनकी हैसियत और हालत को बदलता नहीं, उसे थोथा ही मानना चाहिए। इन चार वृहत्कायों की हैसियत और हालत के परिवर्तन में उन्हें ही बहुत दिलचस्पी हो सकती है पर पूरे समाज के लिए उनका कोई खास महत्व नहीं है।

उत्तर हिन्दुस्तान के अहीरों ओर चमारों ने भी, शायद पर्याप्त जागरूक न रहते हुए, रेड्डियों और मराठों जैसे ही प्रयत्न किये हैं। उन्हें असफल होना ही था, पहले तो इसलिए कि उत्तर में द्विज बहुत संख्या में हैं और, दूसरे इसलिए कि उत्तर की नीची जातियों के बीच संख्या में वे उतने शक्तिशाली नहीं हैं। इसके बावजूद कुछ दब कर प्रयत्न हो ही रहा है। कई मानी में जनतन्त्र है संख्या का ही शासन। ऐसे देश में जहाँ समुदायों का संसर्ग जन्म और पुरानी परम्परा के आधार पर होता है, सबसे ज्यादा संख्या वाले समुदाय राजनीतिक और आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त कर ही लेते हैं। संसद और विधायिकाओं के लिए उन्हीं के बीच से उम्मीदवारों का चयन करने के लिए राजनीतिक दल उनके पीछे भागते फिरते हैं।

और, व्यापार और नौकरियों में अपने हिस्से के लिए ये ही सबसे ज्यादा शोर मचाते हैं। इसके परिणाम बहुत ही भयंकर होते हैं। सैकड़ों नीची जातियाँ जो संख्या में इन से कमजोर हैं, पर सब मिला आबादी का बहुत बड़ा तबका है, निश्चल हो जाती है। जाति पर हमले का मतलब होना चाहिए सबकी उन्नति न कि सिर्फ किसी एक तबके की उन्नति। एक ही तबके की उन्नति से जातिप्रथा के अन्दर कुछ रिश्ते परिवर्तित होते हैं, किन्तु जातियों के आधार में कोई बदलाव नहीं आता।

एक और मानी में भी किसी एक तबके की उन्नति घातक होती है। नीची जातियों के जो लोग ऊँची जगहों पर पहुंच जाते हैं वे मौजूदा ऊँची जातियों में घुल मिल जाना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में वे लाजमी तौर पर ऊँची जातियों के दुर्गुण सीख जाते हैं। ऊँची जगह पर पहुंचने के बाद, सभी जानते हैं कि नीची जाति के लोग कैसे अपनी औरतों को परदे में कर देते हैं जो कि ऊँची उच्च जाति में नहीं होता, बल्कि बिचली उच्च जाति में ही होता है। इसके अलावा, ऊँची उठने वाली नीची जातियाँ द्विज की तरह जनेऊ पहनने लगती हैं, जिससे वे अब तक वंचित रखे गये, लेकिन जिसे अब सच्ची ऊँची जाति उतारने लगी है। इस सबसे भेदभाव जारी रखने का एक और नतीजा निकला। इसके अलावा, इस तरह की उन्नति से नीची जातियों के बीच कोई गरमी नहीं आती। जो उन्नत हो जाते हैं वे अपने ही समुदाय से अलग हो जाते हैं अपने ही मूल नीचे समुदायों को गरमाने के बजाय, वे जिन जगहों पर पहुँचते हैं वहाँ की ही ऊँची जातियों का अंग बन जाने की कोशिश करते हैं। इस अत्यन्त अनुभागीय और सतही उन्नति की प्रक्रिया से एक और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा होती है। इस उन्नति से अच्छे गुण सीखने या योग्य बनने का टेक नहीं मिलता, बल्कि जाति भड़काने और लड़ाने भिड़ाने का टेक मिलता है।

बंगाल जैसे इलाके में कुछ अजीब हालत बन गयी है। आम तौर पर यह माना जाता है कि बंगाल में जातीय राजनीति नहीं है। इसका मतलब यह है कि नीची जातियों का बहुत बड़ा हिस्सा बोलना ही नहीं जानता, तो उसके शोर मचाने का सवाल ही नहीं उठता। वे चुप हैं। वहाँ की ऊँची जातियाँ बहुत बोलती हैं। इसके अतिरिक्त वे कुछ कुछ यूरोपी लोगों जैसे हैं, क्योंकि हर एक ऊँची जाति ने , कम से कम शहरों में, अपना अलग व्यक्तित्व बनाने की कोशिश की है। नीची जातियों की यह चुप्पी और ऊँची जातियों के तुलनात्मक आधुनिकीकरण से बंगाल की, जो हिन्दुस्तान का जाति से सबसे ज्यादा पीड़ित हिस्सा है, स्थिति पर धुँधलका छा गया है। किसी दिन यह चुप्पी टूटेगी। उसी समय जाति के विरूद्ध फिर से थोथे आन्दोलन हो सकते हैं। महीश्य हैं शूद्र और नामशूद्र हैं हरिजन। ये दोनों बंगाल की नीची जातियों में संख्या में सबसे ज्यादा हैं। जाति का नाश करने की दृष्टि से नहीं, बल्कि ब्राह्मण और कायस्थ की बराबरी या प्रतिस्पर्धा करने के लिए ये जोर मार सकते हैं। ऐसे थोथे आन्दोलनों को रोकने का अब समय है। न सिर्फ नामशूद्र या महीश्य

को ही, बल्कि सभी जातियों को नेतागीरी की जगहें देने की पूर्व नियोजित नीति पर चलना चाहिए।

हिन्दुस्तान के इतिहास के सामने जाति के विरुद्ध तीसरे और सच्चे आंन्दोलन का जो विषय है, अब हम उसको लेते हैं। औरत, शूद्र, हरिजन, मुसलमान और आदिवासी, समाज के इन ५ दबे हुए समुदायों को, उनकी योग्यता आज जैसी भी हो, उसका लिहाज किये बिना, उन्हें नेतृत्व के स्थानों पर बैठाना इस आन्दोलन का लक्ष्य होगा। आज तो उनकी योग्यता कम है ही। फिर, योग्यता का परीक्षण भी ऐसा होता है कि वह ऊँची जाति के ही पक्ष में जाता है। इतिहास के हजारों बरसों ने जो किया उसे धर्मयुद्ध के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। समाज के दबे हुए समुदायों में सभी औरतों को, द्विज औरतों समेत जो कि उचित ही है, शामिल कर लेने पर पूरी आबादी में इनका अनुपात ९० प्रतिशत हो जाता है। दबी हुई मानवता का इतना बड़ा समुद्र हिन्दुस्तान के हर १० में ९ मर्द और औरतें, चुप्पी में ऊँघ रही हैं। या, बहुत हुआ तो, जीवन्त प्रतीत होने वाली चिंहुक सुनाई पड़ जाती है। उनके दुबले पतले अंगों पर आर्थिक और राजनीतिक उन्नति से अपने आप कुछ चरबी चढ़ सकती है। जाति का नाश करके ही उन्हें स्वाभिमानी बनाया जा सकता है। और यह निःसन्देह, आर्थिक उन्नति के साथ साथ होना चाहिए। तभी उन्हें पूरे आदमी के लायक और जागरूक जनता बनाया जा सकता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि ऊँची जातियाँ, द्विजो को भी जाति के इस क्षय रोग से भंयकर नुकसान उठाना पड़ा है। उनकी शिक्षा और संस्कृति, मीठी बोली और शिष्टाचार का मुखौटा लगा कर, धोखाधड़ी के द्वारा झूठ और निज की उन्नति के मारक जहर को छिपा देती है। दबे हुए समुदायों को ऊँचा उठाने के धर्मयुद्ध से ऊँची जाति भी पुनजीर्वित होगी और उससे सारे चौखटे और मूल्य, जो आज बिगड़ गये हैं, ठीक हो जाएँगे। नीची जातियों के कुछ २०-३०-५० लोगों को कंजूसी से कुछ खास जगहें दे देने में और इस धर्म युद्ध में घालमेल नहीं करना चाहिए। इससे ऊँची जाति चिढ़ जाती है। हल्ला मचाना शुरू हो जाता है। यह नीची जातियों को गरमा भी नहीं सकता। जीवन के किसी क्षेत्र में, कई हजारों के उच्चजातीय अल्पतंत्र में अगर नीची जातियों के १५-२० लोगों को जोड़ दिया जाता है, तो इससे क्या होना जाना है? उन्हें सैकड़ों की संख्या में जोड़ने की आवश्यकता है। आज जो वोट फँसाने, झगड़ा कराने और जलन पैदा कराने का यंत्र है, फिर वही धर्मयुद्ध बन जाएगा। ऊँची जगहों पर नीची जातियों के एकाघ व्यक्ति के पहुँच जाने पर भी लोग आँखें फाड़ फाड़ कर देखने लगते हैं, जब कि ऊँची जातियों के एक साथ बीसियों व्यक्तियों के पहुँच जाने को स्वाभाविक माना जाता है। इसी तथ्य से पता चलता है कि कितना बड़ा धर्म युद्ध आवश्यक है। इस बात पर बार-बार जोर डालना चाहिए कि नीची जातियों के सैकड़ों लोग, जिन पर अन्यथा ध्यान नहीं जा पाता, उन पर पूर्व नियोजित नीति के द्वारा ध्यान देना चाहिए।

दबी हुई जातियों और समुदायो की उन्नति करने की इस नीति से जहर भी बहुत निकल सकता है। वास्तव में सावधानी बरतने पर इस जहर के कुछ दूषित पहलुओं को सिर्फ दबाया जा सकता है; उसे पूरी तौर पर दूर नहीं किया जा सकता। लोगों के मन पर इसका जो तत्कालिक असर पड़ेगा, उससे यह एक जहर निकल सकता है कि वह फुर्ती से द्विज को तो नाराज कर देगा पर उतनी ही फुर्ती से शूद्र को प्रभावित नहीं करेगा। शूद्र के जागृत होने के पहले ही स्थितियों के प्रति द्विज अपनी असंदिग्ध जागरूकता और भटका देने की क्षमता से इस नीति पर चलने वालों पर सीधी या उलटी बदनामी थोपने में सफल हो सकता है। दूसरे छोटी जातियों के बीच वृहत्काय, जैसे अहीर और चमार, इस नीति के फल को सैकड़ों छोटी जातियों के बीच बाँटे बिना खुद ही चट कर ले सकते हैं, जिसका नतीजा होगा कि ब्राह्मण और चमार तो अपनी जगहें बदल लेंगे पर जाति वैसी ही बनी रहेगी। तीसरे, नीची जातियों के स्वार्थी लोग अपनी निज की उन्नति करने के लिए इस नीति का अनुचित इस्तेमाल कर सकते हैं और वे लड़ाने भिड़ाने और जाति की जलन के हथियारों का भी इस्तेमाल कर सकते हैं। चौथे चुनाव या चयन का हर एक मामला शूद्र और द्विज के बीच कटुतापूर्ण बोलाचाली, मारा पीटी का अवसर बन सकता है। दबी जातियों के ओछे तत्व इस हथियार का इस्तेमाल कर सकते हैं। किसी खास द्विज को, जिसके कि वे खिलाफ हैं, दूर करने की अपनी सनकी इच्छा के वशीभूत होकर वे सभी द्विजो को पूरी तौर पर हटा देने की कोशिश कर सकते हैं या असफल हो जाने पर, सारे वातावरण को संदेह से दूषित कर सकते है। पाँचवे वे आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को धुँधला बना सकते हैं या उन्हें पृष्ठभूमि में धकेल सकते हैं। अपने स्वार्थ साधने के लिए नीची जातियों के प्रतिक्रियावादी तत्व जाति विरोधी नीति का बेजा इस्तेमाल कर सकते हैं। मिसाल के लिए, पिछड़ी जाति आयोग की रपट ने, नीची जाति जिसकी दुहाई देती रहती है, जनता की बड़ी समस्याओं से कन्नी काट ली है, ऐसी समस्याएँ जैसे अलाभकर जोत के टिकस का खातमा और सभी आमदनियों की ऊँचाई नियत करना। उसकी ठोस सिफारिशों की संख्या कुल दो है। जिनमें एक अच्छी है और दूसरी खराब । पिछड़ी जातियों के लिए नौकरियों में सुरक्षा की उसने सिफारिश की है। और वह सुरक्षा इस आयोग की इच्छा से बढ़ कर न्याय-संगत रूप में अनुपातहीन हो सकती है। लेकिन शिक्षा में भी ऐसी ही सिफारिश करके उसने गलती की है। स्कूलों और कालिजों में, अगर जरूरत हो तो पिछड़ी जातियाँ २ या ३ पाली की माँग कर सकती हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के किसी भी बच्चे को किसी शैक्षणिक संस्था के दरवाजे में घुसने न देने की माँग नहीं करनी चाहिए।

यह नीति ऐसे जहर उगल सकती है। इस जहर से लगातार जागरूक रहने पर उस पर बड़ी मात्रा में रोक लगायी जा सकती है। उस जहर के डर से हमें इस नीति की सृजनात्मक और उपचारात्मक चमत्कारी शक्ति से अन्धे नहीं बन जाना चाहिए। हिन्दुस्तान अपने

इतिहास की सबसे ज्यादा स्फूर्तिदायक क्रान्ति से अवगत होगा। जनता ऐसी जीवन्त हो जाएगी कि जैसी पहले कभी न थी। इस प्रकिया में वह मानवता के लिए भी एकाध मार्ग बतला सकती है। काल मार्क्स ने वर्ग का नाश करने का प्रयत्न किया। जाति में परिवर्तित हो जाने की उसकी क्षमता से वे अनभिज्ञ थे, लाजमी तौर पर हिन्दुस्तान की जाति एक अचल वर्ग तो है ही। इस मार्ग को अपनाने पर पहली बार वर्ग और जाति का एक साथ नाश करने का एक तजुरबा होगा।

ऊँची जाति के युवजनों को अब अपनी पूरी ताकत से उठना चाहिए। इस नीति में अपने स्वार्थो पर हमला देखने के बजाय, उसमें जनता को नवजीवन देने की क्षमता के रूप में उसे देखना चाहिए। आखिर ऊँची और नीची जातियों के बीच के बहुत ही कम विवाह सम्बन्धों में ,द्विज और हरिजन के बीच वाले विवाह तो देखे जा सकते हैं पर शूद्र और हरिजन के बीच नहीं। ऊँची जाति के युवजन को छोटी जातियों के लिए खाद बन जाने का निश्चय करना चाहिए ताकि एक बार तो जनता अपनी पूरी तेजस्विता में पल्लवित पुष्पित हो। अगर मानव स्वभाव अपरिमित त्याग के लिए तत्पर रहता है, तो ऊँची जातियाँ सलाहकार बनेंगी और कार्यकारिणी होंगी सभी नीची जातियाँ। अगर हर एक जगह यह सम्भव नहीं है, तो जितनी भी जगहों पर सम्भव हो सके हो। मानव जाति की महान कुठाली में आस्था और समूची हिन्दुस्तानी जनता के पौरुष में उतनी ही आस्था के साथ ऊँची जाति को परम्परा और जनता का मेल करने के लिए तैयार होना चाहिए। इसके साथ ही साथ नीची जातियों के युवजन के कन्धे पर भारी बोझ आ जाता है। औरतों, शूद्रों, हरिजनों, मुसलमानों और आदिवासियों का अब सर्वोपरि ध्येय यही होना चाहिये कि उन्हें ऊँची जातियों की परम्पराओं और शिष्टाचारों का स्वांग नहीं रचना है, उन्हें शारीरिक श्रम से कतराना नहीं है, व्यक्ति की स्वार्थोन्नति नहीं करनी है, तीखी जलन में नहीं पड़ना है, बल्कि यह समझ कर कि वे कोई पवित्र काम कर रहे हैं, उन्हें राष्ट्र के नेतृत्व का भार वहन करना है। (१९५८, जून)

n

अस्पृश्यता का सवाल : गाँधी और आम्बेडकर

प्रो० डी०आर० नागराज

गांधी जी के चिंतन का प्रस्थान बिंदु यह था कि अस्पृश्यता की समस्या 'स्व' की समस्या है, समूचे हिंदू 'स्व' की। उन्होंने व्यक्तिगत 'स्व' की धारणा को रूपांतरित कर दिया था और उनकी रणनीति में जातीय अहंकार के जालों को साफ करने की आवश्यकता पूरे समूह के स्व की बृहद धारणा में बदल गई थी। लेकिन उन्होंने हमेशा इन मूल्यों को निजी तौर पर आत्मसात करने के महत्व को दृढ़ता से कायम रखा। उनके विचार से अस्पृश्य व्यापक स्व का ही एक हिस्सा था। उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन आंदोलन को आत्म–शुद्धि की एक पवित्र रम्म के रूप में देखा। उन्होंने 'हरिजन' (१५ अप्रैल, १९३३) में लिखा–'' अस्पृश्यता निवारण का आंदोलन आत्म शुद्धि का आंदोलन है।'' आत्म द्वारा आत्म पर दिए गए धार्मिक जोर को १९३२ में हुए पूना समझौते की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। यह समझौता बापू और बाबा साहेब की परस्पर विरोधी स्थितियों के बीच संघर्ष के एक निर्णायक बिदु के रूप में समझा जाता है। बाबा साहेब ने इस समस्या को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सत्ता की संरचना में दलितों के लिए स्वतंत्र राजनीतिक पहचान बनाने के संदर्भ में परिभाषित किया था। दूसरी ओर, गांधीजी के लिए यह मूलतः एक धार्मिक सवाल था और वह भी हिंदूधर्म का अंदरूनी मामला। उन्होंने डा० आंबेडकर के आक्रामक प्रतिनिधित्व में फेंकी गई इस चुनौती को उदारतापूर्वक नहीं लिया। उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों के स्तर पर देखें तो यह लड़ाई गांधीजी ने जीती। आज भी आंबेडकरवादियों के मन में इस चोट की गहरी कसक मौजूद है। रवींद्र कुमार का यह मानना ठीक ही है कि आंबेडकर ने पूना समझौता इस डर से स्वीकार कर लिया था कि उपवास के कारण गांधी जी की मृत्यु की स्थिति में दलितों से बड़े पैमाने पर प्रतिशोध लिया जा सकता है। परिस्थिति पूरी तरह से राष्ट्रपिता के पक्ष में थी। लेकिन, सौभाग्य से, वे इतिहास के लंबे दौर में मिली क्षणभंगुर जीतों पर खुश होने वाले व्यक्ति नहीं थे। गांधी जी के लिए सत्य ज्यादा महत्वपूर्ण था और दिल ही दिल में वे जान गए थे कि उनकी जीत की बुनियाद कमजोर है।

यरवदा का उपवास गांधी जी की प्रतिबद्ध धार्मिक मान्यता के अमूर्त और

व्यावहारिक, दोनों रूपों का नतीजा था। मेरा ख्याल है कि गाँधीजी इस समय तक धर्म और सत्य के बीच के दुखद विभाजन को गहराई तक महसूस करने लगे थे। उन्हें शायद यह लगने लगा था कि अस्पृश्यता के प्रति अंबेडकर का नजरिया भी सत्य हो सकता है और उसका भी परीक्षण होना चाहिए। इस अहसास के बाद भारतीय इतिहास की एक बेहद सम्मोहक मुठभेड़ की शुरूआत हुई। 'हरिजन' के पन्ने इसके साक्षी हैं। पहले ही अंक में (११ फरवरी १९३३) गांधी और आंबेडकर इस सवाल पर अपने प्रामाणिक दृष्टिकोणों के साथ मुखर हुए। गाँधीजी ने कुछ मुद्दों पर गहराई से विचार किया और बिना किसी शब्दाडंबर के अपनी खरी-खरी शैली में लिखा। उनके सामने आंबेडकर का सवाल था : "आप आंदोलन को केवल अस्पृश्यता के उन्मूलन तक ही क्यों सीमित करते हैं? क्यों न जाति व्यवस्था को ही पूरी तरह समाप्त कर दिया जाए? अगर एक जाति और दूसरी जाति में फर्क है और जाति और अस्पृश्यता में फर्क है, तो क्या यह सिर्फ मात्रा का अंतर नहीं है?"

इस पर गांधी जी का जवाब था – "हिंदुत्व में आजकल अस्पृश्यता का जो आचरण है, वह मेरी राय में ईश्वर और मनुष्य के प्रति पाप है और लिहाजा एक धीमे जहर की तरह हिंदुत्व की शक्ति को नष्ट कर रहा है। भारत में असंख्य जातियां हैं। वे सामाजिक संस्थाएं हैं और किसी समय उन्होंने बहुत उपयोगी भूमिका निभाई थी। शायद आज भी एक हद तक निभा रही हैं।........... उनके होने में कोई पाप नहीं है। वे अपने तहत कष्ट पा रहे लोगों की भौतिक उन्नति की गति धीमी करती हैं। लेकिन आध्यात्मिक उन्नति में जातियां कोई बाधा नहीं है। लिहाजा जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के बीच मात्रा का नहीं, किस्म का अंतर है।"

रेडिकल आलोचकों ने इस विचारों और वर्णाश्रम धर्म में गांधी जी की आस्था पर हमला किया है। उनका मानना है कि ये विचार उनके अनुदार सामाजिक दर्शन के केंद्र में हैं। एक तरह से, गाँधी की ये बातें जातियों में बराबरी के संबंध में एक वक्तव्य की तरह ली जा सकती हैं। इनसे हिंदू उदारवादियों के बहुमत को कोई कठिनाई भी नहीं होगी। खासतौर पर उच्च जातियों और मध्य जातियों के बुद्धिजीवी जाति व्यवस्था के सकारात्मक पहलुओं की इस प्रकार परिभाषा करना पसंद करेंगे कि जातियां अपने सदस्यों को एक पहचान की अनुभूति तो देती ही हैं। अंतर्राष्ट्रीय पूंजी की समरूपीकरण करने वाली प्रवृत्तियों के संदर्भ में निस्संदेह जाति व्यवस्था की इन खूबियों के सकारात्मक असर की भूमिका उभरती है। लेकिन दलितों के दृष्टिकोण से तस्वीर बिल्कुल उल्टी है। उन्हें एक पहचान देने और सुरक्षा प्रदान करने के बजाए जाति व्यवस्था लगातार उन पर तिरस्कार और अपमान थोपती रहती है। पहचान का मामला तो उनके लिए एक ऐसा कलंक है जिसे आसानी से मिटाया नहीं जा सकता। इस पृष्ठभूमि में देखें तो जाति व्यवस्था के बचाव या उसे सकारात्मक दिखाने का

कोई भी प्रयास दलित आंदोलन के नजरिए से संदिग्ध हो जाता है। बाबा साहेब ने 'हरिजन' के पहले अंक में यही दृष्टिकोण मुखरित किया था–

"अछूत जाति व्यवस्था का ही एक उपउत्पाद है। अछूत रहेंगे क्योंकि जातियां बरकरार हैं। जाति व्यवस्था के विनाश के सिवाय अछूतों के उद्धार का कोई रास्ता नहीं है। आगामी संघर्ष में इस घिनौनी कट्टरता को मिटने के अलावा हिंदुओं को बचाने और उनका अस्तित्व सुरक्षित रखने का कोई और रास्ता नहीं है।"

यह संक्षिप्त वक्तव्य गांधी जी से मतभिन्नता के संदर्भ में था लेकिन दिलचस्प बात यह है कि पिछले दो दशकों से भी ज्यादा समय से यह दलित आंदोलन का सूत्रवाक्य बना हुआ है। इस वक्तव्य के अभिप्राय से दलित आंदोलन को ऐसी विशिष्ट पहचान मिली जो शूद्रों द्वारा जताई गई असहमति के अन्य रूपों से अलग हैं। गांधी जी द्वारा जाति व्यवस्था की वकालत की तीस के दशक में ही तगड़ी आलोचना हुई थी। वे इस बयान को पूरी तरह कभी त्याग नहीं सके पर इस दशक के मध्य में उन्होंने जाति व्यवस्था की कुछ आलोचनाओं की वैधता को स्वीकार कर लिया था। वामपंथी गांधीवादियों में सबसे ज्यादा कल्पनाशील नेता राम मनोहर लोहिया ने जाति व्यवस्था के प्रभावों की कुछ श्रेणियों में विवेचना की जो आंबेडकरवादी संदर्भों के ज्यादा निकट है। गांधीजी आधुनिक सभ्यता की अमानवीय प्रवृत्तियों के प्रति अपनी नापसंदगी के कारण जाति आधारित समाज की वैसी ही खतरनाक संरचनाओं के प्रति कुछ नरम पड़ गए थे। दूसरी ओर, लोहिया को जाति व्यवस्था के बारे में कोई खुशफहमी नहीं थी। लिहाजा वह पारंपरिक भारत में होने वाले अन्यायों और उन्हें जारी रखने की तकनीकों को समझने के लिए बेहतर ढंग से एक सिद्धांत विकसित कर पाए।

इस सिलसिले में गांधी जी और अन्य आमूल परिवर्तन वादियों के बीच मतभिन्नता के मुद्दे पर भी चर्चा की जा सकती है। गांधी जी को जाति व्यवस्था के 'संघटक नियमों' में कोई कमी नहीं दिखती थी। उनका विश्वास था कि गड़बड़ी जाति व्यवस्था विनियमन अथवा लागू करने में है। उनका ख़याल था कि इसे केवल एक शक्तिशाली आंदोलन ही सुधार सकता है और इस तरह जाति व्यवस्था की तेजस्विता को फिर से प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आमूलवादी लोग इस राय से सहमत नहीं थे। जाति व्यवस्था के संघटक नियमों और अमल का अंतर न तो नैतिक रूप से तर्कसंगत था न दार्शनिक रूप से। इसका विकल्प केवल एक ही था। ऐसे नए नियमों को परिभाषित करना जो पुरानों को हर स्तर पर प्रतिस्थापित कर दें। दिलचस्प बात यह है कि आंबेडकर ने जाति व्यवस्था के संघटक नियमों की गांधीवादी परिभाषा तो ठुकरा दी थी, लेकिन इस पूरे खेल में उन्होंने बापू के बताए नियमों के मुताबिक ही हिस्सा लिया। यह बाबा साहेब और उनके अनुयायियों के नेतृत्व में हुए मंदिर प्रवेश आंदोलनों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। इस सिलसिले में दो

सत्याग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं– पहला १९२९ में पूना के पार्वती मंदिर में प्रवेश का सत्याग्रह और दूसरा १९३०–३५ के दौरान नासिक के कलाराम मंदिर में प्रवेश का सत्याग्रह। यद्यपि पार्वती मंदिर आंदोलन में आंबेडकर स्वयं उपस्थित नहीं थे पर उस आंदोलन के प्रेरणा स्रोत वही थे। एलीनर जिलियट ने इसके महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा है–"यह प्रयास गांधीवादी शैली में था लेकिन न तो गांधी जी और न ही कांग्रेस ने इसे मंजूरी दी थी। गांधी जी का नाम तो नहीं लिया गया था लेकिन सत्याग्रह की प्रेरणा और उसका तरीका निस्संदेह गांधी जी की ही देन था। आंबेडकर और स्थानीय महार नेताओं द्वारा आयोजित कलाराम सत्याग्रह में प्रवेश और सालाना जुलूस में शामिल होने के प्रयासों में हजारों अछूतों ने हिस्सा लिया। पूना के पार्वती मंदिर सत्याग्रह की ही तरह यह भी असफल रहा। कलाराम सत्याग्रह के फलस्वरूप न सिर्फ सत्याग्रह और कांग्रेस से उनका मोहभंग हुआ, बल्कि हिंदुत्व के नकार की भावना भी प्रबल हुई। इसके साथ–साथ अछूतों में उस समय पनप रहे पृथकतावादी राजनीतिक दृष्टिकोण को भी मजबूती मिली।"

आंबेडकर इस मंदिर प्रवेश आंदोलन की प्रतीकवादी राजनीति के अंतरनिहित अंतरविरोधों की ओर ध्यान खींचने में सफल रहे। इस आंदोलन का अध्ययन मौजूदा दलित आंदोलन के लिए भी प्रासंगिक होगा क्योंकि मंदिर प्रचलित हिंदूवाद के केंद्र में बरकरार है।

यहां थोड़ा ठहरकर हम मंदिर संबंधी प्रतीकवाद और उससे गांधीजी के संबंध पर चर्चा करेंगे। हिंदू संस्कृति में देवालय (मंदिर) सदा से आध्यात्मिक आनंद का स्रोत और भौतिक शक्ति का प्रतीक रहा है। १२वीं शताब्दी में कर्नाटक के वीरशैव आंदोलन के महान संत नेता बासवन्ना ने सत्ता के उपकरण बतौर देवालय की अवधारणा को ही नकार दिया था। उन्होंने मानव शरीर को ही मंदिर के रूप में माना लेकिन वैष्णव लोग इस मसले को अलग तरह से देखते हैं और उनके प्रतीकवाद में मंदिर का महत्वपूर्ण स्थान है। मंदिर के प्रति गांधी जी का रवैया अस्पष्ट था जो मंदिर से उनके वैष्णव लगाव और उसके अद्वैत नकार के बीच गहरे संघर्ष को दर्शाता है। 'हरिजन' (८ जुलाई १९४४) के अंक में गांधी जी ने लिखा, "मैने हमेशा ईश्वर को निराकार माना है।" महत्वपूर्ण बात यह है कि देवालय प्रवेश के आंदोलन के दौर में गांधी जी बहुत कम बार मंदिर गए। गांधी जी में दो व्यक्तित्व मौजूद थे– पहला, वासवन्ना की तरह रेडिकल अध्यात्मवादी जो मानव शरीर को ही मंदिर मानता है और दूसरा–एक आधुनिक आंदोलनकारी जो ऐतिहासिक घटनाओं का रूख बदलना चाहता है। उन्होंने इन दोनों व्यक्तित्वों के संश्लेषण का प्रयास तो किया लेकिन उसमें हमेशा सफल नहीं हुए। इस संबंध में कई बार छोटी–छोटी नाकामियां उनका उपहास उड़ाने वाले रूप में सामने आईं। वास्तव में रेडिकल आध्यात्मवादियों के मंदिर विरोधी दृष्टिकोण और मंदिर के प्रति आदर रखने वाले वैष्णव नजरिए में संगति संभव नहीं थी। शायद गांधी जी इस विसंगति को समझ गए थे इसीलिए उन्होंने इन दोनों स्थितियों में

संश्लेषण का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने संघटक और विनियमनकारी तत्वों के बीच अंतर स्थापित करने की विधि का प्रयोग किया। यह मंदिर की अध्यात्मिक सार्थकता को बचाने के साथ–साथ उसके अपक्षय की प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाने का एक जटिल प्रयास था। इसकी एक बानगी 'हरिजन' (११ मार्च, १९३३) में दिखती है–

"पत्थर और ईट–गारे के मंदिर इन मानव मंदिरों के प्राकृतिक विस्तार के अलावा कुछ नहीं हैं। हालांकि अपनी संकल्पना में वे निस्संदेह ईश्वर के घर हैं। लेकिन मानव मंदिरों की ही तरह उन पर क्षय के वही नियम लागू होते हैं।"

लेकिन गांधीजी के आलोचक उनके इस प्रयास से संतुष्ट नहीं हुए। आश्चर्य की बात तो यह है कि देवालय प्रतीकवाद के प्रति गांधीजी के अप्रामाणिक सम्मोहन से असहमति जताने वालों में रवींद्रनाथ टैगोर भी थे। उन्होंने गांधी जी को एक जवाबी पत्र लिखा जो 'हरिजन' (एक अप्रैल १९३३) में छपा। उन्होंने लिखा : "प्रिय महात्माजी, यह कहना अनावश्यक है कि एक विशेष समूह द्वारा शोषण के प्रयोजन से देवत्व को ईट–गारे के मंदिर में कैद करने का विचार मुझे कतई पसंद नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि सरल हृदय के लोग ईश्वर के अस्तित्व को खुली हवा में, बिना किसी कृत्रिम व्यवधान के, महसूस कर सकते हैं।" इसके बाद गांधीजी ने मंदिरों पर अपनी स्थिति के बारे में और सफाई नहीं दी।

गाँधी जी ने हिंदू प्रतीकवाद और देवालय प्रवेश को जिस तरह जोड़ा था, उसे दो धाराओं के मिलाप के रूप में भी देखा जा सकता है– एक पौराणिक व्याख्याकार की भूमिका के रूप में और एक चतुर राजनीतिक नेता के रूप में जिसकी निगाह जनता की तात्क्षणिक प्रतिक्रिया पर रहती है। पौराणिक व्याख्याकारों में हमेशा शास्त्रों और प्रतीकों की पुनर्व्याख्या करने की तीव्र इच्छा रहती है। इस कोशिश में संघटक और विनियमनकारी तत्वों को प्रभावी ढंग से अलग–अलग करना पड़ता है। पौराणिक व्याख्याकार की गतिरुद्ध कल्पना शास्त्रों और प्रतीकों को मनचाहा अर्थ दे सकती है। निस्संदेह, हिंदू प्रतीकवाद से जुड़ाव का गांधीवादी जरिया यही था। गांधीजी में छिपे हुए चतुर राजनीतिक नेता और व्यावहारिक व्यक्ति ने हरिजनों में सशक्त विकल्पों के अभाव में मंदिरों के प्रति गहरी ललक को पहचान लिया था। जैसा मैंने पहले कहा, मंदिर सदैव आध्यात्मिक आनंद के स्रोत और भौतिक गर्व के प्रतीक रहे हैं। दलित लोग अपनी नई पहचान पर बल देने के लिए प्राय: मंदिरों में प्रवेश और अन्य धार्मिक अधिकारों में समानता की मांग करते हैं। ये दोनों पहलू उनके लिए एक तीखे यथार्थ की तरह रहते हैं। दूसरी तरफ, जब भी कोई धार्मिक परंपरा दलितों के आत्म सम्मान को ठेस पहुँचाती है, दलित अपनी गरिमा पर बल देने के लिए अपनी पारंपरिक भूमिकाओं को नकार देते हैं। ऐसे मामलों में दलित आंदोलन की स्थिति बहुत सरल होती है– वह आसानी से इस रवैये का समर्थन कर देता है। लेकिन मंदिरों में प्रवेश के संदर्भ में आंदोलन को कई अंतरविरोधों का सामना करना पड़ता है। जिस

प्रतीकात्मक संरचना से लड़ने का उसने प्रण ले रखा है उसी का समर्थन करके दलित आंदोलन एक तरह के अपराध बोध का शिकार हो जाता है। अगर वह मंदिरों की हठपूर्वक अस्वीकृति पर टिका रहे तो मंदिरों को भौतिक सत्ता और गौरव के प्रतीक रूप में देखने के महत्वपूर्ण आयाम की अनदेखी होती है। इसके अलावा जन सामान्य से कट जाने का डर तो रहता ही है।

इस समस्या का एक और महत्वपूर्ण आयाम है। एक ही ईश्वर की अलग-अलग माध्यमों और रूपों में आराधना का अधिकार मध्यकालीन भक्ति आंदोलन का मूलभाव रहा है। शिकारी बेदारा कनप्पा की कहानी, जो मध्यकालीन तमिल और कन्नड़ भक्ति साहित्य में उपलब्ध है, इसका एक अनूठा उदाहरण है। वह शिव की 'सामिष' पद्धति से आराधना करता है जिस पर उच्चवर्णी निरामिष पुजारियों को बेहद आपत्ति होती है।

केवल गांधीवाद में आस्था रखने वाले लोग ही मंदिरों में प्रवेश का आंदोलन शुरू करने और उसे जारी रखने की कल्पना कर सकते थे। बाकी लोगों के लिए तो यह ईश्वर में अनास्था का मामला था। गांधीवादी नियमों के मुताबिक आंदोलन करते हुए बाबा साहेब जल्दी ही अनास्था और आंदोलन के विरोधाभासों के बारे में समझ गए क्योंकि वे पहले ही हिंदुत्व की संरचना के भीतर अछूतों की समस्याओं के हल खोजने से जुड़ी शंकाओं से परेशान थे। इसके अलावा, अंबेडकर के व्यक्तित्व में पौराणिक व्याख्याकार वाले तत्व थे भी नहीं । इस अर्थ में देखें तो उनमें पहली पीढ़ी के बौद्धों वाले सभी गुण उस समय भी थे जब उन्होंने औपचारिक रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार नहीं किया था। आंबेडकर की ताकत कठिन ऊहापोह के बजाए सीधे और सरल अर्थ समझने में निहित थी। वे समझते थे कि कम योग्य लोगों के हाथों में व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक प्रक्रिया बड़ी आसानी से अनास्था में बदल सकती है। इसलिए आंबेडकर ने फैसला लेने में देर नहीं लगाई। १९३५ में उन्होंने हिंदुत्व को अलविदा कह दिया।

गौरतलब है कि आंबेडकर की स्थिति इसलिए महत्वपूर्ण नहीं थी कि अछूतों का बहुमत उनके समर्थन में था। इसके ठीक विपरीत, उपलब्ध साक्ष्य बताते हैं कि अछूत दूसरे खेमे की ओर थे। अछूतों के एमसी राजा जैसे प्रभावशाली नेता इस सवाल पर गांधीजी की ओर ज्यादा झुके हुए थे। लेकिन आंबेडकर की निगाह में 'पौराणिक' पक्ष का कोई मूल्य न था। उनका मानना था कि हिंदुत्व अविद्या का ही मूर्तिमान स्वरूप है। और यह कि इसका कायाकल्प कभी नहीं हो सकता।

मंदिरों में प्रवेश के मुद्दे पर गांधीवादी नियमों को स्वीकारने के साथ साथ बाबा साहेब एक वैकल्पिक रास्ता बनाने की कोशिश भी कर रहे थे। इस सदंर्भ में १९२७ का महाड संघर्ष गंभीर चर्चा की मांग करता है। यह संघर्ष अछूतों द्वारा सार्वजनिक जल के

इस्तेमाल से जुड़ा था।। मंदिर और तालाब के बीच जमीन-आसमान का फर्क है और इस संघर्ष की अगुआई के आंबेडकर के तरीके से उनके और गांधी जी के बीच उन दिनों मौजूद अंतर के निर्धारण में मदद मिलती है। आंबेडकर के महाड मॉडल में अस्पृश्यता के प्रश्न को नागरिक अधिकारों का मुद्दा मानने पर जोर था। इस रणनीति का लाभ यह था कि ईसाई, मुसलमान और धर्मनिरपेक्ष लोग भी निजी धार्मिक आग्रहों का उल्लंघन किए बिना इस संघर्ष में समर्थन दे सकते थे। केरल का वाइकम सत्याग्रह ऐसा ही चरित्र पा सकता था लेकिन गांधी जी ने उसे 'धर्म निरपेक्ष' बनाने के प्रयासों का विरोध किया। उनके विचार से यह विशुद्ध रूप से हिंदुत्व का आंतरिक धार्मिक मामला था। आधुनिक लोकतांत्रिक तरीकों की भी इस संबंध में कोई भूमिका नहीं थी। अगर अस्पृश्यता को नागरिक अधिकार का मुद्दा माना जाए तो स्वाभाविक था कि अन्य सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक ताकतें मिल कर धार्मिक दृष्टिकोण के खिलाफ एक मजबूत मोर्चा बना लेतीं। दरअसल, 'हरिजन' के पन्नों में भी यह चुनौती बढ़ती जा रही थी। नतीजतन पूरे समुदाय के संपूर्ण या आर्थिक उत्थान पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा था। खुद गांधी जी ने आगरा के हरिजन सम्मेलन में पास प्रस्ताव को अपने पत्र में दर्ज किया था। उस प्रस्ताव का एक अंश यहां प्रस्तुत है ('हरिजन', २ सितंबर, १९३३)—

"हरिजन आंदोलन में आर्थिक और शैक्षिक समस्याओं के बजाए मंदिरों में प्रवेश की समस्या पर ज्यादा जोर है। मंदिरों में प्रवेश का कार्यक्रम हरिजनों के लिए अभीष्ट नहीं है क्योंकि वह दास मानसिकता, अंधविश्वास और अन्य बुराइयों को जन्म देगा जो हरिजनों की योग्यता को नष्ट कर देगा। पुजारी समाज हरिजनों पर हावी रहेगा। वे पुजारियों के दास बन जाएंगे। लिहाजा यह बेहद जरूरी है कि प्रगति के शैक्षिक और आर्थिक पहलुओं पर ज्यादा ध्यान दिया जाए। अंतरजातीय विवाह और अंतरजातीय भोज इस आंदोलन के कार्यक्रमों में शामिल होने चाहिए।"

इस प्रस्ताव की पहली पंक्ति से सहमत होते हुए भी गांधी जी का आग्रह था— मंदिरों के दरवाले अछूतों के लिए खोले बगैर उत्थान की प्रक्रिया पूरी नहीं होगी। मंदिरों में प्रवेश की छूट का अर्थ होगा हरिजनों की धार्मिक समानता को कबूल कर लेना। अंतरजातीय विवाह और अंतरजातीय भोज की मांग के गांधी जी स्पष्ट समर्थक नहीं थे। वे इन मसलों पर सनातनियों का क्रोध भड़काना नहीं चाहते थे। यहां तक कि अपने बेटे के अंतरजातीय विवाह को रजामंदी देने के बावजूद उन्होंने इस घटना से उपजने वाले स्वाभाविक रेडीकल प्रभावों को हल्का रखने की कोशिश की। गांधीजी के इस ढुलमुलपन ने उन्हें रेडिकलों की निगाह में संदिग्ध बना दिया।

इन तमाम बातों के अलावा, बाबा साहेब को गांधीवादी मॉडल से कई और मूलभूत दिक्कतें थीं। चूंकि गांधी जी ने अस्पृश्यता निवारण के आंदोलन को आत्मशुद्धि की पवित्र

रस्म के रूप में देखा था, लिहाजा इससे उनकी निगाह में सवर्ण हिंदू के 'स्व' पर बहुत बड़ी नैतिक जिम्मेदारी आ गई थी। इस कारण अक्सर एक नैतिक प्रभामंडल बन जाता था जो उन हरिजनों को अभिभूत कर देता था, जो गांधीजी और कांग्रेस की तरफ आकर्षित हुए थे। आजादी से पहले के दिनों में यही हुआ।

समूचे हिंदू 'स्व' के आध्यात्मिक आत्मशोधन की ओर ले जाने में होने वाली तकलीफों ने एक तरह की सार्वजनिक भव्यता ग्रहण कर ली थी और बड़े नफीस ढंग से निजी 'स्व' के महिमामंडन की भूमिका निभाई थी। हिंदू कट्टरता के विरोध में गांधीवादी संघर्ष, साहस और त्याग की गाथाएं उन क्षेत्रों में घर-घर में दोहराई जाती थीं जहां राष्ट्रवादी संघर्ष लोकप्रिय था। अन्य जगहों पर इन्हें दंतकथाओं का दर्जा मिल गया था। इनकी कहीं खिल्ली उड़ाई जाती थी तो कहीं श्रद्धा से देखा जाता था। गांधीवादी दृढ़ता और चरित्रबल ने हरिजनों के हृदय में कृतज्ञता पैदा कर दी थी। सनातनी भी इससे अछूते नहीं रहे। हरिजनों के उत्थान के महान उद्देश्य के लिए गांधी जी के महान उपवास से द्रवित हो कर उत्तर प्रदेश के एक सनातनी ब्राह्मण ने १८ मई १९३३ को पिलखुआ में एक बड़े जनसमूह के सामने एक सरकारी प्राथमिक पाठशाला के शौचालयों की सफाई तक की।

अपराध बोध से ग्रस्त हिंदू 'स्व' को प्रायश्चित के लिए अछूतों की आवश्यकता थी। सवर्ण हिंदू सुधारक के इस नायकत्व ने हरिजन के व्यक्तित्व को और बौना कर दिया। हमारी तमाम भाषाओं का साहित्य ऐसी जटिल किन्तु भावाभिभूत करने वाली घटनाओं से भरा पड़ा है। राष्ट्रवाद के दौर में रचे गए भारतीय साहित्य की यह एक केंद्रीय धारा थी।

आत्मशुद्धि के गांधीवादी कार्यक्रम की हृदयस्पर्शी रूमानियत, पीड़ा और भव्यता में उसकी कमजोरी भी निहित थी लेकिन इससे हरिजनों में एक ऐसा नेतृत्व जरूर उभर आया जो खुद को गांधी जी के अभियान के प्रति कृतज्ञ महसूस करता था। दिलचस्प बात यह है कि गांधीवादी कामों से सारे हरिजन प्रभावित नहीं हुए थे। कई ऐसे आलोचक और शंकालु लोग थे जिन्हें इस कार्यक्रम की यथार्थवादी समीक्षा में काफी दिलचस्पी थी। ताज्जुब की बात नहीं कि 'हरिजन' (४ मार्च, १९३३) के अंक में ही एक ऐसी ही आलोचनात्मक टिप्पणी छपी जिसे गांधीवादी आदर्शवाद के प्रतिबिंदु की तरह लिया जा सकता है। इस टिप्पणी में एक अछूत संवाददाता ने हरिजनों और हिंदू सुधारक के बीच संबंध को यूं बयान किया–

"सभी लोग अभिभावक-सरंक्षक की तरह हमारे पास आते हैं। शायद ही कोई दोस्त और समकक्ष बनकर आता हो, सेवक की तरह आने की बात तो जाने ही दीजिए। आपका प्रांतीय संगठन भी इसका अपवाद नहीं है। किसी हरिजन के लिए इसके मुख्यिा तक बिना डरे और कांपे जाना मुश्किल है।"

गांधीजी ने इस संवाददाता के तीखे लहजे से सहमति जताई थी और स्वीकार किया था कि आंदोलन में आत्ममहिमामंडन की प्रवृत्ति मौजूद है। लेकिन अंततः उन्होंने अपने सुझाए रास्ते को सही ठहराया।

आत्ममहिमामंडन की इस गहन, हृदयस्पर्शी और रूमानी त्रासदी में केवल एक ही नायक की गुंजाइश थी और वह थे खुद गांधी जी। इस रूपक का विस्तार करने पर हम पाते हैं कि यह आध्यात्मिक अलगाव का कष्ट भोगने की उस नायक की क्षमता का परम उत्सव बन चुका था। दुर्भाग्य से इस उत्सव की पटकथा को गांधी जी के सवर्ण हिंदू अनुयायी ही मंचित कर सकते थे। उन्होंने स्वयं स्वीकारते हुए लिखा था कि 'हरिजनों' का मंदिर प्रवेश उतने मायने नहीं रखता था जितना संकीर्णतावादियों को इस विश्वास की ओर प्रवृत्त करना कि हरिजनों को मंदिर में जाने से रोकना गलत है। यही था हृदय परिवर्तन का प्रसिद्ध (या कुख्यात?) सिद्धांत। रेडिकल आलोचकों का आरोप था कि जातिवादी हिंदू का हृदय उसकी जमीन, संपत्ति, धन और सामाजिक-राजनीतिक सत्ता में बिखरा हुआ था और इन सभी में बदलाव के बिना जातिवादी हिंदुओं का हृदय परिवर्तन करना कठिन है। १९३३ के शुरूआती महीनों में गांधीजी इस राय से कतई सहमत नहीं हो सकते थे लेकिन उन्होंने इस पर गहराई से सोचना शुरू कर दिया था।

दार्शनिक तौर पर भी गांधीवादी मॉडल ने जातिवादी हिंदू 'स्व' को अंतर्मुखता की जटिल बुनावट में उलझा दिया था। यह मॉडल जिस तरीके से एक आत्मसचेत हिंदू सुधारक को कट्टरपंथ के खिलाफ संघर्ष के पवित्र कर्मकांडों में दीक्षित करता था। उससे पैदा होने वाले तनाव के माहौल में कांग्रेस के हरिजन नेताओं को अपने लिए व्यवहार का कोई तरीका उपलब्ध करने की गुंजाइश न के बराबर थी। यह मूलतः शास्त्र सम्मत सीमा थी– रामायण में सुग्रीव, हनुमान या निषादराज नायक राम को हटा कर प्रमुख भूमिका निभाने की सोच भी नहीं सकते क्योंकि नायक तो केवल राम ही थे। लेकिन आंबेडकर कभी हनुमान और सुग्रीव की भूमिका से संतुष्ट नहीं रह सकते थे।

यह कहना बहुत मुश्किल है कि गांधीजी ने आत्मशुद्धि की प्रक्रिया के नतीजों की प्रकृति के बारे में सोचा था या नहीं। कांग्रेस का हरिजन नेतृत्व बेहद नरम और आज्ञाकारी निकला। यह ग्रामीण समाज पर पारंपरिक रूप से प्रभुत्व जमाए बैठी शक्तियों के लिए बहुत सुखद था। कैसा विरोधाभास था कि गांधी जी ने तो हिंदू समाज की बुनियादों को चुनौती दी और उन्हें हिला देना चाहा लेकिन कांग्रेस का हरिजन नेतृत्व सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के लिए कोई वास्तविक चुनौती नहीं बन पाया। गांधीजी के प्रताप से अभिभूत यह हरिजन नेतृत्व अधिकांशतः धार्मिक हिंदू ही बना रहा। दुर्भाग्यवश, इसी कारण गांधीवादी हरिजन नेतृत्व की बुजुर्ग पीढ़ी की कई खूबियाँ,मसलन–नैतिक दृढ़ता, भ्रष्ट न होना, अपने समुदाय से जमीनी जुड़ाव और सामान्य समझदारी का मूल्य नहीं समझा जा सका। दलितों

की नई पीढ़ी ने तो इन खूबियों का उपहास तक किया।

प्रायश्चित के इस गांधीवादी तरीके की त्रासदी यह भी थी कि अलग–अलग लोगों के लिए उसका अलग–अलग अर्थ था। आदर्शवादी हिंदू के लिए यह एक सलीब की तरह था जिसे ढोने के अलावा कोई चारा न था। क्रुद्ध दलितों की राय में यह तिरस्कृत समुदायों की उग्र ऊर्जा को पालतू बनाने का नफीस तरीका था। उधर, अनुदार हिंदू ताकतों के लिए यह दमनात्मक सहनशीलता, काफी प्रतिरोध के बाद का एक कठिन अभ्यास था।

इस हाल में आंबेडकर के पास गांधीवादी मॉडल अस्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं था। वे समझ गए थे कि इस मॉडल ने हरिजनों को आत्मशुद्धि की एक रस्म के तहत वस्तुओं के रूप में बदल दिया था। और यह रस्म अदायगी भी वे लोग कर रहे थे जिनकी अपने 'स्व' को लेकर बृहत्तर नायकीय कल्पनाएं थीं। इतिहास के रंगमंच पर, ऐसी पटकथा वाले नाटक में अछूत लोग कभी अपने ढंग से नायक नहीं बन सकते थे। वे नायक के अस्तित्ववादी क्रोध और निराशा (शायद महिमा भी) को प्रतिबिंबित करने वाले आइने भर रहने के लिए अभिशप्त थे।

गांधी जी ने अस्पृश्यता के सवाल से एक खास ढंग से निपटने में अपना पूरा जीवन दांव पर लगा दिया था। उनकी राय में मूलतः यह एक धार्मिक अधिकार का मामला था। आंबेडकर ने आरंभ से ही इसका विरोध किया। दरअसल, गांधी जी का पूर्ववर्ती अनशन इस सवाल से निपटने के वैकल्पिक तरीकों के विरोध में था। मई १९३३ के दूसरे अनशन की महत्ता को इसी पृष्ठभूमि में समझना होगा। पहले अनशन में उद्देश्य बिलकुल साफ थे। वे अछूतों की समस्या को औपनिवेशिक संदर्भ में आधुनिक लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की भाषा में व्यक्त करने के प्रयासों के विरूद्ध थे। गांधी जी का गंभीरतापूर्वक मानना था कि ऐसी अभिव्यक्ति दबे–कुचले वर्गों के 'प्राकृतिक विकास ' को रोक सकती थी और शोषण करने वालों को अपने अंदर संशोधन करने की प्रक्रिया को हतोत्साहित कर सकती थी। यह विचार लोकतांत्रिक समाज से अनिवार्यतः भिन्न एक सावयवी (आर्गेनिक) समुदाय के होने में दृढ़ विश्वास का नतीजा था। सावयवी समुदाय की धारणा नवजागरण के बाद की यूरोपीय विचारधारा में एक पसंदीदा विषय रहा है। गांधीजी के लिए इसका विशेष आकर्षण था। उनका मानना था कि इस समाज के अंतरविरोध ऐसे नहीं हैं जिनमें तालमेल न बिठाया जा सके। सावयवी समुदाय की संरचना में स्वाभाविक प्रतिरोध की गुंजाइश होती है जो समस्याओं के समाधान के स्वाभाविक तरीकों का रास्ता खोलता है। इसमें आसानी यह रहती है कि अंतरविरोधों के हल का यह तरीका समाज की बुनावट को तार–तार नहीं होने देता। लेकिन आंबेडकर इस विचार और सामाजिक रूपांतरण की ऐसी रणनीतियों से पूर्णतः असहमत थे। ए बी ठक्कर को लिखे एक पत्र में उन्होंने १९३२ में उठे नागरिक अधिकारों, सामाजिक और आर्थिक मामलों में समान भागीदारी के अवसर जैसे सवालों पर अपना

नजरिया साफ कर दिया था। गांधी जी का पहला अनशन दरअसल इसी नजरिए के विरोध में था।

अपने दूसरे अनशन (मई, १९३३) के बारे में सबसे पहले वक्तव्य में गांधी जी ने घोषित किया था कि उनका यह अनशन विशेष तौर पर अपने ही खिलाफ है। उन्होंने अपने भीतर उठ रहे उस झंझावात की पृष्ठभूमि का खुलासा किया जिसकी वजह से वे २१ दिन बिना शर्त अनशन पर रहे। गांधी जी ने कहा–

"पिछली सितंबर से लेकर अब तक सभी महीनों के दौरान मैं हरिजनों, गैरहरिजनों, ज्ञानियों–अज्ञानियों और स्त्री–पुरूषों से लंबी चर्चाएं करता रहा हूँ और पत्र–व्यवहार व साहित्य का अध्ययन करता रहा हूँ। जितना मैंने सोचा था, उससे यह समस्या कहीं ज्यादा बड़ी है। इसे धन, बाह्य संगठन और राजनैतिक सत्ता से भी नहीं मिटाया जा सकता, यद्यपि हरिजनों के लिए ये तीनों आवश्यक हैं। लेकिन प्रभावी होने के लिए इन्हें आंतरिक स्वास्थ्य, आंतरिक संगठन और आंतरिक शक्ति जगाने की चेष्टा करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्हें आत्मशुद्धि करनी चाहिए। यह केवल उपवास और प्रार्थना से ही हो सकती है। हम सत्य के देवता तक शक्ति के मद में नहीं, दुर्बल और असहाय की विनम्रता के सहारे ही पहुँच सकते हैं।

लेकिन इच्छाशक्ति रहित शारीरिक उपवास निर्रथक है। इसमें आंतरिक उपवास की निष्कपट स्वीकारोक्ति तथा सत्य और केवल सत्य को अभिव्यक्त करने की अभिलाषा होनी चाहिए। इसलिए, केलव वहीं लोग सत्य की खातिर उपवास के पात्र हैं जिन्होंने इसके लिए काम किया है और जिनमें अपने शत्रुओं के लिए भी प्रेम है, जो पाशविक आवेग से मुक्त हैं और जिन्होंने भौतिक संपत्तियों और महत्वाकांक्षाओं को त्याग दिया है।"

गांधी जी का यह वक्तव्य अपनी अंतर्धाराओं के सांकेतिक अर्थों की जटिलता से भरपूर है। जब गांधी जी कहते हैं कि अस्पृश्यता का निवारण धन, बाह्य संगठनों और यहां तक कि राजनैतिक सत्ता से भी नहीं होगा तो वे डा. आंबेडकर को ही आध्यात्म वादियों की भाषा में व्यक्त कर रहे होते हैं आध्यात्मवादी ऐसे प्रयासों को भौतिक प्रगति प्राप्त करने के रूप में देखते हैं। आर्थिक अवसर का विचार धन के रूप में व्यक्त होता है जब कि नागरिक अधिकार और सामाजिक भागीदारी राजनैतिक सत्ता के रूप में। संयोग से, इन्हीं तीनों को आंबेडकर की प्रमुख प्राथमिकताओं के तौर पर परिभाषित किया गया है। विपक्षी के नजरिए को बहस करते समय अभिव्यक्त करना आम तौर पर पेचीदा साबित होता है। यहीं आकर वाद–विवाद में रत भारतीयों के तर्कों का हुलिया अक्सर हद से ज्यादा बिगड़ जाता है। लेकिन गांधीजी यहां पर बड़ी कुशलता से अपने विपक्षी को नष्ट कर देते हैं और इसके लिए वे तर्क की बारीकियों का सहारा भी नहीं लेते। इसके लिए वे अपने प्रतिपक्षी के

दृष्टिकोण को उसके मूलतत्वों में सीमित करके दिखाते हैं। लेकिन गांधीजी वितंडावादी नहीं थे। अगर प्रोफसर वी के मतिलाल को २०वीं सदी में वितंडावाद का प्रयोग करने वालों का इतिहास लिखना पड़े तो उसमें बापू की जगह कहीं नहीं होगी। इस सूची में लेनिन अग्रणी होंगे क्योंकि उन्होंने द्वंद्वात्मक चिंतन की प्रतिभा अपने गुरु मार्क्स से पाई थी। प्रोफेसर मतिलाल सहित कई लेखकों ने भारतीय दर्शन पर लिखते समय वितंडावाद का द्वंद्वात्मक विधि के तौर पर भी जिक्र किया है।

कुछ भी हो, गांधी जी ने एक अलग रास्ते से अपना लक्ष्य हासिल किया। अपने प्रतिपक्षी के नजरिए को मूल तत्वों में सीमित कर उसे तुच्छ और नगण्य बना दिया। आंबेडकर ने अपनी असहमतियों को मजबूत करने के लिए जो आध्यामित्क तर्क जुटाए थे, उनकी वैधता को इस प्रक्रिया ने नकार दिया। कहने का आशय यह है कि गांधी जी ने आंबेडकर के व्यक्तित्व के उस आयाम को नजरअंदाज करना बेहतर समझा। गांधीजी की राय में आंबेडकर का भौतिकवादी दृष्टिकोण उनकी कमजोरी थी जबकि आंबेडकर आध्यात्मिकता को गांधी जी की कमजोरी मानते थे। जाहिर है कि इन्हीं रवैयों के कारण दोनों व्यक्तियों में भौतिकवाद और अध्यात्म की एक साथ उपस्थिति पर परदा पड़ा रहा। यह गांधी–आंबेडकर विवाद के मानक तय करने के मामले में निर्णायक प्रश्न था। उपरोक्त उद्धरण में गांधी जी द्वारा सत्य के देवता के संदर्भ में कही गई पंक्ति को दोहराने से यह साफ हो जाएगा कि उनमें (आंबेडकर से) इस भिडंत के जरिए सीखने की प्रबल इच्छा और दृढ़ विश्वास था। गांधी जी ने स्वीकार किया था, "हम सत्य के देवता तक शक्ति के मद में नहीं पहुँच सकते", इसलिए दूसरों से चर्चाएं, मशविरे जरूरी हैं।

मेरा ख़याल है कि गांधी जी के इन दो युगांतरकारी उपवासों में महत्वपूर्ण अंतर है। पहले उपवास में गांधी जी (आंबेडकर से) जीतना चाहते थे जबकि दूसरा उपवास सत्य की खोज के लिए था। उनमें शक्ति का मद या तो उस समय तक रह नही गया था या उसे नष्ट करना उनके उपवास का उद्देश्य था। बाह्य संघर्ष का आंतरिक संघर्ष में रूपांतरण पूरा हो गया था। वह प्रदीप्ति का ऐसा क्षण था जहां बाहरी और भीतरी जगत का अंतर मिट जाता है। गांधी जी के इस अनुभव की तुलना 'ज्ञानेश्वरी' में अर्जुन की कृष्ण के विश्वरूप दर्शनों के बाद की स्थिति से की जा सकती है।

आंबेडकर कहते थे कि मंदिरों में प्रवेश के आंदोलन के सिलसिले में गांधी जी का उत्साह तीस के दशक में ही बुझ गया था 'कांग्रेस और गांधी जी ने अछूतों के लिए क्या किया' नामक किताब में उन्होंने इस सिलसिले में कुछ नाराजगी भरी टिप्पणियाँ की है। ठोस ऐतिहासिक साक्ष्यों के स्तर पर आंबेडकर का कथन सच है और गांधीवादियों के कार्यक्रम में एक निश्चित बदलाव देखा जा सकता है।'हरिजन' के एक अंक (२८ दिसंबर, १९३०) में सी. राजगोपालचारी ने तो एलान भी कर डाला– "अस्पृश्यता अभी समाप्त नहीं हुई है

लेकिन क्रांति सचमुच समाप्त हो चुकी है। अब सिर्फ मलबा हटाना बाकी रह गया है। छूआछूत का राक्षस मारा जा चुका है।" इस कथन में निहित भोलेपन पर ताज्जुब होता है और राजगोपालाचारी जैसे राजनीतिज्ञ का यह कथन तो इस उलझन को और मुश्किल बना देता है।

इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि गांधी जी और आंबेडकर ने एक दूसरे को रूपांतरित कर दिया था। गांधी जी ने हरिजनों के उत्थान की परिभाषा और उसके दायरे का विस्तार किया था। अब वह सिर्फ अस्पृश्यता का सवाल नहीं रह गया था। गांधी जी ने आंबेडकर से आर्थिक स्थिति पर बल देने का मुद्दा लिया जबकि आंबेडकर ने इस आंदोलन में धर्म की महत्ता को अंगीकार किया। गांधी जी ने आर्थिक उत्थान की प्राथमिकता को स्वीकारा और उसे ग्रामीण भारत के कायाकल्प का सवाल बना दिया। गांधी जी के इस बदलाव पर गैर गांधीवादी दलितों ने बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क–वितर्क किए। दूसरे शब्दों में, गांधी जी ने एक ऐसा संपूर्णतावादी जीवन दर्शन प्रतिपादित करना चाहा जिसका आलंब हरिजन संबंधी प्रश्न हों। लेकिन इस बदलाव को आंबेडकर के प्रभाव के बजाय एक सफल क्रांति की समाप्ति का फल बताया गया। गांधी जी ने खुद हरिजनों के उत्थान का दायरा विस्तृत करने की व्याख्या की (२१ दिसंबर १९३४):

"कुछ पाठकों ने 'हरिजन' के स्तंभों में ग्रामोद्योग योजना के विकास से जुड़ी बातों की भरमार पर एतराज जताया है जबकि कुछ लोगों ने प्रस्तुति की एकरसता में इस तब्दीली का स्वागत किया है। शायद दोनों ही मत जल्दबाजी में प्रकट किए गए हैं। गांव के कल्याण से जुड़ी किसी भी समस्या का हरिजनों से संबंध आवश्यक है। हरिजन पूरे भारत की जनसंख्या का छठा हिस्सा हैं। अगर किसी गांव को अच्छा आटा–चावल मिलेगा तो बाकी जनसंख्या की ही तरह हरिजन भी इस बदलाव से लाभांवित होंगे। लेकिन उनके लाभान्वित होने का विशेष अभिप्राय है। चर्म शोधन और खालों के पूरे काम पर उनका एकाधिकार है। नई योजना में आर्थिक तौर पर इस काम का सबसे ज्यादा हिस्सा रहेगा।"

गांधी–आंबेडकर के विवाद का आधार ऐसे ही मुद्दों ने तैयार किया। लेकिन वर्तमान के नजरिए से, इन दोनों का संश्लेषण आवश्यक है। ऊपर–ऊपर इन दोनों में काफी तीखी वैचारिक भिड़ंत होती थी लेकिन आधारभूत स्तर पर दोनों एक दूसरे के पूरक थे। इन दोनों महान व्यक्तियों के बीच मतभेदों को नजरअंदाज करना बहुत कठिन है लेकिन वर्तमान की आवश्यकताएं हमें उनके बीच साम्य तलाशने के लिए मजबूर कर रही हैं। एक दूसरे से अलग और एक दूसरे को खारिज कर सकने वाले दो दृष्टि बिंदुओं के खंडन का यह काम बड़ा विकट है। नागार्जुन की बौद्ध द्वंद्वात्मक पद्धति के मुताबिक उस स्थिति की व्याख्या करें तो हम पाएंगे कि गांधी और आंबेडकर दोनों ने अपना दृष्टिकोण और कठोर बना लिया था और इस प्रकार यथार्थ की सही प्रकृति की अनदेखी की थी।

तो, अंतिम विश्लेषण में हम गांधी जी से क्या ऐसा कुछ सीख पाते हैं जो दलित आंदोलन के लिए महत्वपूर्ण ढंग से प्रासंगिक हो? अछूतों की मुक्ति सहज रूप से ग्रामीण भारत के उद्धार से जुड़ी हुई है। और इसका उल्टा भी उतना ही सच है। इस संदर्भ में, हरिजनों की समस्या को पूरे गांव के कायाकल्प से जोड़ने के गांधीवादी विचार की काफी प्रासंगिकता है। अलबत्ता, इस उत्साह को दलित दृष्टिकोण के अनुरूप थोड़ा बदलने की जरूरत भी है क्योंकि अछूतों के लिए गांव नरक कुंड की ही तरह हैं। लेकिन कोई दूसरा विकल्प भी तो नहीं है। गांवों को उनके रहने लायक जगह बनाना ही पड़ेगा। दूसरे शब्दों में ग्रामीण भारत की गांधीवादी स्वीकृति को आंबेडकरवादी संशय से धारदार बनाने की जरूरत है, खासतौर पर हरिजनों के आर्थिक उत्थान की कुछ गांधीवादी रणनीतियों के संदर्भ में। खादी कार्यक्रम गांधी जी ने इसीलिए बड़े महत्वाकांक्षी ढंग से शुरू किया था क्योंकि सीधी-सादी कताई-बुनाई हरिजनों की खासियत थी। (हरिजन, २७ अक्टूबर, १९३३)। इस तरह के कार्यक्रमों के शब्दश: पालन की आज आवश्यकता नहीं है। सबसे अच्छा तरीका होगा इन पर पूरी ग्रामीण अर्थव्यवस्था के कायाकल्प के मॉडल के रूप में अमल में लाना और निचली जातियों और अछूतों पर खास ध्यान देना। ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्यक्रम में कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहां गांधी जी ग्रामीण समाज का आदर्श स्थापित करते समय जातिगत मूल्यों की अनदेखी कर बैठे हैं। चर्मशोधन का कार्यक्रम ऐसा ही है। गांधी जी ने इस 'सर्वाधिक उपयोगी और अपरिहार्य उद्योग' पर काफी जोर दिया है (हरजिन, ७ सिंतम्बर, १९३४)। ऐसे विचार कतई स्वीकार नहीं किए जा सकते। दलितों के लिए ऐसे धंधों को छोड़ने की ऐतिहासिक आवश्यकता का अंबेडकरवादी संकल्प अपने प्रभावों में ज्यादा व्यवहारिक और क्रांतिकारी है।

सवर्ण हिंदू मानस में चर्मशोधन का काम अछूतों से अभिन्न रूप से जुड़ा है। दरअसल, यही चीज उनके सांस्कृतिक कलंक का एक प्रमुख स्रोत है। दूसरी तरफ, हरिजनों को गांवों से संपर्क तोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। बल्कि, उन्हें शक्तिशाली बनाने का एक अचूक तरीका यह होगा कि जीवन यापन के स्वतत्र साधनों पर उनका अधिकार रहे। लेकिन इसके लिए अपमानजनक काम-धंधों का सहारा लेना दलितों के दृष्टिकोण से प्रतिकूल होगा। होना यह चाहिए कि गांधी जी के गांव-केंद्रित नजरिए को आंबेडकरवादी संशय के साथ अपनाया जाए ताकि उसकी रूमानियत का इलाज किया जा सके। निचली जातियों के लिए भारत में गांवों के अलावा कोई जगह नहीं है। इसलिए मौजूदा ग्रामीण समाज को रूपांतरित करने की उनकी इच्छा को और मजबूत ही करना चाहिए। गांधी जी ने हरिजनों की बेहतरी के केंद्रीय मुद्दे के इर्द-गिर्द आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विचारों का जटिल तानाबाना बुन दिया था। मौजूदा दलित आंदोलन आज वैसे ही कार्यभार का बोझ उठाने के लिए विवश है। अंतरराष्ट्रीय पूंजी की ताकतें ग्रामीण भारत

को नष्ट करना चाहती हैं। अगर ऐसा हुआ तो निचली जातियां भी आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तौर पर बुरी तरह आहत होंगी। अब अंतिम प्रश्न : गांधी जी ने आंबेडकर को किस तरह और किस हद तक रूपांतरित किया था? बाबासाहेब ने अस्पृश्यता के सवाल को धार्मिक मानने का हमेशा विरोध किया था लेकिन बाद में उन्होंने इस मसले में धर्म के महत्व को स्वीकारा। असल में आंबेडकर ने धर्म के विचार पर वैसे ही अमल किया जैसे गांधी ने आर्थिक उत्थान के मसले पर। दोनों जगह एक क्रम दिखता है– एक तथ्य को स्वीकारना और साथ-साथ बदलते भी जाना। धर्म के महत्व को एक सत्य के रूप में मानना और फिर हिंदुत्व को त्याग देना– दलितों के संदर्भ में आंबेडकरवादी परिवर्तन था। १९३५ में आंबेडकर की येवला घोषणा कि वे एक हिंदू के रूप में नहीं मरेंगे, गांधीवादी पद्धति की वैधता को स्वीकार करने का ही सूचक था हालांकि उन्होंने इस पद्धति को हिंदू धर्म के अंदर ही अपनाने के विकल्प को ठुकरा दिया था। दूसरी ओर, आर्थिक उत्थान को एक प्रभावी उपचार मानते हुए यह स्वीकारना कि एक चुनिंदा समूह के बजाए पूरे गांव का कायाकल्प किया जाए, आंबेडकरवादी नजरिए का गांधीवादी रूपांतरण था। जाति व्यवस्था के प्रति गांधी जी को अपनी नरम स्वीकृति बदलनी पड़ी थी। 'हरिजन' के १६ नवंबर १९३५ के अंक में उन्होंने यह घोषणा की कि जाति को समाप्त होना होगा। इससे उनके पुरातनपंथी समर्थक भौचक्के रह गए थे। उन्होंने अंतरजातीय विवाहों और अंतरजातीय भोज पर पाबंदियों की भी आलोचना की। यह उनके पुराने ढुलमुलपन के मुकाबले बड़ी ताजगो भरी तब्दीली थी।

इतनी चर्चा के बाद यह कहना गैरजरूरी है कि गांधीजी और आंबेडकर एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं, दरअसल, उन्हें ऐसा बनाया ही जाना चाहिए। बेशक, ऐसी कोशिशों का कट्टरपंथी विचारकों और शोधार्थियों द्वारा सख्त विरोध होगा। शायद ये लोग गांधी-आंबेडकर के बीच आग भड़काने के लिए नए सबूत भी खोज निकालें। ऐसी प्रवृत्तियों से मुकाबले के लिए, एक तरीका तो यह है कि ऐसे वैचारिक मतभेदों और मुठभेड़ों की पुनर्व्याख्या की राजनैतिक आवश्यकता को रेखांकित किया जाए। इसके अलावा, एक दार्शनिक आपत्ति भी दर्ज कराई जा सकती है एक ऐतिहासिक तथ्य और उससे भी गहरे ऐतिहासिक सरोकारों वाले सत्य के प्रासंगिक ब्यौरों के बीच प्रत्याश्रित तर्को के आधार पर अंतर करना उचित नहीं है। गहन ऐतिहासिक सत्य के स्तर पर संघर्षों वाले तत्व गायब हो जाते हैं और छुपी हुई एकता सामने आ जाती है। गांधी और आंबेडकर की वैचारिक मुठभेड़ के संदर्भ में, मतभेदों को स्वीकारने और उनके परीक्षण से हम उनके बीच एक गतिशील एकता की सच्चाई तक पहुँचते हैं।

n

जातिव्यवस्था के मूलाधार और जातिविनाश का कार्यक्रम

सुवीरा जायसवाल

जाति व्यवस्था का शुरू से ही सत्ता और वर्चस्व की राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अत: यह समझना कि छुआछूत की धार्मिक अवधारणा समाप्त हो जाने से जाति प्रथा समाप्त हो जाएगी भ्रमपूर्ण है। डा. आम्बेडकर का यह कथन कि 'अस्पृश्यता जाति व्यवस्था का विस्तार है। दोनों का पृथक्करण नहीं हो सकता। दोनों साथ रहेंगे तथा साथ ही समाप्त होंगे', आंशिक सत्य है। यह तो सही है कि पिछड़े जनसमूहों को अस्पृश्य का दर्जा जाति प्रथा के कठोरतम, उत्पीड़क स्वरूप का विस्तार है, परन्तु जाति व्यवस्था की मूलभूत विशेषताएं–वंशानुगत पेशे, आंतर विवाह (एण्डोगेमी) और सोपानबद्ध जातिसमाज 'अस्पृश्य' जातियों के अस्तित्व में आने से पहले ही उत्तर वैदिक वर्णव्यवस्था की प्रकृति बन चुकी थी और उसी चौखटे में समूहों के संविलयन और विखण्डन की प्रक्रियाओं से सोपानबद्ध जातियां उभरीं। जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की अवधारणा का कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है यद्यपि डयूमों ऐसा ही मानते हैं। उन्होंने मार्क्स के इस कथन की, कि आधुनिक उद्योग और रेलवे यानी यातायात के नये तरीके भारत की जाति व्यवस्था को खत्म कर देंगे, आलोचना करते हुए लिखा कि इन सबके होने के बावजूद जातियां आज भी वर्तमान हैं और अस्पृश्यता अभी भी प्रभावी है क्योंकि जाति प्रथा का आधार शौच और अशौच की धार्मिक भावना है। डयूमों का मत है कि लोगों के वास्तविक और अवलोकनीय व्यवहारों का आधार उनके मूल्यबोध अथवा मानसिकता होती है। जाति व्यवस्था भारतीयों की पवित्र और अपवित्र की द्विचर प्रतिकूलता (binary opposition) पर आधारित सामाजिक सोपान की नैसर्गिक अवधारणा की उपज है। इसमें समाज की बुनियादी एकता के लिए व्यक्तिवादिता की बलि दी गयी और एक स्पर्धारहित प्रणाली का निर्माण हुआ जिसकी समरसता के लिए व्यक्ति को पहल की सुविधा से वंचित रखा गया। इस प्रकार भारतीय मानसिकता पाश्चात्य मानसिकता के बिल्कुल विपरीत है क्योंकि पश्चिमी मानसिकता समतावादी और व्यक्विादी है और व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा तथा पहल को बढ़ावा देती है।

ड्यूमो का जाति माडेल इस नींव पर खड़ा है कि इसमें ब्रह्म यानी धर्मसत्ता (hierarchical status) और क्षात्र यानी लौकिक सत्ता (secular power) को बिल्कुल अलग अलग रखा गया है और लौकिक सत्ता का दर्जा धर्मसत्ता के नीचे है। परन्तु वास्तव में ब्रह्म और क्षात्र वर्ग का पृथक्करण वैदिक आर्यों की पशुचारण व्यवस्था का अंग था। पशुपालन पर निर्भर अनेक जनजातियों में देखा गया है कि उनमें दो प्रकार के विशेषज्ञ वर्ग प्रमुख रूप से उभर आते हैं, एक तो पुरोहित वर्ग जो अपनी जनजाति का योगक्षेम आनुष्ठानिक कार्यों द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर पशुधन की रक्षा और वृद्धि द्वारा सुनिश्चित करने का दावा करता है, दूसरा योद्धा वर्ग जो अपनी जनजाति के जान और मान की रक्षा करता है और अन्य जनजातियों पर हमला कर उनके पशुधन जीत कर अपने कबीले की सम्पन्नता में वृद्धि करता है। हिन्दी आर्यों में ये दो वर्ग ब्रह्म और क्षात्र के रूप में उभरे और जनजातीय समाज के विघटन और संविलयन तथा क्षेत्रीय राज्यों के अभ्युदय की प्रक्रिया में वंशानुगत बन गये। भारत के दीर्घकालीन इतिहास में सातत्य है। परम्पराओं में परिवर्तन तभी होता है जब भौतिक परिस्थितियां उनके प्रतिकूल हों। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में तो अक्सर क्षत्रिय को ब्राह्मण से ऊँचा दर्जा दिया गया है। यदि जातिप्रथा आज भी वर्तमान है तो इसका मतलब यह नहीं कि यह भारतीय मानसिकता की देन है। डयूमों स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिक परिस्थितियों में शौच अशौच सम्बन्धी विधि निषेध काफी ढीले पड़ गये हैं, जातियों के पदानुक्रम का एहसास भी कम से कम शहरों में काफी शिथिल हो गया है और जाति व्यवसाय निर्धारित नहीं करती। यानी डयूमों की थीसिस का मूल आधार 'पवित्र–अपवित्रता की द्विचर प्रतिकूलता' ही विलीन हो रही है। फिर भी वे यह कहते हैं कि जाति का मूलभूत चरित्र, इसका धार्मिक आधार अक्षुण बना हुआ है। जो परिवर्तन हुए हैं वे इसके लचीलेपन की ओर इंगित करते हैं परन्तु इसका धार्मिक आधार सजातीय विवाह में देखा जा सकता है जो इसे कायम रखता है।

अन्य समाजशास्त्री भी सजातीय विवाह यानी आन्तरविवाह को ही जातिप्रथा का सारतत्व मानते हैं जो इसे जीवित रख रहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि जहां पूंजीवादी औद्योगीकरण ने जाति व्यवस्था की अन्य अहम विशेषताओं को नकार दिया, सजातीय विवाह के बन्धन क्यों नहीं ढीले पड़ रहे? उत्तर स्पष्ट है कि जाति प्रथा केवल दलितों के शोषण पर ही नहीं स्त्री के शोषण पर भी आधारित थी और आज भी है। जाति प्रथा के वे तत्व जो पूंजीवादी विकास में बाधा बन रहे थे, लुप्त हो गये अथवा होने की प्रक्रिया में हैं परन्तु सजातीय विवाह प्रथा तो पूंजीवादी प्रवृत्तियों के अनुकूल है। इसमें पितृतन्त्रात्मक परिवार वर वधू का चयन आय, सम्पत्ति और सामाजिक प्रस्थिति को ध्यान में रख कर करते हैं। वधू पक्ष के लोग वर पक्ष की सभी मांगों को पूरा करने का प्रयास करते हैं, कन्या का दान होता है। लेनदेन, दहेज की प्रथा पूंजी के महत्व को और भी बढ़ावा देती है।

वस्तुतः जातियों के अलगाव, उनके स्वतन्त्र अस्तित्व, के लिए यह अनिवार्य है कि स्त्रियों के यौनत्व पर जाति का पूरा नियन्त्रण रहे और उसका उपयोग जाति के हित में सजातीय सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिए किया जाय। डा. आम्बेडकर ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तिका Annihilation of Caste में जोर देकर कहा कि जाति व्यवस्था को समाप्त करने का एकमात्र असली उपाय अन्तरजातीय विवाह है। इससे उनका तात्पर्य जातियों के भीतर उपजी उपजातियों के संविलयन से एक बृहत्तर जाति बनाने की प्रक्रिया की ओर न था। ऐसी प्रक्रिया को तो वे और भी खतरनाक (Mischievious) मानते थे क्योंकि इससे जातियां और भी शक्तिशाली हो जाएंगी और सम्भावना इसी बात की है कि उपजातियां भले ही समाप्त हो जाएं, जाति प्रथा समाप्त न होगी।

वस्तुतः डा. आम्बेडकर एक ईमानदार राजनीतिज्ञ, विचारक और दूरदर्शी थे। वे जातिप्रथा को समूल उखाड़ फेंकना चाहते थे, उसे राजसत्ता हथियाने का हथियार नहीं बनाना चाहते थे। परन्तु जाति व्यवस्था का मुख्य आधार शुद्धता और प्रदूषण के ब्राह्मणवादी विचारों में ही देखने से इसमें निहित वर्गीय और लैंगिक वर्चस्व की राजनीति का पूरा खुलासा नहीं हो पाता। इस कारण बाबा साहब के विचारों का क्रान्तिकारी अन्तर्य अस्मितावादी दलित राजनीति में खो गया है। जाति व्यवस्था की निरन्तरता का एक बड़ा कारण यह रहा है कि इसमें प्रभुता की राजनीति से समझौता करने की, बिना किसी आमूलचूल परिवर्तन के उसका अपने हित में उपयोग करने की अद्‌भुत क्षमता रही है। प्राक् औपनिवेशिक काल में वर्ण धर्म के समाज में प्रभावी होने के लिए राजसत्ता की सापेक्षता आवश्यक थी। मध्ययुगीन अनेक अभिलेखों में राजा द्वारा नियुक्त धर्माधिकारी का उल्लेख हुआ है। इस पदाधिकारी द्वारा विशिष्ट जनसमूह की ही नहीं व्यक्तियों की भी जाति विन्यास में प्रस्थिति के बारे में फैसला दिया जाता था। यह परम्परा इतनी रूढ़ हो गयी थी कि कभी कभी मुस्लिम शासकों और बाद में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी ऐसे झगड़ों में फैसला देने का आवेदन किया जाता था। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था से शासक वर्ग को बहुत लाभ था। इरफान हबीब का कहना है कि मुसलमान शासकों और बुद्धिजीवियों ने हिन्दू धर्म के बहुदेववाद और मूर्तिपूजा की तो कटु आलोचना की है परन्तु इस्लामी कानून के विरुद्ध होने पर भी जातिपरक असमानताओं पर कभी कोई आपत्ति नहीं की। उनके अनुसार इसका कारण यह था कि जातिप्रथा से निम्नश्रेणी के कारीगरों और भूमिहीन श्रमिकों का विशाल अन्याश्रयी वर्ग तत्कालीन उत्पादन प्रणाली को सस्ते में ही उपलब्ध हो जाता था, जिससे कम लागत में अधिक उत्पादन सम्भव था और परिणामतः अधिक अधिशेष सुलभ होने के कारण शासक वर्ग भी अधिक राजस्व वसूल कर लाभान्वित होता था। यह तो हुई ऐसे शासकों की बात जो जातिप्रथा के बाहर थे और जिन्हें अपना सत्ताधिकार वैध ठहराने के लिए परम्परागत प्रतीकों की जरूरत न थी। परन्तु जो जाति समाज के भीतर थे उन शासकों

के प्रभुत्व एवं अधिकारों की पुष्टि और वैधता प्रदान करने में यह व्यवस्था अहम भूमिका निभाती थी। पूर्व मध्ययुग के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब कबायली क्षेत्रों में राज्य संरचना की प्रक्रिया में कबीलों के उदीयमान अभिजात वर्ग ने वर्ण जातिवादी सामाजिक वर्गीकरण अपना कर अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों को वैध बनाया और कबीलों के आम लोगों से अपना पृथकत्व स्थापित कर उच्च प्रस्थिति और विशेषाधिकारों के हकदार बने। इस प्रक्रिया को 'ब्राह्मणीकरण' अथवा 'क्षत्रियकरण' का नाम भी दिया गया है। प्राक् औपनिवेशिक काल में सत्ता का आधार जनतान्त्रिक न होकर आनुवंशिक, कुलीनवर्गीय एवं निरंकुश होता था। अतः सोपानगत अलगाव की प्रवृत्ति थी। परन्तु आज परिस्थितियां बदल गयी हैं। अब राजनीतिक लड़ाइयां अभिजनों के अखाड़े में नहीं, जनता के बीच जाकर लड़नी होती हैं। सत्ता तक पहुंचने के लिए बहुसंख्य वोट चाहिए। इसलिए अलगाव की जगह जातिपरक बड़ी अस्मिताओं को गढ़ने की ओर झुकाव है ताकि बड़ा जनाधार खड़ा किया जा सके। दलित जनता का समर्थन आर्थिक मुद्दों को उठा कर सामाजिक और आर्थिक असमानताओं के खिलाफ लड़ कर किसी प्रगतिशील विचारधारा के तहत पाने का प्रयास किया जा सकता है, या फिर पारम्परिक धार्मिक अथवा जातिगत अस्मिताओं को सुदृढ़ कर उनका 'वोट बैंक' बनाया जा सकता है। स्पष्ट है कि पहला रास्ता सुलझी समझ, प्रतिबद्धता और त्याग की अपेक्षा रखता है जिससे सम्पन्न अभिजात वर्ग के हितों को ठेस भी पहुँच सकती है परन्तु परम्परागत अस्मिताओं के नाम पर एकीकरण की अपील द्वारा जाति एक हित समूह के रूप में अपने कुछ सदस्य परिवारों एवं व्यक्तियों को तो शक्ति और प्रभुता के पदों पर आसीन कर सकती है, सामूहिक रूप से पूरी जाति की आर्थिक सामाजिक अवस्था सुधारने में असफल ही रहती है। यह सर्वविदित है कि दलित जातियों का बहुलांश भूमिहीन है जिसके लिए वर्ग आधारित संघर्ष की आवश्यकता है तभी उनकी अवस्था में सुधार हो सकता है। पर दलित नेताओं का ध्यान शिक्षा और नौकरियों में आरक्षण पर ही केन्द्रित है और यह भी वर्चस्व की संकुचित राजनीति की ही विडम्बना है कि जहां ऊँची जाति के लोग आरक्षण के विरुद्ध नारा लगाते हुए समानता, सामाजिक न्याय और गुणवत्ता की दुहाई देते हैं, पिछड़ी और दलित जातियों के नेता पिछड़ेपन को ही आधार बना विशेषाधिकारों और सुविधाओं की मांग करते हैं।

यह कहना बिल्कुल सही है कि शोषण की किसी भी व्यवस्था को निर्मूल करने की पहली शर्त है– उसकी बुनियाद भलीभांति समझना। जाति व्यवस्था की बुनियाद है– पितृतन्त्रात्मक विचारधारा की जकड़बन्दी से स्त्री के यौनत्व पर नियन्त्रण और उसकी पराधीनता तथा उच्चवर्गीय हितों के परिपोषण को धार्मिक रूप देकर स्वीकार्य बनाना। इस बुनियाद पर ऐसी सशक्त विचारधारा की अधिरचना हुई जो वर्ग चेतना के विकास में जबर्दस्त अवरोधक बनी। डा. आंबेडकर की यह उक्ति कि जाति व्यवस्था केवल श्रम का

विभाजन ही नहीं श्रमिकों का भी विभाजन करती है, इस बात को सूत्र रूप में रेखांकित करती है। आज ऐसे आन्दोलनों की कमी नहीं है जिनमें दलित जातियां ही एक दूसरे के आमने सामने होती हैं और अक्सर ऐसे आरोप लगाये जाते हैं कि दलितों के लिए निश्चित आरक्षण की सुविधाओं का लाभ किसी एक अपेक्षाकृत सम्पन्न दलित जाति को ही मिल रहा है और बाकी दलित जातियां ऐसी सुविधाओं से वंचित ही रह जा रही है। इस प्रघटना को 'दलित अस्मिता के विखण्डन की प्रक्रिया' कहा गया है। परन्तु दलित चेतना जातिगत चेतना है वर्ग चेतना नहीं। ब्राह्मण विरोधी आन्दोलनों में दलित अस्मिता का उदय हुआ परन्तु दलित जातियों की पृथक अस्मिता दलित अस्मिता में लुप्त नहीं हुई। अनेक समाजशास्त्रीय क्षेत्रीय पर्यवेक्षणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि दलित जातियों में भी वर्ण व्यवस्था की पदानुक्रम की भावना और शौचाशौच तथा अन्य जाति सम्बन्धी आस्थाओं की जबर्दस्त पकड़ है। उन्हें भले ही अपनी नीची प्रस्थिति के बारे में आपत्ति हो परन्तु अन्य दलित जातियों की प्रस्थिति तथा उनसे अपने सम्बन्धों का निर्धारण वे जाति व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुसार ही करती हैं। उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों में कई अछूत जातियां भी धोबी जाति को अस्पृश्य मानती हैं और आनुष्ठानिक तौर पर धोबी के सम्पर्क में आना वर्जनीय।

डा० आंबेडकर को इस बात का एहसास था और वे जातिप्रथा के विनाश के लिए सभी को एक मंच पर संगठित करना इसलिए असम्भव मानते थे क्योंकि हर जाति इस बात में गर्व और आश्वासन का अनुभव करती है कि वह जातियों के पदानुक्रम में कुछ अन्य जातियों के ऊपर है। नामी पत्रकार पी. साईनाथ ने अंग्रेजी के हिन्दू दैनिक समाचारपत्र में अपने क्षेत्रीय अनुसन्धान के आधार पर आधुनिक तत्वों के प्रभाव से पश्चिमी उडीसा की जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों पर कुछ लेख लिखे हैं। उनके अनुसार वहां जबर्दस्त विरोध के बावजूद दलितों को लेकर कुछ ऐसे अन्तरजातीय विवाह हुए हैं जिनकी बीस वर्ष पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वे बंगामुण्डा (बोलानगिर) में हुए चार ऐसे विवाहों का उल्लेख करते हैं। १९९७ में सबिता नाम की एक ब्राह्मण लड़की ने सुदाम कुम्भार नाम के एक डोम हरिजन से विवाह कर लिया। दोनों स्थानीय कालेज में नौकरी करते थे। यह तो महापाप था। लड़की के माता पिता को अनेक प्रकार के अपमान झेलने पड़े। उससे सारे सम्बन्ध तोड़ कर उसकी मृत्यु मान कर लड़की का श्राद्ध करना पड़ा और गोबरपानी पीकर तथा पिता को केश मुंडवा कर शुद्धि के संस्कार करने पड़े। दूसरी ओर हरिजनपाड़ा में इस विवाह का पूरा स्वागत हुआ और अब सबिता हरिजनपाड़ा में ही रहती है। दो अन्य विवाह भी ऊँची जाति की लड़कियों ने दलित लड़कों से किये और उनका भी हरिजनपाड़ा में स्वागत हुआ। परन्तु चौथे में कालिन्श्री नाम की एक डोम (हरिजन)लड़की ने जे.पी. नायक नाम के घसी जाति के लड़के से विवाह कर लिया। स्थानीय जातिगत

सोपान में घसी जाति डोम से भी नीची मानी जाती है। उसी हरिजनपाड़ा ने जहां ऊंची जाति की लड़कियों को सहर्ष अपना लिया था कालिन्श्री के परिवार को लड़की के जघन्य अपराध के लिए निकाल बाहर किया। पी. साईनाथ का यह निष्कर्ष सही है कि ऊंची जाति से लड़की लाना हरिजनपाड़ा के लिए उनकी जाति की ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता का लक्षण थी। किन्तु जो विवाह इसका अपवाद था उसकी ओर डोमों का भी रुख उतना ही कठोर था जितना कि ब्राह्मणों का।

क्या ऐसे उदाहरणों को हम 'जाति के विनाश' की प्रक्रिया का आरम्भ मान सकते हैं? धर्मशास्त्रों में जात्युत्कर्ष और जात्यापकर्ष का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है जिसके अनुसार लगातार कई पीढ़ियों तक (पीढ़ियों की संख्या के बारे में विभिन्न मत है) प्रतिलोम विवाह यानी नीची जाति के लड़के का ऊंची जाति की लड़की से विवाह होते रहने से सातवीं अथवा आठवीं पीढ़ी में वंश का जात्युत्कर्ष यानी मां की जाति में सन्तान का अन्तरण हो जाता है। उसी प्रकार लगातार कई पीढ़ियों तक अनुलोम विवाह। (जिसमें लड़का ऊंची जाति का और लड़की नीची जाति की होती हैं।) होते रहने से जात्यपकर्ष, यानी नीची जाति में संक्रमण हो जाता है। महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे के अनुसार यह सिद्धान्त एक शास्त्रीय कल्पना मात्र है, वास्तविक जीवन में इस पर अमल असम्भव रहा होगा। जो भी हो, प्राक् औपनिवेशिक काल में विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों में जाति समाज के भीतर गतिशीलता असम्भव नहीं थी, चाहे वह ऊर्ध्वमुखी हो या अधोमुखी। अधिकतर विचलन सामुदायिक थे। यद्यपि कुछ वंशगत और वैयक्तिक गतिशीलता के उदाहरण भी मिल जाते हैं परन्तु इनसे व्यवस्था के अस्तित्व पर, उसके पैटर्न की निरन्तरता पर, कोई आघात अथवा खतरा नहीं होता था क्योंकि वे जाति समाज में ही आत्मसात कर लिए जाते थे।

परन्तु ध्यान देने योग्य है कि इस प्रसंग में जो भी मध्ययुगीन एवं आधुनिक उदाहरण दिये गये हैं वे सभी वैयक्तिक कारणों से ऊंची जाति के व्यक्तियों का निचली जाति में संक्रमण दिखलाते हैं, इन्हें 'जाति के विनाश' की प्रक्रिया नहीं माना जा सकता। व्यक्तिगत पहल प्रतिरोध के इक्केदुक्के उदाहरण पेश कर सकती है, वह चाहे स्वेच्छित चयन से प्रेरित रही हो या सूखा, अकाल, महामारी आदि आपात्कालीन परिस्थितियों के दबाव से। परन्तु जाति व्यवस्था को समूल उखाड़ फेंकने के लिए इसके भौतिक मूलाधार, उन परम्परागत स्रोतों को मिटाना होगा जिनसे इनकी जड़ों को पानी मिलता है।

जाति प्रथा की निरन्तरता के दो मुख्य कारक हैं–पहला स्त्री की अधीनता उसके यौनत्व पर पितृतन्त्रात्मक नियन्त्रण, जिससे इस प्रथा को निर्बाध नया जीवन मिलता रहता है पितृसत्ता और वर्ण जाति स्तरीकरण दोनों परिघटनाओं का उदय साथ साथ ही हुआ है और दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है आधुनिक औद्योगीकरण की आवश्यकतानुसार

जातिप्रथा ने कम से कम नगरों में तो छुआछूत की भावना, सोपानबद्धता और जातिगत व्यवसाय की एकान्तिकता आदि के बन्धनों को ढीला कर दिया है। परन्तु जाति के अन्तर्गत ही प्रबंधित विवाह प्रथा (endogemous system of arranged marriages) की पकड़ अभी भी ढीली नहीं हुई है क्योंकि पूंजीवादी विचारधारा से इसका पूरा सामंजस्य है। फिर भी प्रगतिशील शहरी अभिजन और बुद्धिजीवी परिवारों में, जहां स्त्रियां अपना व्यवसाय और जीवन यापन प्रणाली स्वयं चुन सकती हैं और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हैं वे अपना जीवनसाथी भी स्वयं चुनती हैं और अन्तरजातीय विवाह विरल नहीं रह गये हैं। समाज का यह अंश निश्चय ही जाति से विमुक्त होकर वर्ग में संक्रमण कर रहा है और भूमण्डलीकरण के आघात से इस प्रक्रिया को और भी प्रेरणा मिल रही है।

जाति प्रथा की निरन्तरता का दूसरा कारक है वर्चस्व की राजनीति में इसकी उपादेयता। यह मान्यता सही नहीं है कि प्राक् औपनिवेशिक युग में जाति धार्मिक संस्था थी जिसका सम्बन्ध आन्तर विवाह, गोत्र बहिर्विवाह, सोपानगत प्रस्थिति आदि से था, लेकिन आज ये मसले कमजोर पड़ गये हैं और यह एक राजनीतिक आर्थिक संरचना बन गयी है। अब इसमें धार्मिक प्रभुसत्ता (रिचुअल पावर) का स्थान आर्थिक और राजनीतिक प्रभुसत्ता ने ले लिया है और इसने उन क्षेत्रों में प्रवेश कर लिया है जो इसके दायरे से बाहर हुआ करते थे। मेरे विचार से ऐसी समाजशास्त्रीय दृ ष्टि जाति व्यवस्था के केवल बाहरी रूप पर ही ध्यान देती है, इसके असली प्रकार्य को नजरअंदाज कर देती है। दरअसल वर्चस्व की राजनीति इसके दायरे से बाहर कभी थी ही नहीं। दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी ने कहा था कि 'जाति पिछड़े उत्पादन के स्तर पर वर्ग का ही एक प्रकार है। यह ऐसी शोषण व्यवस्था है जिसके माध्यम से प्रभुता सम्पन्न जातियां आनुवांशिक तौर पर निचले तबके की जातियों का सदियों से शोषण करती चली आ रही हैं। भारत के अधिसंख्य गांवों में परिस्थिति आज भी कुछ अधिक नहीं बदली है, यद्यपि दलित जातियों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता कुछ बढ़ी अवश्य है। परन्तु इस कारण जाति संघर्षों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। १९९७ में तमिलनाडु की सरकार ने जाति संघर्षों के कारणों का पता लगाने के लिए और उन्हें दूर करने के उपाय सुझाने के लिए एक कमेटी बनायी थी जिसकी रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने दलितों की उन्नति के लिए जो प्रोग्राम बनाये उनसे दलितों की कठिनाइयां और उनका अलगाव और भी बढ़ा है क्योंकि ऊंची जातियों के एक बड़े हिस्से को यह सह्य नहीं होता कि सरकारी सुविधाओं के चलते दलित अपनी प्रस्थिति में सुधार कर लें। वस्तुतः बात केवल जातीय पूर्वग्रहों से ग्रस्त मानसिकता की ही नहीं है। कृषि क्षेत्र में आधुनिक संसाधनों और पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के प्रवेश से जाति समुदायों के पारस्परिक लेनदेन और अन्तर्निभरता का स्थान बाजार द्वारा संचालित सम्बन्धों ने ले लिया है। अधिसंख्य दलित जातियां वेतनभोगी मजदूर वर्ग में परिवर्तित हो रही हैं। इन परिस्थितियों में सजातीय

एकात्मकता और दूसरी जातियों से अलगाव की भावना और भी घनीभूत हो रही है। जहां कमजोर जाति के व्यक्ति और परिवार अपने कठिन समय में अपने जाति बन्धुओं से ही सहायता की आशा रखते हैं और उनका समर्थन पाते हैं, ऊंची जाति के लोग दलितों की मांगों का, उनके प्रतिरोध का सामना भी सामूहिक रूप से करते हैं। वे एक जुट होकर दलितों का सामाजिक बहिष्कार, सार्वजनिक सुविधाओं और खेत मजदूरी आदि से वंचित करने का निर्णय लेते हैं और हमले, हिंसा और अमानवीय व्यवहार के वारदात भी जातिगत विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर किये जाते हैं। इस तरह की घटनाएं भारत के तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में घटित होती रही हैं। और अक्सर उनके मूल में दलित जातियों के दुस्साहस और आत्मसम्मान की बात ही नहीं उनके द्वारा खेत मजदूरी के लिये सरकार द्वारा नियत न्यूनतम पारिश्रमिक की मांग, भूमि पर बटाईदार का दखल अधिकार आदि के मसले होते हैं। जाति विषयक मानसिकता को उसके भौतिक आधार से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जरूरत है ऐसे विवेकपूर्ण सशक्त आन्दोलन की जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी स्तरों पर जातिगत परम्पराओं के समूल उन्मूलन का बीड़ा उठाये, जाति का उसके अभिजन वर्ग के हित समूह के रूप में उपयोग की राजनीति का पर्दाफाश करे, पितृसत्तात्मक मूल्यों को नकार कर नारी को स्वाधीनता और स्वतन्त्र चयन का अधिकार दे और सही मायनों में वर्चस्वहीन समाज की स्थापना का प्रयास करें। तभी बाबा साहेब आम्बेडकर का विज़न 'जाति का विनाश' साकार हो सकता है।

n

आम्बेडकर और लोहिया का जाति-विमर्श

योगेन्द्र यादव

भारतीय सामाजिक न्याय चिंतन की परंपरा में लोहिया और आम्बेडकर के विचारों में एकता खोजते समय हम चार ऐसी धारणाएँ पाते हैं, जो दोनों में एकता स्थापित करती हैं। प्रथमतः, इन दोनों ने माना कि भारतीय समाज में जाति अन्याय, उत्पीड़न और गैर बराबरी का एक स्वायत्त व महत्वपूर्ण आयाम है, उनकी यह मान्यता उन्हें एक साथ मार्क्सवादियों और दूसरे समाजवादियों, जिन्होंने जाति को गैर बराबरी के अन्य सभी आयामों से ऊपर नहीं माना, से अलग कर देती है। ऐसा नहीं है कि लोहिया और आम्बेडकर मात्र जाति को ही अन्याय, उत्पीड़न और गैरबराबरी के लिए जिम्मेदार मानते थे, फिर भी वे जाति को अन्य सभी आयामों से ज्यादा आधारभूत व स्वायत्त मानते थे। यही कारण था कि वे दोनों जाति आधारित असमानताओं को सामाजिक न्याय की राजनीति का प्रस्थान-बिन्दु मानते थे।

दूसरे, वे दोनों भारतीय समाज में आर्थिक ठहराव से लेकर सांस्कृतिक पतन तक, विदेशी शक्तियों के आगे भारत के पराभव तथा कई अन्य सामाजिक दोषों के लिए जाति व्यवस्था को जिम्मेदार मानते थे। इस प्रकार, जाति व्यवस्था उनके लिए उसके शिकार व्यक्तियों मात्र की समस्या न होकर एक राष्ट्रीय समस्या व रुग्णता थी। जाति व्यवस्था को वे जो सामान्य महत्व देते थे वह उनके द्वारा उसे दिए जाने वाले विशिष्ट महत्व का सूचक होता था।

तीसरे, हिन्दू समाज सुधारकों के विपरीत वे दोनों इस मत के थे कि समाज में गैरबराबरी का यह प्रचलन जो जाति पर आधारित है तब तक न ही रोका जा सकता है और न ही सुधारा जा सकता है जब तक जाति व्यवस्था को ही न समाप्त कर दिया जाय। वे खुले दिमाग से जाति व्यवस्था का अंत तलाश रहे थे।

उनके सुझाए जाति व्यवस्था के निराकरण एक जैसे नहीं थे। उनमें कम से कम प्रथमिकता का अंतर अवश्य था। आम्बेडकर धर्म परिवर्तन को एक निराकरण मानते थे। जबकि लोहिया ऐसा नहीं मानते थे। लेकिन यहाँ भी एक समानता देखी जा सकती है। दोनों मानते थे कि जाति व्यवस्था विरोधी संघर्ष यदि मात्र भौतिक उपलब्धियों के संघर्ष तक सीमित रहता है तो वह एक अनिर्णायक व अपूर्ण संघर्ष होगा। उन दोनों ने इस संघर्ष को

मात्र भौतिक उपलब्धियों के संघर्ष से ऊपर एक वैचारिक आयाम देने के भी प्रयास किए। अन्याय, उत्पीड़न व गैर बराबरी के विरूद्ध संघर्ष को वैचारिक आयाम देने का काम लोहिया व आम्बेडकर की चौथी व अंतिम शामिलाती अवधारणा थी।

इन दो विचारकों के बीच की उपरोक्त मौलिक समताएं फिर भी किसी को उन आयामों से अपरिचित रख सकती हैं, जो लोहिया ने आम्बेडकर के विचारों को दिए। सर्वप्रथम भारतीय समाज के स्थिर व समान जातीय विभाजन के तात्विक दृष्टिकोण को लोहिया ने अक्षरशः नहीं स्वीकारा। उन्होंने संपूर्ण विचार का ऐतिहासीकरण करने का प्रयास किया और यह सिद्ध करना चाहा कि अवनति की ओर अग्रसर कोई भी समाज इस स्थिति में गिर सकता है। लोहिया के इसी सैद्धांतीकरण ने उन्हें किसी भी सभ्यता के पतन के साथ उसके जातीय विभाजन की आंतरिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों की समीक्षा करने की क्षमता प्रदान की। फिर भी लोहिया का यह विचार अधिकांशतः गूढ़ व निराकार ही बना रहा, क्योंकि उन्होंने भारतीय समाज से बाहर की जाति प्रथा के उदाहरण नहीं प्रस्तुत किए। उन्होंने भारतीय समाज में जातिप्रथा के जन्म व विकास का विस्तृत विवरण भी नहीं प्रस्तुत किया। इस कमी के बावजूद, उनके संक्षिप्त विश्लेषणों ने जाति, वर्ग, लिंग व भाषा पर आधारित सामाजिक विषमताओं का विश्लेषण व प्रतिच्छेदन करने में भारी मदद की है। दी गई निश्चित स्थितियों के विश्लेषण में हम इन विचारों का सटीक उपयोग कर सकते हैं। भारतीय समाज में शासक वर्ग और राज्यों में शासनों का तुलनात्मक राजनीतिक समाजशास्त्रीय अध्ययन इस दिशा में लोहिया की विशिष्ट देन हैं।

दूसरे, लोहिया ने वर्ग व लिंग विभाजनों की जाति विभाजन के साथ अंतर्क्रिया का भी विश्लेषण सुझाया। आम्बेडकर जाति को एक बाड़ा मानते थे जबकि लोहिया उसे एक गतिहीन वर्ग। ऊपरी तौर पर यह दो विचार ज्यादा अलग अलग नहीं हैं। आम्बेडकर की यह समझ कि स्त्रियों पर नियंत्रण के लिए भी जाति व्यवस्था का जन्म हुआ, लोहिया के विचारों में भी प्रतिध्वनित होती दिखती है कि लिंग आधारित असमानता समाज में असमानता के जन्म का प्रथम सोपान था। लेकिन लोहिया ने वर्ग, जाति व लिंग विभाजित समाज की अंतर्क्रिया को जातियों के जन्म मात्र के विचार से भी अग्रणी विचार के आयाम दिए। उनके लिए वर्ग,जाति व लिंग विभाजन की अंतर्क्रिया सामाजिक गैरबराबरी की निरंतर जारी रहने वाली विशिष्टता है। यह अंतर्क्रिया ही लोहिया विचार की अंतर्वस्तु है, जिसमें उनका शासक वर्ग व उनके वे उत्पीड़ित वर्ग परिभाषित होते हैं जिन्हें सामाजिक परिवर्तन के लिए संगठित किया जा सकता है।

लोहिया मानते थे कि भारत में शासक वर्ग उच्च्च जातियों, साधन सम्पन्न लोगों तथा अंग्रेजी दाँ लोगों के पुरुषों को मिलाकर बनता है । वे इस शासक वर्ग के विरुद्ध दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों, मुसलमानों, स्त्रियों और कुछ विशिष्ट गरीबों का समागम तैयार करना

चाहते थे। अतः आम्बेडकर का जाति या वर्ग विनाश लोहिया के लिए जाति, वर्ग व लिंग भेद के विनाश के रूप में सामने आता है।

तीसरे, लोहिया ने आम्बेडकर के जाति विनाश के विचार को आगे बढ़ाया। आम्बेडकर की ही तरह लोहिया ने भी सवर्ण-अछूत सहभोज को ज्यादा महत्व नहीं दिया। वे दोनों अन्तरजातीय विवाहों को दूरगामी परिणाम देने वाला मानते थे। जाति प्रथा की समाप्ति के लिए दोनों ही आधुनिक राज्य व लोकतंत्र को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करने पर जोर देते थे। सरकारी सेवाओं में वंचित वर्गों को ज्यादा व सुनिश्चित प्रतिनिधित्व देने में लोहिया आम्बेडकर के ऐसे ही विचारों को आगे ले जाने वाले थे। इस सम्बन्ध में लोहिया संस्थागत व्यवस्थाओं पर आम्बेडकर जैसा जोर नहीं देते थे। वे उसके दुष्परिणामों को भी जानते थे। इसे हमें आरक्षण पर लोहिया की समालोचना के रूप में लेना चाहिए।

आम्बेडकर व लोहिया की आधारभूत मान्यताओं की समझ मात्र ही इन दोनों के विचारों का समन्वय नहीं बन सकती। वे दो आधारभूत सिद्धांतों में एक दूसरे से अलग भी थे। यह आधारभूत अलगाव आधुनिक भारत की राजनीति में सामाजिक न्याय की दिशा में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसे ठीक ठीक समझना अत्यंत जरूरी है।

इस दिशा में आम्बेडकर और लोहिया में पहला अंतर राजनीतिक रणनीति का है। आम्बेडकर ने सर्वप्रथम दलितों को शेष हिन्दू समाज से अलग करने की रणनीति अपनाई। जाति प्रथा के विनाश के लिए उन्होंने दलितों की स्पष्ट पहिचान, उनके अलग हितों के निरूपण तथा उनके अलग राजनीतिक प्रतिनिधित्व की रणनीति अपनाई। उनकी इसी समझदारी से पृथक निर्वाचक मंडल, आरक्षण व धर्म परिवर्तन जैसी कार्यवाहियों ने जन्म लिया। आम्बेडकर की इन विलगाववादी नीतियों में समन्वयवाद छिपा हुआ था। उदाहरणार्थ, वे विलगाववाद के माध्यम से 'अछूतों' के विभिन्न समूहों में समन्वय का आह्वन कर रहे थे। प्रथमतः लेबर पार्टी और अंततः रिपब्लिकन पार्टी आफ इन्डिया के निर्माण सामाजिक अन्याय के शिकार विभिन्न समूहों को एक दूसरे से हाथ मिलाने के उद्यम ही थे। फिर भी अंबेदकर के सारे प्रयास अछूतों के, अछूतों के लिए और अछूतों के द्वारा होने वाले प्रयास भर बने रहे ।

आम्बेडकर की इस रणनीति ने स्वतंत्रता के बाद की भारतीय राजनीति में शोषितों व पिछड़ी जातियों की सोच को, अघोषित ही सही, गहराई तक प्रभावित किया है। नतीजतन न्याय पाने की समन्वयवादी सोच की जगह पर अलगावादी सोच ने स्थान बना लिया है। कई रूपों में यह अलगाववादी सोच स्वतंत्रता पूर्व की समन्वयवादी सोच का ही परिवर्तित रूप थी। उस समय राष्ट्रवादी सोच समन्वयवादी चिंतन और सामाजिक न्यायवादी आन्दोलन अलग-अलग मार्गों पर चलते थे।

ज्यों-ज्यों सामाजिक न्याय की राजनीति आगे विकसित होती गई, दोनों धाराओं की विभाजन रेखा विलुप्त होती गई। मौजूदा दलित राजनीति उतना ही समन्वयवाद तलाश रही है जितना कि वह दलितों व शेष हिन्दुओं के बीच विलगाव तलाश रही है। मायावती का असमंजस इसका अच्छा उदाहरण है राजसत्ता में रहने के लिए वह जाटव व गैर जाटव दलितों में समन्वय चाहती हैं; साथ ही वह जानती हैं कि मात्र दलित वोट उन्हें सत्ता में बनाए रखने के लिये पर्याप्त नहीं है, इसीलिए वे बहुजन समाज से सर्वजन समाज की ओर लपकती हैं। अपनी अलगाववादी राजनीति से दलित राजनीतिज्ञों को दुष्परिणाम भी भोगने पड़ रहे हैं, जैसे आन्ध्र के माला-मादिगा विवाद में और उत्तरी भारत के जाटव बाल्मीकि मतभेदों में। समय की जरूरतों के कारण मौजूदा दलित राजनीतिज्ञ सामाजिक न्याय के लिए प्रायः राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों जैसा ही आचरण करते देखे जाते हैं।

यह संदर्भ हमें सामाजिक न्याय की समन्वयवादी राजनीति पर गंभीर चिंतन को प्रेरित करता है। वैचारिक धरातल पर, लोहिया पथ पदर्शक जैसे लगते हैं। उनकी सामाजिक न्याय की राजनीति समन्वयवादी थी। उनका समन्वयवाद बहुआयामी था। वे विभिन्न जाति-समूहों को, यथा आदिवासियों व दलितों को एक 'शूद्र' नामक छतरी के नीचे लाना चाहते थे। उन्होंने जाति प्रथा के शिकार लोगों, मुसलमानों, स्त्रियों व गरीबों के बीच आपसी समन्वय का प्रस्ताव किया। राजनीतिक व सार्वजनिक जीवन में हिन्दू उच्च जातियों के वर्चस्व पर लोहिया के शाब्दिक आक्रमण विलगाववादियों के आक्रमणों से कम तीखे नहीं होते थे। लोहिया की राजनीति की समग्र समझ यह स्पष्ट कर देती है कि वे भारतीय समाज में बहुआयामी उत्पीड़न व अन्याय के शिकार लोगों का एक इतिहास प्रसिद्ध व समन्वयवादी समूह रचने में लगे थे।

यहाँ एक दुरूहता यह है कि यह समन्वयात्मक राजनीति केवल वैचारिक ही बनी रही। लोहिया और उनके समर्थकों की राजनीति समन्वयत्मकता का स्पष्ट रूप कभी नहीं ले पाई। वह या तो पिछड़ी जातियों की विलगाववादी राजनीति बनी रही या धनी पिछड़ी जातियों के नेतृत्व में पिछड़ों की समन्वयवादी राजनीति बनी। यह राजनीति उसी विवशता से संचालित होती रही, जिससे दलित राजनीति संचालित होती थी। समन्वयवादी राजनीति प्रायः सहभागिता का भाव और राजनीतिक ऊर्जा पैदा करने में असफल रहती है। आम्बेडकर और लोहिया के इस आधार भूत अंतर के परिदृश्य में हमें एक ऐतिहासिक चुनौती का सामना करना पड़ता है कि जाति समूहों की वफादारी व समन्वय की राजनीति में एकता किस प्रकार स्थापित की जाय। दोनों विचारक हमें यह प्रश्न तो सौपते हैं पर उसका उत्तर नहीं।

दूसरा मौलिक अंतर उनकी सांस्कृतिक राजनीति से संबन्धित है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आम्बेडकर व लोहिया दोनों ही दलितों की भावनात्मक आवश्यकताओं के महत्व

को स्वीकार करते थे और मानते थे कि जातिवादी दर्शन के विरुद्ध संघर्ष की जरूरत है। लेकिन इस संघर्ष के लिए उन्होंने दो अलग अलग रास्ते बताए। आम्बेडकर जातिवादी दर्शन के स्रोत का ही विनाश करना चाहते थे। वे हिन्दू धर्म ग्रंथों को जातिवादी दर्शन का स्रोत मानते थे। अत: हिन्दू धर्म ग्रंथों की कटु आलोचना उनका पहला प्रस्थान बिन्दु था। उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रंथों की व्याख्यात्मक आलोचना का रास्ता अपनाया और माना कि हिन्दू धर्म के अंदर रहकर किया जाने वाला प्रतिरोध प्रभावहीन ही है। अत: हिन्दू धर्म के बाहर जाकर किया गया प्रतिरोध ज्यादा प्रभावी होता है। हिन्दू समाज के पुरोहितवाद व श्रेणीवाद पर आक्रमणों के लिए उन्होंने पाश्चात्य तर्कवाद की भरपूर मदद ली। भारत के दलित आंदोलन का अधिकांश हिस्सा आम्बेडकर के इसी विचार पर चलता है। इस रणनीति व विचार में कठिनाई यह आती है कि ये दोनों ही अपने प्रिय जनों, दलितों को उनकी पहिचान, याददाश्त व इतिहास से वंचित कर देते हैं; यह राजनीति प्राय: स्वयं को ही नि:शक्त बनाने वाली बन जाती हैं।

आम्बेडकर से अलग लोहिया हिन्दू धर्म शास्त्रों के अंदर ही समालोचना का रास्ता सुझाते हैं। वे हिन्दू धर्म की ग्रंथ परम्परा की महानता में कोई रुचि नहीं रखते थे। उनके प्रिय विषय रामायण व महाभारत के पौराणिक पात्र थे। वे उनकी आलोचना बाहर से नहीं वरन इन पुराणों की अंतरवस्तु से ही प्रस्तुत करते थे। उन्होंने मर्यादित राम को अमर्यादित कृष्ण के सामने रक्खा। उन्होंने द्रोपदी की तुलना सावित्री से की और उन्हें आदर्श नारीत्व के चरित्रों के रूपों में प्रस्तुत किया। लोहिया ने धर्म ग्रंथों की मात्र निन्दा के स्थान पर उनके पुनरावलोकन पर जोर दिया। उन्होंने हिन्दू देवों व पौराणिक चरित्रों की उन्मुक्त प्रशंसा के साथ-साथ उनके उस नास्तिक स्वरूप का भी निरूपण किया, जिसे असम्मानित व आलोचित भी किया जा सकता था।

लोहिया ने अपने भाषणों तथा अपनी सार्वजनिक भंगिमाओं से एक नई व सृजनात्मक सांस्कृतिक राजनीति का आगाज तो किया, पर वे अपनी इस राजनीति को पर्याप्त आधार नहीं दे पाए। मुट्ठी भर बुद्धिजीवियों से अलग वे अपनी सांस्कृतिक आलोचना को वह विरासत नहीं दे पाए जो आम्बेडकर ने अपनी आलोचना को दी। सांस्कृतिक आलोचना की विरासत की यह कमी लोहियावादी विचारों को ओजपूर्ण राजनीति बनाने की कमी बन गई। आम्बेडकरवाद के विपरीत लोहियावाद ज्यादातर संकेतों मात्र तक सीमित है और आज भी अव्याख्यित ही है। यही कारण है कि लोहिया के अनुगामी प्राय: प्रतीकों व नारों को उछालते तो हैं पर विषय के मूल बिन्दु से दूर रह जाते हैं। स्वयं लोहिया ने भी देवीदेवताओं व पौराणिक चरित्रों की प्रशंसा व समालोचना का ऐसा अजीब घाल मेल किया कि इस सबका मूल आधार विलुप्त सा हो गया। नतीजतन हिन्दू पौराणिकता की आलोचना में आम्बेडकर ने जो प्रखरता प्राप्त की वही प्रखरता लोहिया ने नहीं प्राप्त की। यह

वास्तविकता हमें आम्बेडकर व लोहिया की सांस्कृतिक राजनीति के अंतर को और भी अधिक ध्यान देने को विवश करती है। लोहिया हमें एक ऐसी नई सांस्कृतिक राजनीति की ओर इंगित करते लगते हैं जिसके माध्यम से हम सामाजिक अन्याय व शोषण पर प्रभावी व सफल आक्रमण कर सकें।

आम्बेडकर और लोहिया के बीच संवाद का अभाव रहा। सामाजिक न्याय के पक्षधरों को इसका सदैव अफसोस रहेगा। वे निश्चय ही दोनों को एक साथ आना देखकर प्रसन्न होते। लेकिन यह कदापि स्पष्ट नहीं है कि दोनों का संवाद सफल रहा ही होता। लोहिया और आम्बेडकर, दोनों ही दृढ़ विचारों वाले व्यक्ति थे। दोनों को इतिहास से कड़ा विरोध था। वे दोनों अलग अलग राजनीतिक शब्दावली में सोचते व बोलते थे। इसके अतिरिक्त समाज में लोहिया का स्थान, सवर्ण बनिया, उनके दलित-हित-साधक विचारों के समानांतर नहीं बैठता था। एक कल्पित संवाद के कल्पित नतीजे को हम ज्यादा आशावादिता से नहीं देख सकते ।

आम्बेडकर व लोहिया, दोनों के ही अनुगामियों के दृष्टिकोण इस संदेह को प्रमाणित करते हैं। आम्बेडकरवाद लोहिया या किसी भी समाजवादी को अपने अग्रज के रूप में स्वीकार करने को कदापि तैयार नहीं हैं। मुलायम सिंह द्वारा लोहियावाद का बार-बार आह्वान भले ही उनके अन्य पिछड़ी जातियों के विचारक स्वरूप को प्रमाणित करता हो पर लोहिया का जाति, वर्ग व लिंग उत्पीड़न व शोषण का घालमेल आम्बेडकर वादियों को मूल आम्बेडकरवाद में अपमिश्रण जैसा ही लगता है। लोहियावादियों को भी उनके अपने "डाक्टर साहब" के अतिरिक्त हर अन्य विचारक एकदम अस्वीकार्य हैं। वे सोचते हैं कि लोहियावाद एक आयामी आम्बेदकरवाद से ऊपर है। उनके लिए लोहियावाद के बाद आम्बेडकरवाद का अध्ययन करना वैसा ही है जैसे मार्क्सवाद समझने के बाद फायरबाख का अध्ययन करना। इस दृष्टि इसे कोई दु:खान्तकी नहीं कहा जा सकता कि आम्बेडकर व लोहिया ने संवाद नहीं किया। शायद वे अपना संवाद अगली शताब्दी के लिए सुरक्षित रखना चाहते थे।

n

डॉ० लोहिया की जाति-नीति

डॉ० मस्तराम कपूर

डॉ० लोहिया के सप्त क्रांति कार्यक्रम में जन्म, जाति, त्वचा के रंग और लिंग के आधार पर बनी गैर बराबरियों को समाप्त करने पर जोर दिया गया है। उन्होंने सोशलिस्ट पार्टी के लिये चार-पांच महत्वपूर्ण कार्यक्रम तय किये, उनमें 'जाति तोड़ो' कार्यक्रम भी है। अन्य कार्यक्रम जैसे दाम-बांधो, अंग्रेजी हटाओ, हिमालय बचाओ आदि तो बीच-बीच में चलने वाले आंदोलन थे जो कभी तेजी पकड़ते थे और कभी धीमे पड़ जाते थे। लेकिन जाति तोड़ो के लक्ष्य के लिये उनकी लंबी और सतत नीति रही। समाजवादी आंदोलन में लोहिया संभवतः अकेले व्यक्ति थे जो जाति की समस्या के प्रति इतने संवेदनशील थे। उनका मानना था कि जाति-प्रथा हमारी गुलामी का एक बड़ा कारण रही है। हम एक हजार साल तक विदेशी हमलावरों के आगे इसलिये पराजित हुए क्योंकि जाति प्रथा ने हमारी दो-तिहाई से अधिक आबादी को उदासीन और अर्ध्यमृत बनाकर रखा था और देश की रक्षा का भार केवल एक जाति पर छोड़ रखा था। जाति प्रथा हमारे सांस्कृतिक और बौद्धिक पतन का कारण भी रही। उन्हें उन लोगों से बड़ी चिढ़ होती थी जो जातिवाद के खिलाफ तो बड़ी-बड़ी बातें करते हैं किन्तु जिनका व्यवहार जाति के घेरे में होता है। जवाहर लाल नेहरू और गोविंद बल्लभ पंत को 'पंडित जी' के संबोधन पर कोई आपत्ति नहीं होती थी, बल्कि वे खुश ही होते थे।

अपनी पुस्तक 'जाति प्रथा' में उन्होंने जाति प्रथा का जो सम्यक विवेचन किया, वह एक प्रकार से डॉ. भीमराव अंबेडकर की प्रसिद्ध 'जाति का विनाश' का अगला चरण था। डॉ. अंबेडकर ने जाति प्रथा का ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय विवेचन किया और इस बुराई की जड़ों को तलाशा, लेकिन वे इसके विनाश के लिये कोई स्पष्ट राजनीतिक कार्यक्रम नहीं बना सके। उन्हें इसके लिये समय नहीं मिला। वे चाहते थे कि सभी सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील तत्वों के साथ मिलकर ऐसी राजनीतिक पार्टी बनायी जाये जो इस समस्या के समाधान के लिये व्यापक राजनीति बनाये। इसी उद्देश्य से उन्होंने पहले आम चुनावों (१९५२) के अवसर पर सोशलिस्ट पार्टी और किसान कामगार पार्टी से मिलकर मोर्चा बनाया था। इस मोर्चे को पहले आम चुनाव में विशेष सफलता नहीं मिली

बल्कि उन्हें आशा के विपरीत कई जगह हार का सामना करना पड़ा। निराशा छा जाने के कारण यह मोर्चा टूट गया। फिर दूसरे आम चुनाव से पहले उनके और डॉ. लोहिया की सोशलिस्ट पार्टी के बीच एक पार्टी बनाने के लिये बातचीत हुई। लेकिन सहमति बन जाने के बाद भी एक पार्टी नहीं बन सकी क्योंकि अचानक डॉ. अंबेडकर का निधन हो गया। डॉ. लोहिया को इससे बड़ा आघात लगा। तब उन्होंने 'जाति तोड़ो' को अपनी नवगठित सोशलिस्ट पार्टी का एक प्रमुख मुद्दा बनाया।

डॉ. लोहिया की जाति-नीति निर्गुण सिद्धांतों और उपदेशों तक सीमित नहीं थी। वे जानते थे कि जाति-व्यवस्था को खत्म करने की निर्गुण बातें तो सभी करते हैं लेकिन जाति तोड़ना कोई नहीं चाहता क्योंकि जाति ऐसा बीमा बन गयी है जिसका प्रीमियम नहीं देना पड़ता और जन्म-मरण, शादी-ब्याह में वहीं काम आती है। लोग अपने नामों के साथ जातिबोधक विशेषण लगाना बंद कर देंगे तो भी उनके भीतर जाति-भावना बनी रहेगी। जैसे संविधान ने अस्पृश्यता को और जाति के आधार पर भेद भाव करने को अवैध घोषित कर दिया लेकिन उससे स्थिति नहीं बदली। उनका मानना था कि जाति का कैंसर हमारे खून में हैं और जब तक इस खून को नहीं बदला जायेगा, जाति हमें विनाश की ओर धकेलती रहेगी। इसीलिये उन्होंने अंतरजातीय विवाहों को इसका सबसे अच्छा समाधान बताया लेकिन यह काम व्यक्तिगत स्तर पर ही हो सकता है। राजनीति के स्तर पर जाति-विनाश के लिये उन्होंने 'विशेष अवसर' का सिद्धांत रखा । उन्होंने कहा कि सभी दलित, पिछड़े, आदिवासी तबकों को, जिनमें सब जातियों की स्त्रियां भी शामिल हैं, साठ प्रतिशत आरक्षण दिया जाय। उन्होंने इसे ठोस सगुण कार्यक्रम के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने इसे अपनी पार्टी का बड़ा चुनावी मुद्दा बनाया। इसका परिणाम हुआ कि कुछ ही वर्षों में दलित-पिछड़ी जातियों में ऐसी राजनीतिक चेतना जागी कि उसने कांग्रेस पार्टी की सत्रह-अठारह साल की इजारेदारी को खत्म कर दिया।

आगे चलकर मंडल आयोग ने विशेष अवसर के इस सिद्धांत को अपनी रिपोर्ट में अपनाकर पिछड़े वर्गों के लिये २७ प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की। इस रिपोर्ट को कांग्रेस की सरकार ने दस साल तक दबाये रखा, उसी तरह जैसे उसने काका कालेलकर रिपोर्ट को (जिसमें स्त्रियों सहित सभी पिछड़े वर्गों को ७० प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की गयी थी) दबा दिया था। १९९० में जनता दल की सरकार ने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू कर दिया तो ऊंची जातियों की राजनीति करने वाली पार्टियों– कांग्रेस और भाजपा ने उसके खिलाफ सारे देश में छात्रों का आंदोलन चला दिया। जब १९९२ में उच्चतम न्यायालय के ९ जजों की बेंच ने इस आदेश को वैध घोषित कर दिया, तब कहीं यह आंदोलन शांत पड़ा और कांग्रेस तथा भाजपा जैसी पार्टियों ने उसे माना। किंतु चूंकि पूरा नौकरशाह वर्ग और शिक्षित मध्यवर्ग ऊंची जातियों से ही बना था, उसने कभी भी

मंडल की सिफारिशों को सही ढंग से लागू नहीं होने दिया। तो डाक्टरों व इंजीनियरों ने आरक्षण के खिलाफ युद्ध ही छेड़ दिया था।

आरक्षण व्यवस्था को लागू करने के लिये विभिन्न जातियों की सामाजिक-शैक्षिक स्थिति के वैज्ञानिक आंकड़े हमारे पास होने चाहिये। पहले जनगणना के साथ ये आंकड़े इकट्ठे किये जाते थे। आजादी के बाद कांग्रेस ने ये आंकड़े जमा करने बंद कर दिये। ऊंची जातियों को डर हैं कि सही आंकड़े सामने आयेंगे तो जातियों के शोषण की सही तस्वीर सामने आयेगी और पता चलेगा कि जिन जातियों की कुल आबादी में संख्या १६-१७ प्रतिशत है वे व्यवस्था के ९५-९६ प्रतिशत पदों पर बैठी हैं। देवगौड़ा के नेतृत्व वाली जनता दल की सरकार ने जनगणना के साथ इन आंकड़ों को जमा करने का फैसला किया था और जनगणना निदेशालय ने इसकी तैयारी भी कर ली थी किन्तु तभी सरकार गिर गयी और भाजपा की सरकार ने आते ही उस फैसले को रद्द कर दिया। अगर ये आंकड़े इकट्ठे किये जाएं और इनके आधार पर जिन जातियों के बारे में पाया जाये कि उन्हें संविधान के अनुच्छेद १६ (४) के अनुसार सेवाओं और पदों पर 'पर्याप्त प्रतिनिधित्व' मिल गया है (पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिये कोई भी प्रतिशत निर्धारित किया जा सकता है) तो उन्हें आरक्षण की परिधि से बाहर किया जा सकता है। इस तरह आरक्षण का लाभ अन्य जातियों को स्थानांतरित होता जायेगा और एक समय के बाद आरक्षण व्यवस्था स्वत: समाप्त हो जायेगी और सभी जातियों की सामाजिक हैसियत में लगभग बराबरी हो जायेगी। इससे जाति व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई, सामाजिक गैरबराबरी खत्म हो जायेगी। इसी तरह आर्थिक गैरबराबरी को दूर करने के लिये प्रत्येक नागरिक की न्यूनतम आमदनी सुनिश्चित की जाय। मजदूरों, भूमिहीनों की न्यूनतम मजदूरी तय की जाय और अधिकतम आमदनी और खर्च की सीमा निर्धारित हो जो न्यूनतम आमदनी से १० गुना से ज्यादा न हो। सामाजिक-आर्थिक बराबरी स्थापित करने के साथ-साथ ऐसी व्यवस्था की जाए कि स्कूल से लेकर सचिवालय तक किसी भी सरकार या गैर सरकारी दस्तावेज में (जनगणना के दस्तावेजों को छोड़कर) किसी की जाति का उल्लेख न हो। जहां जरूरत हो वहां दलित, आदिवासी, अति पिछड़े, पिछड़े, और अगड़े इन श्रेणियों का या इनकी क्रम संख्या का उल्लेख हो तथा अंतरजातीय विवाहों, सहभोजों आदि को प्रोत्साहन दिया जाये। इन तरीकों को अपनाने से जाति व्यवस्था एक दिन खत्म हो सकती है, ऐसा लोहिया मानते थे।

स्मरणीय है कि यह सब काम समाजवाद की विचारधारा के अंतर्गत ही संभव हैं और इसके साथ-साथ अन्य समाजवादी कार्यक्रम अपनाने होंगे जैसे प्राइवेट शिक्षा संस्थानों की समाप्ति और हर बच्चे को (राष्ट्रपति से लेकर चपरासी तक के बच्चे को) शिक्षा की समान सुविधाएं, पूंजी की इजारेदारी की समाप्ति, संपत्ति की सीमा बांधना, खर्च पर सीमा लगाना, सत्ता का विकेंद्रीकरण, छोटी मशीन और सरल प्रौद्योगिकी की मदद से छोटे-छोटे

उद्योगों का विस्तार आदि आदि।

डॉ. लोहिया का कहना था कि हर वह व्यवस्था जिसमें कुछ लोग बहुसंख्यक लोगों का शोषण करने की स्थिति में होते हैं, जाति व्यवस्था का ही रूप है, इसीलिये वे पूंजीवादी व्यवस्था को भी जाति व्यवस्था मानते थे और अंतरराष्ट्रीय पूंजीवाद को (जिसका चरम रूप भूमंडलीकरण है) अंतरराष्ट्रीय जाति व्यवस्था ही कहते थे। वे संयुक्त राष्ट्र संघ को भी अंतरराष्ट्रीय जाति व्यवस्था कहते थे जिसमें पांच देश सवर्ण हैं और दो सौ के लगभग शेष देश शूद्र। इस अंतरराष्ट्रीय जाति व्यवस्था को समाप्त करने के लिये उनकी स्पष्ट योजना है, जिसमें विश्व संसद, विश्व सरकार और विश्व विकास प्राधिकरण की व्यवस्था है जो वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक आदि संस्थाओं की जगह लेंगे।

n

दलित उभार के मायने

रजनी कोठारी

जाति के मुद्दे पर एक बार फिर बहस शुरू हो चुकी है।..... जैसे-जैसे दलित और अन्य निचले वर्ग अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो कर उनकी दावेदारी करने लगे हैं, वैसे-वैसे उनके ऊपर होनेवाली ज्यादतियों में क्रूरता और आतंक की मात्रा बढ़ती जा रही है। दमित वर्गों के पूरे-के-पूरे समुदाय गहरे विक्षोभ से गुजर रहे हैं। उन्हें निरंतर अपमानजनक हालात का सामना करना पड़ रहा है। राष्ट्र,राज्य और नागरिक समाज के अंग के रूप में उनकी पहचान और उनके अस्तित्व का निरंतर क्षय हो रहा है। देश के किसी-न-किसी हिस्से में उनके ऊपर ढाये जाने वाले जुल्मों की दिल हिला देनेवाली कहानियाँ सुनने में आती रहती हैं। घटनास्थलों पर पुलिस, संबंधित प्रशासनिक अधिकारी और राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि हमेशा देर से ही पहुँचते हैं। फिर संवाददाताओं, फोटोग्राफरों, वकीलों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं की लाइन लगती है। मंत्री और मुख्यमंत्री का आगमन और भी देर से होता है। राजनीतिक फायदा उठाने के लिए प्रधानमंत्री महोदय हेलीकाप्टर से मौके का मुआयना करने पहुँचते हैं। फटाफट एक जाँच आयोग बैठा दिया जाता है। मृतकों के परिजनों के लिए मुआवजा घोषित कर दिया जाता है। इन सरकारी कदमों का व्यापक प्रचार करने के बाद हमें बताया जाता है कि यह तो 'असामाजिक तत्त्वों', विपक्षी दलों और गुटों की कारस्तानी थी। यह घटनाक्रम गरीबों और दबे-पिसों के साथ भारतीय राज्य तंत्र की मुख्यधारा के संबंधों का स्थायी भाव बन चुका है।

यह मान्यता लंबे अरसे से चली आ रही थी कि राष्ट्र-निर्माण की परियोजना में प्रगति के साथ ही जनता को लोकतांत्रिक अधिकारों का अवदान भी मिलेगा। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों और समुदायों को इससे फायदा पहुँचेगा। गरीबी, बेरोजगारी और मानवीय दुर्दशा के सभी कारणों का उन्मूलन हो जाएगा। इतिहास की द्वंद्वात्मकता जैसे-जैसे गति पकड़ेगी और उत्पादक शक्तियों का जैसे-जैसे विकास होगा वैसे-वैसे जाति, समुदाय, जनजाति और विभिन्न सामंती अवशेषों की संकीर्ण संरचनाएं अनावश्यक हो जाएँगी। अर्थात लोग नये किस्म के सेकुलर और राजनीतिक संबंधों को स्वीकार करते चले जाएँगे।

आज ये अनुमान गलत साबित हो चुके हैं।....... लंबे अरसे तक धीरज और

सहनशीलता दिखाने के बाद लोगों का यकीन डगमगाने लगा है और वे इस नतीजे पर पहुँचते जा रहे हैं कि अब शायद उन्हें अपना ख़याल खुद ही रखने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। वैसे यह ठीक ही है, क्योंकि राज्य और राजनीतिक दलों का अनंतकाल तक मुखापेक्षी हुए बिना आखिरकार जनता को अपने हित से जुड़े मामले अपने हाथ में ले ही लेने चाहिए। यही तो लोकतांत्रिक प्रक्रिया का सारतत्त्व है।

जातिगत पहचान और जाति-चेतना के नये विस्फोट को इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। न जाने कब से जातिगत-चेतना पर ब्राह्मणवादी ऊँची जातियों की इजारेदारी चली आ रही थी। आज कुछ और ही घटित हो रहा है। जातिप्रथा समेत व्यवस्था से पीड़ित लोग जातिगत पहचान और उससे संबंधित दावों को पेश कर रहे हैं। दरअसल, जिन लोगों से श्रेणीक्रम पर आधारित जातिगत विभाजनों और विषमताओं को खत्म करने की कोशिश करने की उम्मीद की जाती थी, उन्होंने ही इनका सबसे ज्यादा इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है, हालाँकि उन्हें अभी भी उम्मीद है कि समाज-व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन के जरिए ऊँच-नीच और उत्पीड़न को खत्म किया जा सकता है। जनता के इन तबकों ने जातिगत विभाजनों का इस्तेमाल करके सांप्रदायिकता और फासीवाद की ताकतों को परास्त किया है और इस तरह शोषण, दमन और तिरस्कारविहीन समाज की तरफ बढ़ने के उस कार्यभार की पूर्ति की है जिसे व्यापक सेकुलर व्यवस्था द्वारा अंजाम दिया जाना चाहिए था। जनता के इन तबकों का दावा मजबूत होने के साथ ही ऊँची जातियाँ और साधनसंपन्न लोग इसके खिलाफ गोलबंद होते जा रहे हैं। ऐसे लोगों के लिए यह जन-उभार असहनीय है, क्योंकि उनके जीवनकाल और इतिहास में ऐसा कभी हुआ ही नहीं। इसी कारण से इस जन-उभार को विभाजित और भ्रमित करने के साथ-साथ बदलाव की ताकतों को फुसला कर अपने पक्ष में करने की कोशिशें चल रही हैं। इन नये संघर्षों को दिशा देने के लिए कोई स्पष्ट और सुचिंतित विचारधारात्मक संरचना उपलब्ध न होने के कारण भी व्यवस्था पर हावी वर्ग और पार्टियों को फुसलाने, खरीदने और बाँट कर हुकूमत करने में कामयाबी मिल रही है। जाहिर है कि विषमता और शोषण के अंत की संभावनाएं अभी दूर-दूर तक भी नहीं हैं लेकिन ऐसे कई संकेत अवश्य हैं जिनसे लगता है कि यह प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। इसे नया आवेग और नयी बौद्धिक समझ प्रदान करने का वक्त आ गया है। यह समझ वंचित और दमित सामाजिक तबकों का गठजोड़ बनाने के नये मॉडलों पर आधारित राजनीतिक कार्यक्रम की बुनियाद पर खड़ी होगी।

जाति के नये उभार का ऐतिहासिक संदर्भ

....जाति और जाति जैसी अस्मिताओं के आधार पर हो रहे सामाजिक आलोड़न के प्रति आमतौर पर बौद्धिक और राजनीतिक मुख्यधारा का रवैया द्वैध से लेकर शत्रुता और

तिरस्कार के बीच कहीं न कहीं स्थित रहता है। जाति एक तथ्य है जो गैर-भारतीय ही नहीं, भारतीय प्रेक्षकों को भी लगातार चकित करता रहता है। एक सामाजिक परिघटना के रूप में इस देश के वासियों को भी 'जाति-प्रथा' अजीबोगरीब और पहेली जैसी लगती है, क्योंकि उनके लिए जाति की लंबी वंशबेलि अस्मिताओं की ही नहीं बल्कि टकराव की स्रोत भी है। उनके लिए जाति आपसी गठजोड़ों का अवसर तो प्रदान करती ही है साथ ही वह ऊँच-नीच के आधार पर होने वाले शोषण और दमन की प्रतीक भी है। अगर व्यापक जनता की नहीं तो सुशिक्षित मध्यवर्ग की जाति संबंधी समझ तो ऐसी ही है। हुकूमत करने वाले अभिजन भी जाति को इसी दृष्टि से देखते हैं । चूंकि इस वर्ग को शासन करना है इसलिए अपने सामाजिक प्रभुत्त्व के क्षेत्र को समझना और उसके यथार्थ को स्वीकार करना उसकी जिम्मेदारी होनी चाहिए। लेकिन यह पूरी तरह से भ्रमित दिखायी देता है। इन अभिजनों को अर्थविषयक और विचारधारात्मक रूप से 'जाति-प्रथा' को सांप्रदायिकता की कोटि में रख कर देखने का अभ्यास हो गया (हिंदुत्ववादी राजनीति के सांप्रदायिक रुझानों के प्रति आकर्षित होने वाले कई तत्त्व जातिगत गोलबंदी पर आधारित नये या पुराने दावों के विरोधी हैं)। जाति का तेजी से राजनीतिकरण होता जा रहा है। साथ ही जातिगत अस्मिताओं के आधार पर की जाने वाली माँगों और दावों की प्राथमिकता भी बदल रही है। पहले इन माँगों में आर्थिक प्रगति की आकांक्षाएँ ही मुख्य होती थीं, फिर इनमें सामाजिक हैसियत का दावा भी जुड़ गया और अब वे राजनीतिक सत्ता को अपना केंद्र बनाने लगी हैं। इसने जाति के विरोधियों की बेचैनी को और बढ़ा दिया है। वैसे तो बहुलतावाद हमेशा से ही भारतीय सामाजिक जीवन के आधार के रूप में स्वीकृत रहा है लेकिन अब इसकी अभिव्यक्ति समता और सामाजिक न्याय के पक्ष में ऐसे उभार के तौर पर हो रही है जिसे सरकारी नीतियों के माध्यम से नहीं वरन् राजसत्ता को अधिग्रहीत करने के जरिये हासिल किया जाना है। जाहिर है कि बहुलतावाद के पारंपरिक उदारतावादी नजरिए को अपनी अधिक रेडिकल व्याख्या का सामना करना पड़ रहा है।

जाति और उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष

सामाजिक न्याय के इस संघर्ष ने वर्ग-संघर्ष या समाजवाद के लिए किये जानेवाले संघर्ष के परे जा कर नये आयाम ग्रहण कर लिये हैं जिसके कारण वामपंथी राजनीति के साथ-साथ नये सामाजिक आंदोलनों के नाम से प्रचलित राजनीति के सामने भी चुनौती खड़ी हो गयी है। इस संघर्ष ने उस नेहरूवादी परिप्रेक्ष्य को भी चुनौती दी है जो आजादी के बाद से भारतीय अभिजनों के चिंतन को निर्देशित करता रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य के तहत समाज-परिवर्तन, आर्थिक विकास, आधुनिकीकरण, सेकुलरवाद, आधुनिक शिक्षा और चुनावी लोकतंत्र को देखा जाता रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य के तहत माना जाता रहा है कि ये

प्रक्रियाएँ देश को अंततः एक प्रगतिशील,अखण्ड और श्रेणीगत विभाजनों से मुक्त 'खुले समाज' के निर्माण की ओर ले जाएँगी। जाति-आधारित संघर्षों की इस चुनौती ने राष्ट्र-निर्माण की परियोजना और 'धर्मनिरपेक्ष' समाज बनाने में व्यस्त बहुत से व्यक्तियों और संस्थाओं को रक्षात्मक स्थिति में डाल दिया है। इनमें से ज्यादातर जाति को आधुनिक भारत के एक पुरावशेष से ज्यादा महत्त्व नहीं देते। ये लोग मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं कि कुछ खास परिस्थितियों में जाति और जातिगत पहचान राजनीतिक प्रक्रिया का एक सेकुलर उपादान भी साबित हो सकती है, जिसके जरिए सांप्रदायिक पार्टियों और विचारधाराओं का प्रतिकार भी किया जा सकता है। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा मंडल आयोग की सिफारिशों पर अमल के बाद मेरी इस दलील पर देश के प्रमुख समाजविज्ञानियों ने कड़ी असहमति दर्ज करायी थी। लेकिन मैं आज तक अपने विचार पर कायम हूँ, क्योंकि जाति मुझे उत्पीड़नकारी ही नहीं लगती, बल्कि उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष का आधार भी मुहैया कराती दिखती है। यह एक साथ परंपरा में भी बाँधती है और आधुनिकीकरण का वाहक भी हो सकती है। इसमें दो तरह के प्रभाव डालने की संभावना है: इसके जरिए सामूहिक पहचान तो उपलब्ध हो ही सकती है, यह, उस पहचान के स्रोत अर्थात श्रेणी क्रमवाली व्यवस्था को खत्म करने का माध्यम भी हो सकती है। इससे भी आगे जा कर जातिगत गोलबंदी के कुछ तरीकों से धार्मिक संकीर्णतावादी सांप्रदायिकता का मुकाबला भी किया जा सकता है। इसी दृष्टि से मैंने जाति के राजनीतिक उभार को सेकुलर उभार की संज्ञा दी थी जो प्रमुख समाजविज्ञानियों को हजम नहीं हुई।

दरअसल, ऐसा होना लोकतांत्रिक प्रक्रिया को जड़ीभूत, समतल और प्रगतिविरोधी बनाने के बजाय अधिक सक्रिय और गहन बनाने पर निर्भर है। एम.एन. श्रीनिवास और कुछ अन्य समाजविज्ञानियों ने काफी पहले राय व्यक्त की थी कि लोकतंत्र जाति को पुनर्जीवन प्रदान कर देगा। आज इस धारणा को और भी जोरदारी से दोहराया जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जाति का पुनः प्रकटीकरण तो होता है लेकिन इस चक्कर में जाति अपने-आप में परिवर्तित हो जाती है। मैं बेहिचक कहना चाहता हूँ कि 'राजनीति में जातिवाद' के जरिये जाति-प्रथा का रूपांतरण मुमकिन है। मैं अपने इस दृष्टिकोण को सत्तर के दशक में प्रकाशित एक रचना में विस्तार से प्रतिपादित कर चुका हूँ। मेरा निष्कर्ष था कि 'राजनीति में जातिवाद' असल में जातियों के राजनीतिकरण के अलावा और कुछ नहीं है' जिसका परिणाम जाति प्रथा के संरचनागत और विचारधारात्मक रूपांतरण में निकलता है। राजनीति के कारण जाति की सामाजिक संरचना के दायरे में तरह-तरह के गठजोड़ करने पड़ते हैं, जिससे इस प्रथा की कठोरता और अनम्यता का उल्लंघन होता है। धर्म-जाति निरपेक्ष राजनीतिक उद्देश्यों से जाति का टूटना और जातियों का आपस में जुड़ना उन्हें विभिन्न पार्टियों के साथ सौदेबाजी की स्थिति में ले

जाता है और राजनीति की माँगों को पूरा करने के लिए जातियों को आवश्यकतानुसार उपयुक्त सांगठनिक रूप ग्रहण करने पड़ते हैं। विचारधारात्मक लिहाज से इस प्रक्रिया में जाति श्रेणीगत से बहुलतावादी होने के बुनियादी परिवर्तन से गुजरती है। वह दैवी सामाजिक दर्जे की वाहक न रह कर राजनीतिक प्रयास के जरिए हासिल की जाने वाली सत्ता का स्रोत हो जाती है। इस तरह जातिगत भूमिकाएं कर्मकांडीय न रह कर नागरिक और राजनीतिक दायरों में परिभाषित होने लगती है।

यह एक तथ्य है कि आजादी के बाद की अवधि में जाति की सामाजिक शक्ति को घटाने और धीरे-धीरे उसकी सक्रियता का उन्मूलन करने के कई प्रयास हुए थे। ये प्रयास नाकाम रहे। इन कोशिशों के पीछे कुछ लोगों का विचार यह था कि सेकुलरवाद के विकास के साथ-साथ सांप्रदायिक और धार्मिक अस्मिताएँ ही नहीं, जातिगत पहचानों का विलोपन भी होता चला जाएगा। कुछ दूसरी तरह के लोग मानते थे कि वर्ग-चेतना के बढ़ने के साथ ही जाति-चेतना घटती चली जाएगी। इन दोनों मान्यताओं के अनुसार अवसरों की सुलभता और समानता मिलने पर लोग जाति, पंथ और अन्य ऐसी ही पारंपरिक पहचान के दायरे से निकल कर आधुनिक दायरे में आएँगे। आधुनिक शिक्षा उन्हें एक समरूप मध्यवर्ग का अंग बना देगी और इस तरह एकता-आधारित राष्ट्रीय पहचान की नयी अवधारणा उभर आयेगी। इस विकास-क्रम में धार्मिक दावे पर आधारित सांप्रदायिकता और जाति या वर्ण के दावे पर आधारित परंपरागत अस्मिताएँ महत्त्वहीन हो जाएँगी।

'जाति' और 'सांप्रदायिकता' को एक श्रेणी मानने से सबसे ज्यादा गलतफहमी फैलती है। इसमें होता यह है कि धार्मिक आधार पर ध्रुवीकरण की कोशिशों और बहुलतावादी अस्मिताओं के राजनीतिक दावों को एक समान समझा जाने लगता है। ध्यान रहे कि 'सांप्रदायिक पहचान' के दो परस्पर विपरीत असर पड़ सकते हैं : एक ओर वह सर्वभारतीय सांप्रदायिक अस्मिता की रचना करती है और दूसरी ओर पहले से जारी छोटी-छोटी अस्मिताओं का क्षय करते हुए उन्हें अधीनस्थ बना कर उनका उन्मूलन कर देती है। इसी तरह 'समुदाय' के भी दो अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। इसका मतलब सर्वभारतीय पैमाने पर समुदायों का ध्रुवीकरण करके एक समुदाय बनाने की कोशिश के रूप में भी निकाला जा सकता है (इस अर्थ का महत्त्व हाल ही में बढ़ा है) और छोटे दायरे में समुदायों के बहुलीकरण के रूप में भी देखा जा सकता है (ग्रामीण भारत में यह प्रवृत्ति हमेशा से मौजूद रही है)। लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया के प्रभाव के कारण बहुलतावाद को बढ़ावा देनेवाले लघु और स्थानीय परिप्रेक्ष्य ने बड़े पैमाने पर ध्रुवीकरण में यकीन करने वाले सर्वभारतीय परिप्रेक्ष्य के ऊपर प्रमुखता प्राप्त कर ली। सर्वभारतीय ध्रुवीकरण की यह समझ विभाजन से पहले की राजनीति की देन है। इस दौरान हुआ यह कि छोटे पैमाने पर होने वाली नाना प्रकार की राजनीतिक प्रक्रियाओं ने समाज और राजनीति के बीच

अन्योन्यक्रिया का एक दूसरा सर्वभारतीय परिप्रेक्ष्य रच दिया। इस माहौल में तब्दीली तब आयी जब मंडल परिघटना की चुनौती के जवाब में ध्रुवीकरण वाले सर्वभारतीय नजरिए ने एक धमाके के साथ राष्ट्रीय मंच पर खुद को पेश कर दिया।......

...... बहरहाल, पिछले कुछ वर्षों के राजनीतिक घटनाक्रम से लगता है कि बेहद जटिल और उथल-पुथल भरी यह प्रक्रिया अभी जारी है और इसमें कुछ नये सामाजिक पहलुओं का समावेश हुआ है। निस्संदेह सांप्रदायिकता और जाति-प्रथा लोकतांत्रिक प्रक्रिया के लिए खतरा है, लेकिन सकारात्मक दृष्टि की माँग है कि दोनों को एक-दूसरे से अलग करके देखा जाय, क्योंकि जाति को सेकुलरीकरण और लोकतंत्रीकरण के आंदोलनों के समर्थन में इस्तेमाल किया जा सकता है।

नकारात्मक लिहाज से जाति और सांप्रदायिकता मिल कर लोकतंत्र को काफी नुकसान पहुँचा सकते हैं। सांप्रदायिकता समाज की बहुलता-विविधता और उसकी बुनियादी लोकतांत्रिक दृष्टि को क्षति पहुँचा सकती है और जाति-प्रथा उस ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था को नवजीवन दे सकती है जिसमें मेहनतकश वर्गों और खास कर अत्यंत दुष्कर और नीच किस्म के श्रम के लिए तिरस्कार के अलावा और कुछ नहीं है। इस व्यवस्था का अंतिम तर्क छुआछूत की परिघटना के रूप में निकला है जिसके पीछे सभी तरह के ज्ञान का अवदान करने वाले ब्राह्मण और सभी तरह के श्रम और सेवा की जिम्मेदारी का वहन करने वाले शूद्र का बुनियादी द्विभाजन मौजूद है। दूसरी तरफ जाति-प्रथा से निकलनेवाले बहुलतावाद की अंतर्निहित सीमाओं को भी नजरंदाज नहीं किया जाना चाहिए। बहुलतावाद सुधारक ही नहीं, शोषणकारी भूमिका भी निभा सकता है। बहुलता को भी श्रेणीक्रम में आबद्ध करके विद्वेष और नृशंसता से भरा जा सकता है। ऐसी बहुलता आर्थिक अभाव और सामाजिक छुआछूत के परंपरागत रवैयों से मिल कर कारपोरेट पूँजीवाद और नौकरशाहाना चौधराहट के प्रभाव को और मजबूत कर सकती है। इस प्रक्रिया से करोड़ों लोग को गैर-जरूरी मान कर अपने दायरे से बाहर फेंक देने वाली दुनिया का जन्म हो सकता है। इस दुनिया में दलित और प्रगतिकांक्षी लगनेवाली जातियाँ हाशिये पर जा सकती हैं। ऐसे में खतरा यह है कि सुविधासम्पन्न ऊँची जातियों से नीचे की सम्पूर्ण सामाजिक जमीन सर्वहाराकरण, दरिद्रीकरण और यहाँ तक कि दलितीकरण की भी शिकार हो सकती है।........

सामाजिक प्रक्रिया के लिए जाति का महत्त्व

उदारतावादी हों या रेडिकल, किसी भी तरह की सेकुलर ताकतें जाति और जातिगत अस्मिता को परिवर्तनकारी प्रक्रिया का अंग मानने के लिए तैयार नहीं हैं। .... मैं उदारतावादी लोकतांत्रिक-प्रणाली की संबंधित असफलताओं के बारे में बता ही चुका हूँ

और वैसे भी इसके बारे में काफी जानकारी उपलब्ध है। अब मैं सामाजिक आंदोलनों और विचारधारा-आधारित वामपंथियों द्वारा किए जानेवाले सेकुलर प्रयासों की चर्चा करूँगा।

मेरे विचार से सभी तरह के नये सामाजिक आंदोलन कुछ खास किस्म की व्याधियों का इलाज करने के मकसद से सामने आये हैं। ये समस्याएँ पर्यावरण के क्षय, स्त्री-अधिकारों के हनन, जनजातीय संस्कृतियों के विनाश और मानवाधिकारों के उल्लंघन की देन हैं। लेकिन समस्या यह है कि इनमें से कोई भी आंदोलन अपने-आप में समाज के रूपांतरण की भूमिका निभाने की शक्ति नहीं रखता। इस लिहाज से ये आंदोलन अतीत की क्रांतिकारी विचारधाराओं से भिन्न हैं। लेकिन उनकी बुनियादी कमजोरी उनके बेहद विखंडित चरित्र की देन है। यही दिक्कत समाज-परिवर्तन के पहले किए जा चुके प्रयासों के साथ थी और यही समस्या मौजूदा दलगत राजनीति के साथ है। भारतीय समाज में भी यह खास बात है कि वह पूरी तरह तो कभी नहीं बिखरता लेकिन कुछ-कुछ टूटा-बिखरा जरूर रहता है। यह सही है कि भारतीय समाज अपने अंतर्निहित बहुलतावाद के कारण विखंडित होकर नष्ट होने से बचा रहता है लेकिन यह भी सही है कि इसके कारण समूची सामाजिक प्रक्रिया में एक दुर्बलता आ जाती है। तीखे ध्रुवीकरण के कारण विभाजित हुए राष्ट्रों को हिंसा और युद्ध के हाहाकारी दौर से गुजरना पड़ा लेकिन जब वे उससे उबरे तो उनकी हालत कोई बहुत खराब नहीं थी। कम-से-कम वे उन देशों से तो बेहतर हालत में थे जिन्हें निरंतर हिंसा और छोटे पैमाने पर चल रहे अलगाववादी आंदोलनों के कारण धीरे-धीरे होने वाले क्षय से गुजरना पड़ता है। अगर विखंडन की इस स्थिति से जनता के बहुत बड़े हिस्से में व्याप्त निष्क्रियता, चुप्पी और विवेकहीन सहमति के संस्कारों को जोड़ दिया जाय तो अनुर्वरता और उदासीनता की ऐसी सामाजिक स्थिति बन जाती है जिसमें गहरे तनाव, व्यथा और बहुध्रुवीयता की विकृतियाँ भी रहती हैं। नये सामाजिक आंदोलन जिस दायरे में सक्रिय हैं उसका बड़ा हिस्सा इस तरह की विभिन्न खामियों से पीड़ित है। इन्हीं के कारण ये आंदोलन जनता के ठोस एकीकृत आंदोलन के रूप में उत्पीड़ितों और गरीबों के लिए प्रासंगिक नहीं बन पाते। ये आंदोलन विखंडित, प्रतिक्रिया-आधारित और अस्थायित्व की प्रवृत्तियों के शिकार होते हैं। इनके पास बुनियादी समाज-परिवर्तन का कोई विस्तृत ढाँचा मौजूद नहीं होता। पश्चिम-विरोधी, पूँजीवाद-विरोधी या विकास-विरोधी होने या ऐसे ही दावे करते रहने मात्र से न उनमें सुसंगति आ पाती है और न ही वे उत्पीड़ितों और हाशिए पर पड़े समुदायों के संघर्ष को आगे बढ़ा पाने में सक्षम हो पाते हैं।

नया दलित आंदोलन

कई प्रमुख मुद्दों पर दलित आंदोलन नये सामाजिक आंदोलनों अथवा 'वैकल्पिक आंदोलनों' के मुकाबले भिन्न किस्म का है। खासतौर से प्रभुत्वशाली शक्तियों के खिलाफ

संघर्ष के मामले में इसका यह फर्क साफ उभर कर आता है। दलित आंदोलन सवाल उठाता है कि जोर पश्चिमी देशों के साम्राज्यवादी वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष पर होना चाहिए या देश के अंदर जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ लड़ाई पर ? दलित आंदोलन की इस बहस से आजादी की लड़ाई में उठे इस विवाद की याद ताजा हो जाती है कि राजनीतिक स्वायत्तता अधिक महत्त्वपूर्ण है या सामाजिक मुक्ति और किसी समुदाय की स्वायत्तता (और आंदोलनकारी राजनीति) पर जोर दिया जाना चाहिए अथवा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्र की स्वायत्तता पर? अगर दोनों ही जरूरी है तो दोनों पर समान जोर देते हुए कैसे आगे बढ़ा जाए? जाहिर है कि दलित आंदोलन द्वारा उठाए गये इन प्रश्नों में आंबेडकर और गाँधी के बीच हुई बहस का परिदृश्य सामने आ जाता है। इसी तरह दलित आंदोलन आधुनिकता और पश्चिमी सभ्यता की आलोचना को भी विवादित कर देता है जिससे नये सामाजिक आंदोलनों और वैकल्पिक आंदोलनों पर प्रश्नचिह्न लग जाता है, क्योंकि यह आलोचना ही इनकी वैचारिक भित्ति का निर्माण करती है। दलित आकांक्षाएँ और रणनीति मुख्य तौर पर शिक्षा, रोजगार और विशेषाधिकारों के संदर्भ में ऊँची जातियों के वर्चस्व को चुनौती देती लगती हैं। अर्थात दलितों की प्राथमिकता व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करते हुए उसे अंदर से चुनौती देना है। साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष जैसे कार्यभारों का महत्त्व उनके लिए गौण प्रतीत होता है। अपनी इसी प्राथमिकता को कुछ दलित प्रवक्ता इस तरह भी कहते हैं कि साम्राज्यवाद की प्रकृति को अनिवार्य तौर पर अंतरराष्ट्रीय और स्थानीय संदर्भों के अनुसार सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पुनः व्याख्यायित किया जाना चाहिए।

इसी तरह इस परिप्रेक्ष्य को जैसे-जैसे आगे ले जाया जायेगा और सामाजिक प्रश्न प्रमुखता प्राप्त करेगा वैसे-वैसे आंबेडकर, फुले और पेरियार जैसे अलग किस्म के आलोचकों, सुधारकों और क्रांतिकारियों की वापसी होना शुरू हो जायेगी। इन विचारकों का महत्त्व कांग्रेस आंदोलन और गाँधी के प्रभाव के कारण पृष्ठभूमि में चला गया था। यह परिप्रेक्ष्य विभिन्न जातियों और समुदायों के लिए श्रद्धा के पात्र भक्ति आंदोलन के संत कवियों समेत कई क्षेत्रीय नायकों और 'संतों' को एक बार फिर प्रकाश में ले आयेगा। इस परिप्रेक्ष्य के प्रभाव में एम.एन. राय, राममोहन राय और हिंदू समाज की बुराइयों को मिटाने के लिए प्रतिबद्ध कई उदारतावादी चिंतकों के काम फिर प्रासंगिक लगने लगेंगे। गाँधी के आगमन ने इन लोगों और राष्ट्रीय मुक्ति के संपूर्ण सामाजिक आयाम को नेपथ्य में धकेल दिया था। जाहिर है कि दलित आंदोलन के दूरगामी नतीजों का हमें अभी तक पूरा अंदाजा नहीं हो पाया है। अपनी जड़ें जमाने के बाद यह आंदोलन मौजूदा विचारधाराओं को नये मुद्दों से आवेशित करना शुरू कर देगा और इस प्रक्रिया में सामाजिक सिद्धांत का स्वदेशीकरण हो जायेगा।

उत्पीड़ितों द्वारा गाँधीवाद की आलोचना

एक लंबे अरसे से गाँधी और गाँधीवाद के जरिये भारत और एक हद तक दुनिया-भर में स्वदेशी और वैकल्पिक चिंतन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती रही है। पश्चिम की विचार-दृष्टि और परिप्रेक्ष्य को बेहद मौलिक चुनौती देने के कारण गाँधी प्रासंगिक बने रहेंगे। लेकिन हो सकता है कि भारत के अंदर उनके विचारों की लोकप्रियता घट जाय। इस समय दलितों की कतारों से एक ऐसी आलोचना उभर रही है जो उन संकटों से निपटने की गाँधीवादी योजना को आड़े हाथों लेती है जिनका सामना इस समय भारत कर रहा है। यहाँ पर हमें एक विचित्र विरोधाभास दिखायी पड़ता है। गाँधी में भारतीय समाज को बाँटने और उसकी एकता की संभावनाओं को खत्म करनेवाली दो समस्याओं को पहचानने की अनूठी क्षमता थी। इनमें एक थी दलितों का उत्पीड़न और दूसरी थी मुसलमानों का समाज में अलग-थलग पड़ जाना। हालाँकि गाँधी की ज्यादातर शक्ति ब्रिटिश शासन की ताकत के खिलाफ प्रतिरोध की अपनी विलक्षण तकनीक के इस्तेमाल में खर्च होती रही लेकिन भारतीय राष्ट्र और सभ्यता में दरार डाल कर उसे दुर्बल बना सकने वाले ये दोनों मसले उनकी चिंताओं के केंद्र में हमेशा रहे । अंतिम विश्लेषण में गाँधी इन दोनों समस्याओं का समाधान करने में नाकाम रहे। न वे देश का विभाजन रोक सके और नहीं वे हिंदू धर्म का मानवीकरण कर सके। हालाँकि अपनी लंबी पदयात्रा और नोआखाली में आमरण अनशन के जरिये उन्होंने सांप्रदायिकता के ज्वार को रोकने की शानदार कोशिश की और अंत में मुस्लिम हितों की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि भी दे दी लेकिन वे अपने 'हरिजनों' की तरफदारी करते हुए द्विज हिंदुओं से टक्कर लेने के लिए समय नहीं निकाल पाये।

भारत के भविष्य की पुनर्रचना करने के लिए गाँधी द्वारा सुझाये गये मॉडल में भी कुछ खामी थी। उन्होंने केवल ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर जोर दिया और राज्य तंत्र के विकेंद्रीकरण का आग्रह किया जो अपने-आप में नाकाफी था। वे सामाजिक सत्ता के उस ढाँचे की ओर पूरा ध्यान देने में नाकाम रहे जो हर सामाजिक और राजकीय संस्था पर हावी था। आज गाँधी के इस मॉडल पर ठीक ही सवाल उठाये जा रहे हैं कम-से -कम मुझे तो इस आलोचना में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं लगता। जितनी जल्दी उदार पूँजीवादी, मार्क्सवादी और गाँधीवादी मॉडल दलित उभार द्वारा प्रदत्त नयी समझ की रोशनी में अपने-आपको परखेंगे,उतनी ही जल्दी वे नयी परिस्थिति के हिसाब से अपने कार्यक्रम की पुनर्रचना कर सकेंगे। १९४८ में गाँधी का देहांत होने के बाद से उनके विचार के तहत कोई नया चिंतन नहीं हुआ है। भारतीय समाज के बड़े हिस्सों के लिए वे या तो पुराने पड़ चुके हैं या अप्रासंगिक हो चुके हैं। उन्हें लगता है कि गाँधी का नजरिया कुछ ज्यादा ही संरक्षणात्मक होने के कारण अपनाया जाना मुश्किल है। दरअसल गाँधी को अमरत्व प्रदान

करने की कोई जरूरत ही नहीं है। भारत में वैसे भी इतिहास में से नायकों को निकालने की परंपरा नहीं रही है। यहाँ तो पूजा योग्य देवी-देवताओं की रचना करके उन्हें बहुलतावादी लोक-परंपरा में समाहित करने का चलन है। ये देवी-देवता जनता की दैनंदिन-चेतना और भावजगत में कुछ इस प्रकार समाहित हो जाते हैं कि किसी एक संस्कृति और किसी एक राजनीति द्वारा उन्हें अपने स्वार्थ में इस्तेमाल करना नामुमकिन हो जाता है। दूसरी तरफ यही बहुलता जनता की तकलीफों और साधनहीनता को सघन बनने से रोकती है और सत्ता के क्षेत्र में लोग एकजुट होने के बजाय बिखरे रहते हैं। ज्यादा-से-ज्यादा छिटपुट विरोध की कुछ विखंडित चीखें जरूर सुनायी पड़ती हैं। बदले में उन्हें प्रभु वर्ग की ओर से दया और संरक्षण की सौगात मिलती है। जाने-अनजाने गाँधी भी इसी परंपरा के शिकार बन गये हैं। गाँधी की विरासत को मिली यह दलित चुनौती अधीनस्थ वर्ग की चेतना में नयी करवट की सूचक भी है। यह नयी चेतना किसी की मेहरबानी पर रहने से इंकार करते हुए सामाजिक सत्ता के ढाँचे में अपने न्यायपूर्ण हिस्से का दावा करती है।

दलितों, अन्य उत्पीड़ितों और सताये गये तबकों की राजनीति के इस परिवर्तनकारी उभार का दूसरा और समस्यामूलक पहलू यह है कि रेडिकल राजनीति का प्रतिनिधित्व करने और स्थापित विचारधारात्मक रूझानों को चुनौती देने के बावजूद अभी तक इस आधार पर 'राजनीतिक शक्तियों का कोई नया गठजोड़' साफ तौर पर नहीं उभर सका है। साथ ही 'जाति-प्रथा' की समूची संरचना में नीचे से ऊपर तक बढ़ते हुए तीखे टकराव जैसे हालात के बाद भी निचली जातियों की एकजुटता की कोई वास्तविक परिघटना नहीं उभर पाई है। जाति को वर्ग जैसा मानने की धारणा भी हमें कहीं नहीं ले जाती और न ही जाति और वर्ग को मिली-जुली इकाई के रूप में देखने की कोशिश के सकारात्मक नतीजे निकलते हैं। अगर जाति में वर्ग-चेतना का समावेश हो गया होता तो अभी तक जाति को एक नयी सबाल्टर्न अथवा निम्नवर्गीय पहचान मिल गयी होती है।....

वामपंथी आंदोलन की नाकामी

जाति-धर्मनिरपेक्ष राजनीति की तीसरी धारा के रूप में वामपंथी आंदोलन पर विचार करने से पता चलता है कि यह धारा भी उदार- लोकतांत्रिक और नये सामाजिक आंदोलनों की धाराओं की भाँति वास्तविक सामाजिक परिवर्तन के लिए आधार प्रदान करने में असफल रही। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि वामपंथी आंदोलन बहुत पहले से ही अपना आंदोलनकारी चरित्र खो चुका है। पहले माना जाता था कि वामंपथी राजनीति ऐसे जनांदोलनों पर आधारित होगी जो व्यवस्था के संस्थागत ढाँचे में मौजूद गूंजाइशों का इस्तेमाल करेंगे। लेकिन व्यवहार में ऐसा हुआ नहीं। जो हुआ वह उल्टा था। विधायिकाओं और निर्वाचन की प्रक्रिया से मिली गुंजाइशों ने जनांदोलनों का इस्तेमाल

करके उनसे फायदा उठा लिया। वामपंथी कतारों में आंदोलनकारी वेग एक हद तक बना रहा और विचारधारात्मक मसले उनका सरोकार बने रहे लेकिन ये पार्टियाँ राजनीतिक व्यवहार के ऐसे दायरे नहीं बना पायीं जिनमें सामाजिक रूप से उत्पीड़ित लोगों को प्रतिनिधित्व मिल सकता। वामपंथी आंदोलन एक तरफ तो सांगठनिक रूप से विखंडित रहा और दूसरी तरफ लोकतांत्रिक केंद्रवाद के नाम पर उसमें शिला जैसी एकाश्मिता रही। कई हिस्सों में टूटने के बावजूद उसका चरित्र बहुलतावादी नहीं हो पाया। उसकी सांगठनिक संरचना में कभी किसी जीवंत लोकतांत्रिक प्रक्रिया का समावेश नहीं हो सका। लंबे अरसे से और आज भी इस आंदोलन के नेतृत्व पर ऊँची जातियाँ हावी रही हैं। न केवल शैली, बल्कि बौद्धिक पकड़ में भी यह नेतृत्व ब्राह्मणवादी रहा है यह आज भी राष्ट्रवादी सेकुलर मतवाद का विकल्प देने के बजाय उससे चिपका हुआ है। वैकासिक प्रतिमान के संदर्भ में भी वामपंथी लोग प्रगतिवाद और प्रौद्योगिकीवाद की खिचड़ी पकाते हुए दिखते हैं। जनांदोलनों से अपनी वैधता ग्रहण करने के बजाय वे संसदीय लोकतंत्र और राष्ट्रवादी-धर्मनिरपेक्ष ढाँचे के अंदर अपनी गतिविधियाँ चला कर संतुष्ट हैं जिसके कारण वे इस व्यवस्था का कोई विकल्प देने में असमर्थ रहे हैं। हालत इतनी खराब है कि भाकपा और माकपा जैसी उनकी पार्टियाँ आपातकाल के कड़वे तजुर्बे के बावजूद कांग्रेस-कम्युनिस्ट संसर्ग की व्यूह-रचना से नहीं उबर पायी हैं जिसके निर्माण में मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों और पार्टी के सिद्धांतकारों ने प्रमुख भूमिका निभायी है। ये बुद्धिजीवी पदों और रंग-रुतबे का प्रलोभन नहीं ठुकरा सके। कांग्रेस से पूरी तरह मोहभंग हो जाने के बाद भी दक्षिणपंथी चुनौती का सामना करते ही इनमें से ज्यादातर काँग्रेस के साथ अवसरवादी तालमेल बनाने में लग जाते हैं। किसी महत्वपूर्ण क्रांतिकारी विकल्प बनाने का प्रयास तो छोड़ ही दीजिए, व्यवस्था के दायरे में किसी दीर्घकालीन और कारगर वामपंथी विकल्प बनाना भी उनकी प्राथमिकताओं के दायरे में नहीं आता।

नक्सलवादी संगठनों में भी ग्रामीण और क्षेत्रीय स्तर पर एक अरसे तक शानदार संघर्ष चलाने के बाद थकान के लक्षण दिखने लगे हैं और उन्होंने चुनाव के मैदान में कदम रख दिये हैं। इन संगठनों ने ज्यादातर द्विज और पिछड़ी जातियों में से ही अपने उम्मीदवार छाँटे हैं। वर्ग-शत्रु के सफाये की कार्यदिशा के प्रति प्रतिबद्ध अतिवादी किस्म के माओवादी गुटों पर भी ब्राह्मणों और ब्राह्मणवादी लोंगों के वर्चस्व के कारण जातिगत कलह हावी है। मार्क्सवादी लेनिनवादी धारा के कुछ व्यक्तियों और समूहों ने आत्मनिर्णय के लिए चलाये गये क्षेत्रीय आंदोलनों और संघवादी आधार पर चल रहे कुछ जातीयतावादी आंदोलनों में भागीदारी शुरू कर दी है। इनमें पंजाब, कश्मीर असम और उत्तर पूर्व में चल रहे आंदोलन शामिल हैं। दो किस्म की जुझारू राजनीति के मिलन के बावजूद ये तत्त्व ज्वलंत सामाजिक मुद्दों से रूबरू होने में नाकाम रहे हैं। वास्तव में उत्पीड़ित और समाज से बहिष्कृत

सामाजिक समूहों की तो इन ताकतों ने उपेक्षा की ही है। इसकी एक मिसाल पंजाब में देखी जा सकती है जहाँ अनुसूचित जातियों और मजहबी सिखों का समर्थन अभी भी कांग्रेस को ही मिलता है।

वामपंथी धारा में संभवतः एकमात्र अपवाद जाति-वर्ग में सामंजस्य का दावा करने वाली सत्यशोधक विचारधारा ही है। लेकिन इसकी पहली समस्या तो यह है कि इसका प्रभाव केवल महाराष्ट्र के कुछ जिलों तक ही रह गया है और वहाँ भी यह ताकत महारों और अन्य अनुसूचित जाति-समूहों के बीच कारगर गठजोड़ निकालने में नाकाम रही है। सत्यशोधकों की दूसरी समस्या यह है कि वे माकपा से अपना पुराना हिसाब-किताब चुकता करने में ज्यादा फँसे रहते हैं। माकपा असंतोष के ऐसे किसी रेडिकल स्वर को सहन करने के लिए तैयार नहीं है जिसमें जाति और जातिगत चेतना को राजनीतिक गोलबंदी के वैध तरीके के रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया गया हो। माकपा निचली और उत्पीड़ित जातियों में भी इस आधार पर राजनीति करने से बेचैनी महसूस करने लगती है। इसीलिए माकपा के पास सत्यशोधकों के लिए तिरस्कार और उपहास के अलावा कुछ नहीं है। कुछ इलाकों में सत्यशोधकों ने शासक वर्ग, यहाँ तक कि पुलिस के साथ हेल-मेल का अवांछित कदम भी उठाया है। कुल मिला कर मार्क्सवादी विचारधारा में सत्यशोधक किस्म के सुधारवादी प्रयास और शेतकरी संगठना सरीखी जमीनी और प्रामाणिक पहलकदमियाँ दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद और स्थापित वामपंथी ताकतों के दोहरे दबाव के बीच पिसी जा रही हैं।

इन हालात का नतीजा यह निकला है कि दलितों और अन्य उत्पीड़ित समूहों में जनचेतना के ज्वार से तेज हुई राजनीतिक प्रक्रिया के निश्चित वामपंथी रुझान के बावजूद वामपंथी आंदोलन इन सामाजिक तबकों में जड़ें जमाने और उनके जरिए व्यापक राजनीतिक दायरे में अपना वर्चस्व कायम करने में नाकाम रहा है। दरअसल, उनकी बजाय टिकैत, शरद जोशी और नाजुंदास्वामी जैसी पूरी तरह गैर-वामपंथी और सामाजिक रूप से द्विजों के बीच से आयी ताकतों ने अपनी घुसपैठ कर ली है। दलितों के साथ गहरी हमदर्दी रखने वाले कुछ संवेदनशील बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं ने भी इन लोगों का दामन थाम लिया है। इस संबंध में गेल ऑम्वेट का उदाहरण दृष्टव्य है। आज तक वामपंथी आंदोलन अर्थवाद का शिकार बना हुआ है और उसकी दुनिया में सामाजिक पहलुओं को जान-बूझ कर नजरंदाज किया जाना जारी है, जबकि असलियत यह है कि देश आजकल जिस राजनीतिक संकट का सामना कर रहा है उसके केंद्र में सामाजिक संकट ही है और इस सामाजिक संकट का मर्म है जाति-प्रथा का संकट। यही कारण है कि हवाएँ एक नये विचारधारात्मक आह्वान से गूँज रही हैं जो गाँधी, नेहरू, मार्क्स, लेनिन अथवा माओ के नाम से नहीं, बल्कि आंबेडकरवाद के नाम से पहचाना जा रहा है।

दुर्भाग्य से आंबेडकरवादी अपील भी भ्रम और फूट की शिकार है। ऊपर से इसे ब्राह्मणवादी दशानन भी हवा दे रहा है। आम समझ के विपरीत ब्राह्मणवाद कोई जड़सूत्रीय वैचारिक संरचना नहीं है, बल्कि यह बड़े लचीले ढंग से सक्रिय होते हुए नित नये दायरों पर वर्चस्व स्थापित करने की परियोजनाओं में व्यस्त रहता है। यह नयी उदीयमान ताकतों पर पलट कर हमला करता है। इसका उदाहरण १९९३-९४ के दौरान उप्र में दलित-विरोधी हिंसा के उफान में देखा जा सकता है। दूसरी ओर यह विचारधारात्मक प्रवृत्ति मँझोली और निचली जातियों को अपने दायरे में समेटने की कोशिश भी चलाती रहती है। ब्राह्मणवाद के प्रभाव से पिछड़ों और दलितों के वे उच्च शिक्षित और प्रभावशाली तबके भी अछूते नहीं रह पाते हैं जो नीच समझे जानेवाले कामों और मेहनतकश जनता के हताशाजनक हालात से छुटकारा पा कर उत्पीड़ितों के आंदोलन का नेतृत्व करने की स्थिति में आ गये हैं। ब्राह्मणवाद 'संस्कृतिकरण' की प्रक्रिया के जरिए विद्रोही चेतना को कुंद कर देता है। आंबेडकरवादी आंदोलन भी ब्राह्मणवाद द्वारा किये जाने वाले इस आत्मसातीकरण के लाइलाज मर्ज का शिकार रहा है। शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन से ले कर रिपब्लिकन पार्टी तक आत्मसातीकरण के इस इतिहास को देखा जा सकता है। दलित पेंथरों और विभिन्न आरक्षण समर्थक आंदोलनों से लेकर आंबेडकर के नाम पर बड़े पैमाने पर तेजी से उभरे संगठन तक इस समस्या का सामना कर रहे हैं। चूँकि आंबेडकरवाद के इस प्रसार के पीछे दलित आईएएस अफसरों की मुख्य भूमिका है और उन्हीं को इसका सबसे ज्यादा फायदा भी मिला है, इसलिए यह आंदोलन आरक्षण पर कुछ ज्यादा ही जोर देता है। दूसरी तरफ ऊँची जातियाँ दलितों के उभार और मध्यवर्गीय व्यवसायों में उनके धीरे-धीरे प्रवेश से डर गयी हैं। उन्होंने समाचार माध्यमों पर अपनी पकड़ और ग्रामीण राजनीति में अपनी चालबाजियों का सहारा ले कर इस समूची परिघटना को जबर्दस्त जातिवादी उछाल के रूप में चित्रित करना शुरू कर दिया है। टकराव और हिंसा की स्थानीय घटनाओं को ये जातियाँ जाति-युद्ध फूट पड़ने के रूप में दिखाती हैं।

दलित-बहुजन गठजोड़

प्रतिक्रिया और हताशा के इन अफसोसनाक अनुभवों के मुकाबले एक ऐसी रेडिकल धारा ने जन्म लिया है जो वामपंथी नहीं है। इसे अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के दलित-बहुजन गठजोड़ के नाम से जाना जाता है। यह संरचना मंडल नारे की पैदाइश है लेकिन यह केवल सामाजिक न्याय की धारणा तक ही सीमित नहीं है। सामाजिक न्याय का अर्थ है मौजूदा राज्य और उसके सत्ताधारियों को निचले सामाजिक तबके की माँगों के प्रति अधिक न्यायोचित और अनुकूल बनाना। लेकिन दलित-बहुजन गठजोड़ इस सीमा को लाँघ कर अपने लिए राजसत्ता का दावा करता है। लेकिन इस गठजोड़ की भी कुछ

समस्याएँ हैं। पहली बात तो यह है कि दलित और पिछड़े वर्गों के बीच सामाजिक और सांगठनिक रूप से बहुत कम समानताएँ हैं। अनुसूचित जातियाँ संरचनागत रूप से अपेक्षाकृत समरूप हैं। पिछड़े वर्ग आंतरिक रूप से बेहद अलग-अलग और असम है। देहाती इलाकों में कई पिछड़ी जातियाँ दलितों पर आतंक बरपाती हुई देखी जाती हैं। दूसरे, ब्राह्मणवाद द्वारा आत्मसातीकरण की लंबे अरसे से चल रही मुहिम के प्रतिक्रियास्वरूप दलितों में एक स्वायत्त किस्म की पृथक पहचान और सदस्यता पर अत्यधिक जोर देने की प्रवृत्ति पैदा हो गयी है, जिसके कारण वे ऐसे आंदोलनों, बुद्धिजीवियों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से भी कटे रहते हैं जो दूसरी जातियों के होते हुए भी उनके तरफदार हैं। बसपा की नेता मायावती द्वारा गाँधीवादी, लोहियावादी और वामपंथी ताकतों के खिलाफ हमलावर तेवर अपनाने को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। दलित हितों की सेवा करने के लिए अपनायी गयी इस रणनीति का लाभ शासक वर्ग और उसकी कांग्रेस व भाजपा जैसी पार्टियों को मिल सकता है। दलितों को अपनी कतारों में भर्ती करके वे स्वयं को उनके हितों का रक्षक बताती हैं और फिर कई तरह की रियायतों के जरिये उनके आत्मसातीकरण और उन्हें भ्रष्ट करने की योजना पर अमल करती हैं।

जनता के बीच संघर्ष और पहचान से जुड़े इस अलगाववादी रवैये की व्याप्ति इतनी ज्यादा है कि दलित उभार वामपंथ के जुझारू आंदोलनों से कट गया है जिसके कारण इन दोनों के आमूलवादी सामाजिक-आर्थिक आग्रहों के ऊपर विपरीत असर पड़ा है। इसी वजह से शासक वर्ग मुख्यधारा में उनके वामपंथी पार्टियों समेत आत्मसातीकरण की परिस्थितियाँ पैदा कर देता है। इसके कारण वामपंथी और रेडिकल राजनीति के लिए नया संकट पैदा हो गया है। वामपंथी आंदोलन दुनिया के पैमाने पर पहले से ही भारी संकट का शिकार है। एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में समाजवाद ध्वस्त हो चुका है। मार्क्सवादी विचारधारा पर ही नहीं, निजी तौर पर मार्क्स और लेकिन के ऊपर भी तीखे सवाल उठाये जा रहे हैं। ऐसे हालात में दलितों द्वारा अपनाया गया आक्रामक रवैया वामपंथ को और भी रक्षात्मक मुद्रा अपनाने के लिए मजबूर कर देगा। लेकिन इससे दलित संघर्ष को भी इतिहास की उत्प्रेरक शक्ति बनने लायक आवश्यक राजनीतिक आधार नहीं मिल पा रहा है। ध्यान रखना होगा कि एक तरफ पूँजीवादी और साम्राज्यवादी साजिशें हैं जो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत हैं। दूसरी तरफ कट्टरपंथी और फासीवादी ताकतें हैं जिन्हें दलितों और मुसलमानों ने उप्र में भाजपा को पराजित करके कुछ पीछे जरूर धकेला है। जब तक रेडिकल रूपांतरण के लिए प्रतिबद्ध नयी चेतना खुद को इन दोनों नकारात्मक शक्तियों के उफान के खिलाफ चल रहे व्यापक सामाजिक और अंतरराष्ट्रीय आंदोलन के अंग के रूप में नहीं देखेगी, तब तक वह ब्राह्मणवाद के पलट कर किये गये हमले के साथ-साथ शासक वर्ग द्वारा आत्मसातीकरण के दोहरे दबाव का सामना करने के लिए अभिशप्त रहेगी।

दलित आंदोलन को एक सच्चे मुक्तिकामी आंदोलन के रूप में उभरना होगा। जो समाज-परिवर्तन की राजनीति में लगे हुए हैं, ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था की अंतिम पराजय के लिए दलित आंदोलन को उन सभी समूहों को गोलबंद करने की जिम्मेदारी निभानी होगी। समाज-परिवर्तन की धारणा पर हावी अर्थवादी परिभाषाओं को बदलने के लिए दलित आंदोलन को बुनियादी तौर पर इसकी सामाजिक पुनर्परिभाषा करने की कोशिश करनी होगी। साम्राज्यवाद और 'नयी विश्व-व्यवस्था' के खिलाफ किये जाने वाले संघर्ष में भी राष्ट्रों के अंदर और उनके बीच सामाजिक आयाम का प्रवेश करना होगा। लेकिन जातिगत पहचान के रूप में या किसी अन्य सामाजिक श्रेणी के संदर्भ में दलितों को अलगाववाद का शिकार होने से बचना होगा। अपने संघर्ष का आधार व्यापक बनाने की प्रक्रिया में न तो झुकने या पीछे हटने की जरूरत है और न ही किसी भय अथवा असुरक्षा की ग्रंथि से पीड़ित रहने की आवश्यकता है।

दलित आंदोलन के लिए परिप्रेक्ष्य

विभिन्न जातियों और वर्गों में संवेदनशील और परितर्वन के लिए प्रतिबद्ध लोगों की कोई कमी नहीं है। ये लोग देश-भर में अपने-अपने क्षेत्रों में नया समाज बनाने के लिए अपने ढंग से काम में लगे हुए हैं। इन्हीं के प्रयासों के कारण व्यथित कर देने वाले नाटक और फिल्मों की रचना होती है, सामाजिक उत्पीड़न और सरकारी आतंकवाद की जानकारी दे कर बेचैन कर देने वाली रपटें प्रकाशित होती हैं, साहित्यिक और मानवतावादी कोशिशें हमारी आत्मा को झिंझोड़ देती हैं। (' सहमत' के तत्वावधान में ६ दिसंबर १९९२ के बाद कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों और साहित्यकारों द्वारा चलायी गयी मुहिम इसकी एक मिसाल है)। दलित कविता का आवेग, नारीवादियों द्वारा पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष, दमन, अत्याचार, हमलों और बलात्कार के खिलाफ प्रतिरोध का जन्म भी इसी दायरे से होता है। अपनी जमीन, जंगल, पूर्वजों की विरासत और अपनी सर्वांग विश्व-दृष्टि को बचाने और समृद्ध करने के लिए चलाए जाने वाले छोटे-छोटे आंदोलनों के प्रेरक ब्योरे भी इन्हीं लोगों की प्रतिबद्धता के परिणाम होते हैं। दलित आंदोलन को चाहिए कि वह इन सभी को अपने आगोश में समेट कर समाज-परिवर्तन के नये हरावल की रचना करे। इस प्रक्रिया में दलित आंदोलन का आधार तो व्यापक होगा ही, उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक जमीन भी अधिक पुख्ता और बेहतर बनेगी।

लेकिन इस प्रकार की समेकित दृष्टि को धरती पर उतारना आसान नहीं है। यह केवल विचारों की दुनिया में किये जाने वाले अकादमीय व्यायाम से संभव नहीं हो सकता। दरअसल ऐसी घटना तो किसी के कल्पना-जगत में भी अभी तक घटित नहीं हुई है। मानवता को सुसंगत भविष्य की तरफ बढ़ा सकने वाली ऐसी कोई समेकित दृष्टि विचारों के

इतिहास में अभी तक नहीं उभरी है, जिसे यथार्थ के धरातल पर लागू किया जा सका हो और जिसके जरिये आशा और संकल्प का संयोग उपलब्ध किया जा सका हो। मानवीय उद्यम की लंबी प्रसव-पीड़ा के विभिन्न मोड़ों पर चलाये गये आदर्शवादी और उद्भावक आंदोलन सामाजिक यथास्थिति में ऐसा हस्तक्षेप करने में नाकाम रहे हैं जिनका असर उनके दायरों के बाहर भी पड़ा हो । यूरोपीय ज्ञानोदय की बौद्धिक बुनियाद रखने की कोशिश करने वाले फ्रांस के विश्वकोषवादियों के प्रयासों का भी कोई नतीजा नहीं निकल सका है। ऊपर की गयी चर्चा में हम देख चुके हैं कि इस विचार श्रेणी की लोकतांत्रिक उदारतावादी किस्म और कुछ अधिक रेडिकल मार्क्सवादी किस्म भी इस दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकी है। ये दोनों ही उद्यम सामाजिक रूप से उत्पीड़ित लोगों और समुदायों की वैचारिक और व्यावहारिक जरूरतों को पूरा नहीं कर सके हैं। आध्यात्मिक और नैतिक दायरे पर नजर डालने पर दिखता है कि गाँधी और उनकी शिष्य-मंडली की पहुँच भी समाज के इस तबके तक नहीं हो सकी है। श्रीअरविंद और रमण महर्षि की दार्शनिक शिक्षाओं की पहुँच तो और भी कम साबित हुई है। उनकी बातें ज्यादा-से-ज्यादा मंच से किये जाने वाले उपदेशों तक ही सीमित रह गयी हैं। लेकिन मौजूदा वैचारिक धाराओं की अपर्याप्तताओं के कारण निष्क्रिय हो कर बैठ जाने के बजाय हमें प्रासंगिक सूत्रों को उठा कर नयी शुरूआत करने में जुट जाना चाहिए। उम्मीद और सतत संघर्ष के सहारे मानवीय उद्यम के गर्भ से निकले विविध मंथनों में से ही सकारात्मक भविष्य अपना आकार ग्रहण करेगा। भारत के दलित आंदोलन को इसी विराट मंथन के अंग की तरह समझा जाना चाहिए।

n

अति दलितों का दर्द

दर्शनरत्न 'रावण'

संविधान अर्थात सबके लिए एक समान विधान। मगर जिन पर विधान लागू होना हो, पहले वो एक समान होने चाहिए तभी न्याय कहा जा सकता है। किसी कमजोर नजर वाले व्यक्ति का सामान्य व्यक्ति से मुकाबला तभी जायज माना जाएगा जब एक ऐनक देकर कमजोर नजर वाले को बराबरी दे दी जाए। ऐसी ही व्यवस्था का नाम आरक्षण है।

आरक्षण की जो व्यवस्था की गई उसमें अनुसूचित जातियों की राज्य स्तरीय सूचियाँ बनाई गई और सभी मलिन पेशा जातियों को मिलाकर एक नाम अनुसूचित जाति देकर आरक्षण दे दिया गया। यहीं से एक नई समस्या का उदय हुआ। इस पर उसी वक्त से एतराज दर्ज करवाने की कोशिश जारी हो गई। १९६३ में उभर सिंह एडवोकेट नाम के एक विधायक ने जवाहर लाल नेहरू को पत्र भेजा जिसके जवाब में सहमत होते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री ने कहा आपका कहना कि दलितों में रविदासी (चमार) अन्य सबसे आगे हैं बहुत ठीक है। हमें अन्य दलितों को आगे लाने की कोशिश करनी चाहिए।

यह वैसी ही स्थिति है जैसे किसी स्कूल में दिए जाने वाला खाना एक ही थाली में परोस दिया जाए। तब उन बच्चों में ताकतवर तथा चतुर बच्चे दूसरों के हिस्से को भी खा जाएँगे। ऐसी ही विकट परिस्थिति का सामना वाल्मीकि (सफाई कामगर) समाज कर रहा है। सफाई के कार्य के अलावा वाल्मीकि समाज को कहीं भी आरक्षण का लाभ नहीं मिला। केवल नौकरियों में ही नहीं बल्कि राजनीति में भी कमोबेश यही स्थिति है। केन्द्र सरकार में एक भी मंत्री वाल्मीकि समाज से नहीं है। पिछली राजग सरकार में भी यही स्थिति थी। यही स्थिति अन्य प्रांतों में भी है। यू.पी. जहाँ की सरकार ही दलित अक्रोश से पैदा हुई है वहाँ पर बसपा ने ४०२ सीटों पर चुनाव लड़ा मगर एक टिकट भी वाल्मीकि समाज को देने की जरूरत नहीं समझी।

आरक्षण में आरक्षण की बात इन्हीं हालात में पैदा हुई और सबसे पहले पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री ज्ञानी जैल सिंह ने वाल्मीकि समाज के मर्म को समझा और १९७५ में एक सरकारी आदेश द्वारा पंजाब में जारी आरक्षण का आधा हिस्सा अर्थात १२.५ प्रतिशत वाल्मीकि या मजहबी जाति के लिए अलग से सुनिश्चित कर दिया। २० वर्ष बाद हरियाणा

की भजनलाल सरकार ने १९९५ में कुछ ऐसी ही व्यवस्था करने की कोशिश की। आंध्र प्रदेश में भी चंद्र बाबू नायडु ने अनुसूचित जाति की स्थिति के अनुसार आरक्षण को चार भागों में बांट कर सबसे पिछड़ों के लिए अनिवार्यता तथा प्राथमिकता निर्धारित की। १४ सितंबर, २००२ को यू.पी. की भाजपा सरकार के मुख्यमंत्री राजनाथ सिंह ने भी इसी व्यवस्था को न्याय संगत मानते हुए अलग-अलग आरक्षण की व्यवस्था कर दी। पिछले वर्ष ११ मई २००७ को राजस्थान की वसुंधरा सरकार ने भी लगभग इसी तरह की व्यवस्था करते हुए आरक्षण में वाल्मीकि समाज की कमी (बैकलाग) पूरी करने के लिए एक शासनादेश जारी किया कि तमाम रिक्त पदों पर केवल वाल्मीकि जाति के पोस्ट ग्रेजुएट, एम.बी.बी.एस, कम्प्यूटर इंजीनियर तथा अन्य डिग्री धारकों को भर्ती किया जाए।

उपरोक्त सभी प्रयासों के विरूद्ध अलग-अलग राज्यों के संपन्न दलितों ने याचिकाएँ दायर करके रोक लगवाने की कुचेष्टा की। अब वर्तमान में केवल पंजाब में विधानसभा के विशेष प्रस्ताव के कारण अलग आरक्षण की व्यवस्था लागू है मगर वो भी केवल नौकरी में की गई है, शिक्षा में इसे लागू नहीं किया गया । जबकि झारखंड सरकार की पिछड़ा वर्ग नीति पर सुप्रीम कोर्ट के माननीय न्यायाधीश ए.आर. लक्ष्मनन तथा न्यायाधीश लोकेश्वर सिंह ने फैसला सुनाते हुए कहा है कि अगर किसी जाति विशेष के पिछड़ेपन के साक्ष्य मौजूद हों तो उसके लिए अलग आरक्षण की व्यवस्था की जा सकती है।

वाल्मीकि जाति (सफाई कामगार) के पिछड़ेपन के साक्ष्य इससे बढ़कर और क्या हो सकते हैं कि दुनिया भर की गंदगी को वे अपने हाथों से अपने सिर पर उठाएँ और आज उसकी इस नारकीय पेशे की कमाई विंदेश्वर पाठक तथा उसके जैसे अन्य लोग खाएँ। यही नहीं अभी हाल में घरों से निजी स्तर पर कूड़ा उठाने वालों पर भी सवर्ण ठेकेदार लादने की व्यवस्था मोहाली (पंजाब) में करने का कुप्रयास किया जा रहा है। देश की आबादी बढ़ी है, शहरीकरण बड़ी तेजी से हुआ, शहरों का क्षेत्रफल भी बढ़ा जिसने सीवर सिस्टम पर दोबारा से सोचने को मजबूर किया। मगर इस सबके बावजूद पिछले बीस वर्षों सें सफाई मजदूर तथा सीवर मैने की पक्की भर्ती न के बराबर। इनके स्वास्थ्य तथा जीवन की कोई गारंटी किसी सरकार ने नहीं उठाई। सीवर में मरने वालों की संख्या रोज बढ़ती जा रही है मगर आज तक किसी अधिकारी को सीवर मैन की मृत्यु का दोषी नहीं ठहराया गया। जबकि जंगली पशु-पक्षियों को मारने पर कई कानून आ गए मगर इस शहर में रहते, शहर को संवारने वाले की दशा पर एक भी कानून नहीं। हाँ ऐसा कानून है कि सफाई मजदूर का बच्चा सफाई मजदूर ही बने। जम्मू कश्मीर के नियम के एस.आर. की एक धारा में यही कहा गया है कि शिक्षा प्राप्त करने के बाद सफाई कामगार का बच्चा जम्मू-कश्मीर सरकार में केवल सफाई कर्मचारी के पद के लिए ही आवेदन कर सकता है। यह कानून वहाँ आज तक जारी है और शेष देश में भी अलिखित रूप में यही व्यवस्था चल रही है।

इस समस्या का समाधान वही है जो २४ सितंबर १९३२ को युग-पुरुष डॉ० आंबेडकर ने तमाम दलितों के लिए दिया था कि दलित को औरों के बराबर लाने के लिए आरक्षण जैसी सुविधा जरूरी है। अब दलितों में भी पीछे रह गए वाल्मीकि तथा अन्य जातियों के लिए आरक्षण में आरक्षण की सुविधा का होना अति अनिवार्य हो गया है। हालांकि विकसित दलित वही तर्क दे रहे हैं जो कभी आरक्षण विरोधियों ने दिया था कि इससे हम या हमारा समाज बंट जाएगा। मगर आरक्षण के बाद न भारतीय समाज बंटा था न ही अलग आरक्षण के बाद दलित समाज बंटेगा बल्कि बराबर आकर और मजबूत हो जाएगा।

स्वच्छकार समाज की परिवर्तन यात्रा

बेजवाड़ा विल्सन

यह जानना कितना दुखदायी है कि आप कौन हैं? क्या होता है जब एक बच्चे को पता चलता है कि वह अछूत है और मनुष्य की समानता में उसका कुदरती विश्वास बिखर जाता है?

जब मैं कर्नाटक के कोलार स्वर्ण क्षेत्र में बड़ा हो रहा था, उस समय मेरे मां-बाप ने यह बात मुझसे छुपाए रखी कि परिवार का भरण-पोषण उनके मैला ढोने के काम से होता था। १९८६ में जब मैं बीस साल का हुआ तो मैंने तय किया कि मैं सफाई कर्मचारी की अपनी कालोनी के बच्चों को पढ़ाई में मदद करूंगा। उन बच्चों के पढ़ाई छोड़ने से चिंतित होकर जब मैंने इसका कारण पता किया तो पता चला कि उनके पिता अपनी कमाई शराब में उड़ा देते थे। मुझे लगा कि यह तो अपराध जैसा है, लेकिन बच्चों के पिताओं का जवाब था कि वे इसलिए पीते हैं कि उस काम की स्थितियों में अपने को जिंदा रख सकें। मैं स्वयं अपनी आंखों से यह देखना चाहता था कि आखिर वह कैसी खराब स्थिति है जो उन्हें शराब पीने पर मजबूर करती है, लेकिन उन्होंने मुझे कभी यह नहीं देखने दिया। एक दिन बड़ी चतुराई से मैंने उन लोगों का पीछा किया तो पाया कि वे लोग कोलार स्वर्ण क्षेत्र के सूखे सांडास से दूसरों का मैला उठा रहे हैं।

जब मैं घर आया और अपने मां-बाप को बताया तो उन्होंने मुझे भयाक्रांत करने वाला खुलासा किया कि स्वयं वे दोनों भी अपनी पूरी जिंदगी यही काम करते रहे हैं। १९८६ के उस दिन के बाद से मैंने सिर्फ एक काम किया है– वह है भारत से मैला ढोने की प्रथा के अंत के लिए प्रयास। मैला ढोने वाले वाल्मीकि, डोम और अरूंधतियार जैसी कुछ विशेष दलित जातियों से आते हैं इस काम से जुड़ी चुप्पी और शर्म के चलते इस अमानवीय प्रथा के खिलाफ बोलने और इसे खत्म करने में और भी मुश्किलें आती हैं।

मैं इस मुद्दे पर काम करने वाला कोई अकेला नहीं था, मेरे साथ अनेक दूसरे भी थे और यह आंदोलन का ही नतीजा है कि १९९३ में सरकार मैला ढोने की प्रथा के खिलाफ कानून बनाने के लिए मजबूर हुई। बहरहाल, कानून पर अमल कराना कानून बनाने से ज्यादा मुश्किल रहा और आज भी है। राज्य सरकारें, जिला कलेक्टर और नगरपालिकाएं

अपने क्षेत्र में मैला ढोने की प्रथा के वजूद के बारे में झूठ बोलते हैं। इसके लिए वे कानून में तकनीकी छिद्र का सहारा लेते हैं और कहते हैं कि चूंकि सफाई कर्मचारी मैला अपने सर पर नहीं उठाते हैं, इसलिए उसे मानव द्वारा मैला ढोना नहीं कहा जा सकता।

इस प्रथा को समाप्त करने के लिए दलित एक्टिविस्ट पॉल दिवाकर और सेवानिवृत्त आईएएस अफसर एस. आर. शंकरन जो ७ अक्टूबर, २०१० को इस संसार को अचानक अलविदा कहने के पहले तक हम लोगों के साथ अथक रूप से काम करते रहे थे, के साथ मिलकर हम लोगों ने १९९५ में सफाई कर्मचारी आंदोलन (एसकेए) का गठन किया।

सबसे पहले हम उन लोगों के पास गए जो मैला ढोने का काम करते हैं। हमने कहा कि यह एक अपमानित करने वाली प्रथा है इसलिए इसे अवश्य छोड़ दीजिए। उनका जवाब था कि उनको पुनर्वास की जरूरत है। इस काम से उन्हें बहुत कम पैसा मिलता है। आज भी एक मैला ढोने वाला सफाई कर्मचारी ज्यादा से ज्यादा ४०० रूपए मासिक कमा सकता है, लेकिन अगर वे यह काम छोड़ देंगे तो उन्हें इतना कम पैसा भी नसीब नहीं होगा क्योंकि दूसरा काम उन्हें मिलेगा नहीं। मैला ढोने के चलते उन पर अछूत का एक ऐसा लांछन या दाग लगा होता है कि उन्हें खेतिहर मजदूर के रूप में भी काम नहीं मिल सकता। उनकी मांग में आम सहमति थी। सरकार को हमें नौकरी, जमीन, ऋण और राहत देना ही होगा।

इसलिए २००३ में हम लोग सुप्रीम कोर्ट गए और एक जनहित याचिका दायर की। राज्य सरकारों और रेल विभाग जैसी सरकारी इकाइयों ने दावा किया कि अब मनुष्य द्वारा मैला ढोने की प्रथा नहीं है इसलिए सबूत जुटाने का बोझ हमारे कंधे पर था,यानी शिकार को सबूत ढूंढना था। हम लोग वर्षों से फोटो और वीडियो सबूत अदालत को देते रहे हैं ताकि वह मानव द्वारा मैला ढोने की प्रथा समाप्त करने के लिए सरकारी संस्थाओं पर दबाव डाल सके। लेकिन प्रक्रिया बड़ी धीमी और असंतोषपूर्ण रही है।

इसलिए २००९ में हमने लोगों के पास वापस जाना तय किया। सरकारी हस्तक्षेप के अपने अनुभव से हमने महसूस किया कि पुनर्वास पैकेज बहुधा भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाता है और यदि पहुंचता भी है तो लोगों को यह प्रथा छुड़वाने में सफल नहीं होता। हम लोग इस बात को लेकर आश्वस्त थे कि इसके लिए सामाजिक आंदोलन की जरूरत है। हम लोगों के पास जाते हैं और उनसे वैकल्पिक काम ढूंढने के लिए कहते हैं। हमने उनसे कहा कि यदि वे कोशिश करें तो यह उतना कठिन नहीं है, देखिए आपके पड़ोसी ने ऐसा किया है। इस तरह हम लोग हजारों हजार लोगों को मैला ढोने का काम छुड़वाने में कामयाब हुए हैं। अनेक जगहों पर उनके साथ जाकर हमने संडास ध्वस्त किए हैं, जिनकी वे सफाई करते रहे थे। कई बार उन लोगों ने सार्वजनिक स्थान पर इकट्ठा होकर उन टोकरियों की होली

जलाई, जिनका उपयोग वे मैला ढोने के लिए करते थे। जिन लोगों ने (अधिकतर महिलाएं) इस प्रथा से तौबा कर ली है उनके लिए यह मुक्ति है, आजादी है। जब वे अपनी कहानी कहती हैं तो उनकी आंखों में आंसू आ जाते हैं। मैला ढोने के काम में दस साल या उससे भी कम उम्र में उन्हें किस तरह लगाया गया या शादी के बाद उन्हें मैला ढोने के लिए मजबूर किया गया। कइयों ने तो पचास साल तक यह काम करते रहने के बाद इसे छोड़ दिया। छोड़ने वालों में नारायणम्मा प्रथम थीं जो आंध्र प्रदेश के अनंतपुर में अकेले छह सौ सीटेड पाखानों की सफाई करती थीं।

हम लोग पिछले तीन वर्षो से इसे एक मिशन के रूप में करते आ रहे हैं। भारत सरकार और उसकी कई संस्थाएं समय सीमा तो तय करती हैं लेकिन भूल जाती हैं। इसलिए हम लोगों ने मैला ढोने की प्रथा को समाप्त करने की प्रक्रिया तेज करने के लिए एक्शन २०१० का आगाज किया। अक्टूबर २०१० में हम लोगों ने राष्ट्रव्यापी सामाजिक परिवर्तन बस यात्रा का आयोजन किया। इसमें कुल पांच बसें शामिल थीं। एक श्रीनगर से, एक कन्याकुमारी से , एक असम के डिब्रूगढ़ से, एक ओडिशा के खुर्दा से और एक उत्तराखंड की राजधानी देहरादून से। एक महीने में हम लोंगों की यह यात्रा बीस राज्यों के १७० जिलों से होकर गुजरी और इस दौरान हमने दलित बस्तियों में जाकर लोगों से मैला ढोना बंद करने के लिए गुजारिश की। जिन महिलाओं ने मैला ढोना बंद कर दिया था उन्होंने अपनी कहानी उन लोगों से साझा की, जो अभी मैला ढोते थे। हम लोगों ने दो सौ जिला कलेक्टरों को ज्ञापन भेजा लेकिन सिर्फ सत्रह कलेक्टरों ने जवाब दिया वह भी यात्रा समाप्त होने के बहुत बाद।

मैला ढोना सिर्फ इस काम में लगी जातियों का मुद्दा नहीं है, बल्कि यह राष्ट्रीय शर्म है और इस तरह एक राष्ट्रीय मुद्दा है। यह आपकी और मेरी समस्या है। इस देश में जहां दुनिया को दिखाने के लिए कॉमनवेल्थ गेम्स पर ७०,००० करोड़ रूपए फूंक दिए जाते हैं, वहां इस शर्म के लिए क्या किसी के पास समय और पैसा है? हमने केंद्र सरकार से एक नए पुनर्वास पैकेज की मांग की है जिससे सत्रह वर्ष पहले गैर-कानूनी करार दी गई इस अपमानजनक प्रथा की क्षतिपूर्ति हो सके। हमने सिर्फ पैकेज की मांग ही नहीं की है, बल्कि क्षमायाचना की मांग भी की है। हमने साफ कहा कि अगर ऐसा नहीं हुआ तो देशभर से हजारों मैला ढोने वाले जनवरी २०११ में दिल्ली आएंगे और तब तक यही रहेंगे, जब तक उनकी मांगे मान नहीं ली जाती।

सफाई कर्मचारी समुदाय की सामाजिक परिवर्तन यात्रा २९ सितंबर, २०१० को प्रारंभ हुई, जिसकी परिणति १ नवंबर, २०१० को दिल्ली के कांस्टीटयूशन क्लब के मावलंकर हॉल में हुई, जिसमें देशभर के हजारों सफाई कर्मचारी मैला ढोने की प्रथा का अंत करने और पूर्व में इस काम में लगे कर्मचारियों के पुनर्वास, क्षतिपूर्ति पैकेज और

सरकार की आधिकारिक क्षमायाचना की मांग लेकर दिल्ली में इकट्ठा हुए।

एक दबे कुचले समुदाय को अपनी मांगें रखने में आखिर इतना वक्त क्यों लगा और पार नहीं पाने वाली कौन सी बाधाएं हैं जो इस समुदाय को झेलनी पड़ीं? पचास साल पहले समुदाय के लिए यह मांग करना संभव नहीं था क्योंकि नागरिक समाज ऐसा बहाना बनाता था, जैसे यह कुप्रथा अस्तित्व में ही न हो। इस प्रथा के शिकार होने वालों की गरिमा और अधिकारों के प्रति संवेदनशीलता का अभाव था। दुर्भाग्य से अब भी इस प्रथा के अस्तित्व से इन्कार किया जाता है। अब भी लोग सोचते हैं कि मैला ढोने की प्रथा वजूद में नहीं है। इसलिए समुदाय के पास अपनी गरिमा बचाने और संघर्ष करने के लिए कोई जगह ही नहीं थी। परिणामस्वरूप समुदाय के सदस्यों ने मान लिया था कि यही उनकी किस्मत है। इस अमानवीय और घृणित प्रथा से मुक्ति की मांग के लिए आंदोलन खड़ा होने में बहुत साल लग गए। निश्चित रूप से इंप्लॉयमेंट ऑफ मैनुअल स्केवेंजर्स एंड कंस्ट्रक्शन ऑफ ड्राई लैटरिन्स (प्रॉहिबिशन) एक्ट के जरिए इस प्रथा पर रोक लगाई गई थी, लेकिन आश्चर्य होता है कि हमारे जैसे सभ्य समाज को इसमें इतना वक्त क्यों लगा और स्वतंत्रता के बाद इस प्रथा को प्रतिबंधित करने के लिए कानून बनाने में छियालीस वर्ष क्यों लग गए।

कानून बनने के बावजूद राज्यों की तरफ से सत्यापन में देर की जाती रही। इससे भी बुरी बात यह रही कि कानून बनने के दस वर्षों बाद भी कई राज्यों को इसके बारे में पता ही नहीं था। इन्हीं परिस्थितियों में सफाई कर्मचारी आंदोलन इस मुद्दे को सुप्रीम कोर्ट तक ले गया था। सरकारें मैला ढोने की प्रथा के अस्तित्व में होने से लगातार इनकार करती रहीं, इसलिए सुप्रीम कोर्ट ने प्रथा के वजूद में होने का हमसे सबूत मांगा। इसका मतलब था कि अपने ऊपर हो रहे अत्याचार को साबित करने का बोझ शिकार हुए लोगों का बोझ बन गया, क्योंकि सरकार ने सच्चाई और जवाबदेही मानने से इनकार कर दिया। ११०५७ मामलों के दस्तावेजी सबूत जुटाने और उन्हें सुप्रीम कोर्ट में सबूत के रूप में पेश करने में हमें लगभग सोलह महीने लगे।

कानून बनने के सत्रह वर्षों बाद भी इस मुद्दे पर कोई मुकम्मल बहस नहीं हुई है। हमने सिर्फ लाल किले की प्राचीर से प्रधानमंत्री और रैलियों व यात्राओं के दौरान सफाई कर्मचारियों द्वारा सड़कों पर ही इस बारे में कहते सुना है। इस बीच समस्या हल करने के लिए न तो कोई प्रक्रिया तय हुई न सहयोग की व्यवस्था बनी। आखिर क्यों? क्या यह जाति और पितृसत्तात्मकता के बीच जुड़ाव के चलते? लगभग सभी सफाई कर्मचारी दलित समुदाय से आते हैं और उनमें महिलाओं की संख्या ८२ प्रतिशत है। इस तरह जाति और पुरुष सत्तात्मकता के इस बड़े मुद्दे को स्वतंत्रता के बाद भी उस गंभीरता से नहीं लिया गया है, जिसकी जरूरत थी। निस्संदेह, अनुच्छेद १७ और १९८९ में बने अनुसूचित जाति

और अनुसूचित जनजाति अत्याचार निवारण कानून व इंप्लॉयमेंट ऑफ मैनुअल स्केवेंजर्स एंड कन्सट्रक्शन ऑफ ड्राई लैटरिन (प्रॉहिबिशन) एक्ट १९९३ जैसी हमारे देश में कुछ संवैधानिक व्यवस्थाएं हैं, लेकिन वे सिर्फ कागजों पर ही हैं।

एक अछूत की जिंदगी वास्तव में मुश्किल है और हम जैसे मैला ढोने वालों की जिंदगी तो और भी कठिन है। हम पूरी जिंदगी मैला ढोने की पीड़ा और शर्म सहते हैं और उसका क्षोभ भी । सफाई कर्मचारियों या उनके बच्चों के लिए दुनिया के सबसे घृणित काम के संबंध में खुलेआम घोषण करना, कोई आसान काम नहीं है। लेकिन कतिपय वर्षो से वे यह कर रहे हैं। हम लोग गलियों और सड़कों पर मार्च कर रहे हैं, समुदाय को उनके अधिकारों के बारे में शिक्षित कर रहे हैं, सरकार से मैला ढोने वालों को मुक्त करने और उनका पुनर्वास करने की मांग कर रहे हैं, संडासों को ध्वस्त कर रहे हैं और कानूनी जंग लड़ रहे हैं। नागरिक समाज के प्रगतिशील और प्रो–एक्टिव लोगों के समर्थन तथा भारतीय संविधान और उसके लोकतांत्रिक ढांचे के समर्थन से हमने निश्चित रूप से बहुत कुछ हासिल किया है। लोगों की ताजा उपलब्धि सामाजिक परिवर्तन यात्रा का पूर्ण होना है, जिसने देश के पांच कोनों से सफाई कर्मचारियों को दिल्ली में इकट्ठा किया। पूरे बत्तीस दिनों तक हम बस से यात्रा करते रहे और इस दौरान हम १७४ जिलों ओर बीस राज्यों से गुजरे। इसके अलावा हमने मैला ढोने के बंधन से मुक्ति की कहानी को भी एक–दूसरे से बांटा और लोगों को मुक्ति की मशाल थामने के लिए प्रेरित किया। महिलाओं द्वारा साहस के साथ अपनी पूर्व कहानी बताना सचमुच प्रशंसनीय है। यात्रा के दौरान देश के कोने–कोने और नई दिल्ली के कांस्टीटयूशन क्लब के मावलंकर हॉल में अपनी आवाज बुलंद करने तथा मैला ढोने की प्रथा को जड़ से समाप्त करने के लिए उठी उनकी आवाज की अनुगूंज आज भी सुनाई देती है। जीविका के साधन समझी जाने वाली मैला ढोने की टोकरियों को फेंककर, जलाकर तथा सरकार से यह पूछ कर कि इस घृणित प्रथा को समाप्त करने के लिए क्या वह साहस दिखा सकती है, हमने जबर्दस्त साहस दिखाया।

इन महिलाओं ने सरकार से क्षमायाचना तथा मैला ढोने वालों को क्षतिपूर्ति पैकेज की मांग तो की ही , साथ ही सरकार से स्पष्टीकरण भी तलब किया कि १९९३ में बना कानून क्यों नहीं लागू किया जा रहा है। भारतीय समाज की तरफ से सरकार द्वारा सफाई कर्मचारियों से माफी मांगना महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उनके खिलाफ सामाजिक अपराध है जो बहुत पहले से किया जा रहा है उनकी इस वैध मांग के प्रति सकारात्मक ढंग से प्रतिक्रिया करने का समाज और सरकार के लिए यह एक अवसर है। देश की शान और सफलता के लिए आर्थिक विकास से ज्यादा बड़ा संकेत समाज के कमजोर वर्गों की गरिमा प्रतिस्थापित करना है और यह हमारे देश के संविधान की प्रस्तावना में भी शामिल किया गया है।

मुसलमानों में ऊँच-नीच

सुहेल वहीद

भारत में मुस्लिम समाज 'अशराफ' और 'अजलाफ' में बँटा हुआ है। अशराफ वे लोग हैं जो साधनसंपन्न, पढ़े-लिखे, सभ्य, सुसंस्कृत, चरित्रवान, भलेमानुस और 'गुडलुकिंग' होते हैं। यानी अशराफ वे हैं, जिनकी नस्ल ऊँची हो–वे खानदानी लोग, जिनका शजरा किसी प्रभावशाली या किसी बड़े व्यक्ति या किसी बड़ी धार्मिक संस्था से मिलता हो। बाकी सब अजलाफ हैं। अजलाफ का शाब्दिक अर्थ उर्दू के शब्दकोशों में 'कमीना' और 'घटिया' लिखा है यानी 'मुस्लिम शूद्र'।

फिर मामला आता है सादात का। सादात वे हैं , जो सैय्यद होते हैं या होने का दावा करते हैं। सैय्यद का शाब्दिक अर्थ भारत के उर्दू तथा अरबी-उर्दू शब्दकोशों में लिखा है, सरदार तथा हजरत फातमा और हजरत अली के खानदान की नस्ल के लोग (हजरत फातमा पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब की बेटी थीं) । मुसलमानों में सैय्यद के घर पैदा होना बड़े गर्व की बात है। सैय्यद आज भी लगभग पूजनीय का दर्जा रखते हैं। मुस्लिम समाज (शिया-सुन्नी) में सैय्यद सबसे ज्यादा पवित्र और ऊँची श्रेणी के माने जाते हैं और इसीलिए हर सैय्यद खानदान अपने को असली सैय्यद साबित करने के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाता नजर आता है। उसकी वजह यह है कि सबसे ज्यादा घपला इसी 'सैय्यदवाद' में है। यह बात आसानी से गले के नीचे नहीं उतरती कि भारत के वर्ण व्यवस्था वाले माहौल में मुसलमानों ने जाति को महत्त्व नहीं दिया। लेकिन प्रचारित कर दिया गया है, बल्कि साबित कर दिया गया है कि मुसलमान सिर्फ मुसलमान होता है–कुछ और नहीं, इसलिए दूसरे लोग कुछ कहते हुए जरा डरते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि भारत और पाकिस्तान में ऊँची-नीची जात का चक्कर मुसलमानों में हिंदुओं से कम नहीं है।

'नदवा' विख्यात इस्लामी संस्था है। सैय्यद अबुल हसन अली नदवी यानी 'अली मियाँ' इस संस्था के प्रमुख हैं, जिनकी लिखी पुस्तकें पूरी दुनिया के विश्वविद्यालयों के धर्मशास्त्र विभाग में पढ़ाई जाती हैं। इस संस्था के दो पाक्षिक मुखपत्र छपते हैं। एक उर्दू में 'तामीरे-हयात' और दूसरा अरबी भाषा में 'अरायद'। काफी समय तक दोनों का संपादक

मंडल एक ही रहा है? लेकिन जब उर्दू में संपादक मंडल के नाम छपते थे तो सभी के नाम से पहले 'सैय्यद' लिखा होता था, लेकिन यही नाम जब अरबी में लिखे जाते थे, तो किसी नाम के आगे सैय्यद शब्द नहीं लिखा जाता था। कारण यह है कि सैय्यद शब्द का वास्तविक अर्थ 'श्री', मिस्टर या जनाब होता है। अरबी में अगर अपने नाम के पहले सैय्यद लिखेंगे, तो पूरी अरब दुनियाँ में इनकी स्थिति हास्यास्पद हो जाएगी। यही नहीं, अरब देशों से आनेवाले समाचार पत्र-पत्रिकाओं में भारतीय समाचारों में लिखा होता है: सैय्यद एल.के. आडवाणी, सैय्यद कांशीराम या सैय्यदा मायावती। नदवा के अरबी मुखपत्र में भी जहाँ कहीं आडवाणी या कांशीराम का नाम आता है, उससे पहले 'अल सैय्यद' अवश्य लिखा होता है। लेकिन भारत में 'सैय्यद' होना पवित्र होना है यानी सबसे उच्च जाति।

तर्क देने वाले यह भी कहते हैं कि अरबी में 'अल सैय्यद' लिखा होता है, लेकिन इसका जवाब कोई नहीं देता कि अरबी में तो कुरान को भी 'अल कुरान' लिखा जाता है। वास्तव में अल का शाब्दिक अर्थ अंग्रेजी का 'द' होता है। अरबी के अखबार जब कांशीराम या एल.के. आडवाणी के नाम के पहले अल सैय्यद लगाते हैं, तो उसका सीधा मतलब 'श्री' ही होता है। इस तरह नदवा के मुखपत्रों में एक ही संपादक-मंडल के नामों में उर्दू में सैय्यद लिखा जाना और अरबी में न लिखा जाना इस घपले को साबित करता है, क्योंकि नदवा का अरबी मुखपत्र अरायद भी 'अल रायद' है, लेकिन रायद के अर्थों में ही प्रयुक्त होता है। इस संपादक मंडल में अभी भी मौलाना मुहम्मद राबे हसनी नदवी का नाम उर्दू में छपता है तो मौलाना के बाद 'सैय्यद लिखा होता है, लेकिन जब अरबी में लिखा जाता है तो 'सैय्यद' गायब होता है।

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय वर्षों तक मुस्लिम राजनीति का प्रमुख मुद्दा रहा, जिसे भुना कर कई लोग बड़े राजनीतिज्ञ बन गए। कुछ मंत्री भी बने और फिर खानदानी रईस हुए। वहाँ चले जाइए, बड़े से बड़े वामपंथी प्रोफेसर की जाति और उसका खानदान मालूम नहीं करना पड़ेगा। हर एक की जबान पर हर एक की जाति बोलती है और हर एक का माथा उसकी जाति की ऊँच-नीच से नीचा या ऊँचा है। यहाँ एक अजीबो-गरीब आरक्षण आज भी लागू है–५ परसेंट ओल्ड ब्वायज के खानदान वालों के लिए। यानी अगर आप अलीगढ़ विश्वविद्यालय के 'ओल्ड ब्वायज' (गर्ल्स भी) रहे हैं और आपका बच्चा दुनिया के किसी भी हिस्से में किसी भी क्लास में ५० प्रतिशत अंक पाता है, तो अलीगढ़ विश्वविद्यालय में दाखिले के वक्त उसे ५५ प्रतिशत माना जाएगा। 'ओल्ड ब्वायज' के बच्चों के लिए विश्वविद्यालय के हर विभाग में १० प्रतिशत, बीस, तीस,इतने पर भी पेट नहीं भरता, तो ५० प्रतिशत सीटें आरक्षित की जा सकती थीं, लेकिन नहीं, इस 'पांच परसेंट' में असीम संभावनाएँ हैं। यानी अगर संभव हो जाए तो अलीगढ़ विश्वविद्यालय में केवल ओल्ड ब्वायज के बच्चे ही दाखिल किए जाएँ। निश्चित रूप से

ऐसा होता भी रहा होगा और विडंबना देखिए कि इसी अलीगढ़ विश्वविद्यालय के लिए पिछले पचास सालों में कितनी बार गरीब मुसलमान न जाने कहाँ–कहाँ दंगों का शिकार हुआ। पिछले दस–पंद्रह सालों में तो कुछ मध्य वर्ग भी 'ओल्ड ब्वायज' के रूप में सामने आया है। लेकिन उससे पहले 'ओल्ड ब्वायज' का सम्मान सिर्फ जमींदार–जागीरदार घरानों के लड़कों को ही प्राप्त हो पाता था और कोई भी जमींदार सैय्यद से कुछ कम होता था तो असली पठान होता था। जात–पाँत के इस तरह के 'सॉफिस्टीकेटेड खेल' मुसलमानों में बहुत पहले से प्रचलित हैं।

दरअसल, सर सैय्यद अहमद खाँ जात–पाँत की समाजी व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे। अशराफ और अजलाफ के फर्क को बड़ी प्राथमिकता देते थे। अपने समय में अंग्रेजों के घारे समर्थक और विपत्ति में उनकी 'मेंमों' को पनाह देनेवाले, 'मिस्टर बेक' के लेखों और विचारों को अपने नाम से कई वर्षों तक प्रकाशित करने वाले सर सैय्यद अहमद खाँ ने मुसलमानों में वर्ण व्यवस्था कायम कर देने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के स्वरूप और उससे निकल कर आने वाले को देखने से ही पता चल जाता है कि भारत के किसी गरीब और कथित 'नीच कौम' खानदान के किसी छात्र को इस विश्वविद्यालय ने इज्जत की जिंदगी बसर करने लायक नहीं बनाया। चंद नवाबों की आला औलादों से पनपने वाले घरानों के बिगड़े फरजंद यहाँ पढ़ने जाते थे। उनके लिए पंद्रह–बीस साल वहाँ रहना आम बात थी। उनके लिए सस्ता, लेकिन स्तरीय खाना और स्तरीय हॉस्टल रिजर्व रहता था और उकता जाने पर किसी इंजीनियरिंग की डिग्री उन्हें थमा दी जाती थी। निश्चित रूप से कुछ अपवाद भी रहे हैं और बड़े नामी–गिरामी लोग भी इसी विश्वविद्यालय से आए हैं। लेकिन इसके अल्पसंख्यक स्वरूप की बहाली के लिए गरीब मुसलमान सड़कों पर खींच–खींच कर मारे गए हैं। इस वर्ग के कितने बच्चे वहाँ पढ़ाए गए? कौन–सी व्यवस्था लागू की गई कि गरीब मुसलमान का बच्चा भी अलीगढ़ में तालीम पा सके? विश्वविद्यालय के कोर्ट के सदस्यों के नाम पते देख लीजिए, नवाबों के खानदानों के सदस्य बेवजह अभी भी नियुक्त किए जाते हैं और यह सब उसी अल्पसंख्यक स्वरूप के कारण यह होता है, जिसके लिए गरीब मुसलमान मारा जाता रहा है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में वर्षों तक विभागाध्यक्ष रहे आले–अहमद सुरूर उर्दू के विख्यात लेखक हैं। अपनी किताब 'दानिशवर इकबाल' में उन्होंने पृष्ठ २० पर लिखा है, 'सर सैय्यद के असर से पश्चिम की जहनी गुलामी नए जहन में आम हो रही थी, इकबाल ने इससे आजाद होना सिखाया।' सुरूर साहब आगे लिखते हैं, सर सैय्यद मुसलमानों में तबकाती तफरीक (अशराफ –अलजाफ) के शिद्दत से कायल हैं।' यकीन नहीं होता कि वर्ण व्यवस्था के इतने कट्टर समर्थक सर सैय्यद ने मुसलमानों में समाज सुधार के लिए अलीगढ़ विश्वविद्यालय की स्थापना की । हाँ, वे मुसलमानों में एक 'फिरंगी नस्ल' तैयार

करना चाहते थे, जिसमें वे एक हद तक कामयाब रहे । 'सर सैय्यद डे' पर आपको ये मुस्लिम फिरंगी काली शेरवानी में कहीं भी मिल जाएँगे। बताया जाता है कि सर सैय्यद अहमद खां का शजरा दसवें इमाम मोहम्मद नकी की आठवीं पीढ़ी से मिलता था। यानी वे बहुत पवित्र खानदान से थे। लेकिन इसी भारत में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती थे, जिनका शजरा हजरत इमाम हुसैन की १२वीं पीढ़ी से मिलता था। उन्होंने न कभी अपने नाम में सैय्यद जोड़ा और न उच्च तबके की सुख–समृद्धि के लिए कार्य किया। उन्होंने यहाँ की गरीब जनता की भलाई और भाई चारे के लिए अपने आपको वक्फ कर दिया। पूरी दुनिया से हर मजहब के माननेवाले आज ख्वाजा की दरगाह पर अकीदत से सिर झुकाते हैं आशय सिर्फ इतना है कि भारत में मुसलमानों ने हिंदुओं के समानांतर जिस वर्ण व्यवस्था को अपने ऊपर लागू किया, सर सैय्यद ने उसे न सिर्फ परवान चढ़ाया, बल्कि ऐसी शैक्षिक व्यवस्था कायम कर दी कि यह नस्ल–दर–नस्ल लोगों के जहन में आसानी से समाती चली जाए।

भारत जैसे देश में, जहाँ सती प्रथा के तहत जवान औरतें जला डाली जाती हों और वर्ण व्यवस्था में आदमी–आदमी का भेद इतना गहरा है कि छुआछूत जैसी अमानवीयता लोगों को स्वीकार्य हो, वहाँ मुसलमानों में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती जैसे लोगों की जरूरत थी, सर सैय्यद जैसे लोगों की नहीं, क्योंकि इस्लाम धर्म का बुनियादी आधार ही समाज सुधार है। लेकिन मुसलमानों ने यहाँ आ कर समाज सुधार करने के बजाय यहाँ के बेहूदा रस्मों–रिवाज को पूरी तरह से अपना लिया और इस्लाम का एक भारतीय स्वरूप पैदा किया, जिसमें सैय्यद, शेख, पठान नामक जातियाँ पैदा हुईं। सभी जानते हैं कि भारत के अधिकतर मुसलमानों के पूर्वज यहाँ के गैर–मुस्लिम थे। धर्म परिवर्तन के समय वर्ण व्यवस्था के अनुसार ही इस्लाम कुबूल किया गया और कतिपय ऊँची जाति के लोग सैय्यद, शेख, पठान बन गए। भारत में जिस तरह का मुस्लिम समाज आज हमारे सामने है, उसमें कोई मुसलमान लगता ही नहीं। यह सब 'कलमागो आर्य समाजी' नजर आते हैं।

दरअसल, बुनियादी मामला धर्म–परिवर्तन का है। अवध के पहले नवाब बुरहानुल मुल्क ने शासन सँभालते ही लगभग एक लाख लोगों का धर्म परिवर्तन कराया था या लोगों ने स्वयं सत्ता के प्रभाव या लालच में धर्म परिवर्तन कर लिया था। फैजाबाद के अंसारी घरानों ने नवाब का शिया धर्म तो स्वीकार कर लिया, लेकिन 'अंसारी' लिखना नहीं छोड़ा। यही वजह है कि फैजाबाद के पुराने शिया घराने आज भी अपने को अंसारी लिखते हैं। अंग्रेज लेखक डब्ल्यू. होव की किताब 'मेमोआएर्स ऑफ डेल्ही एंड फैजाबाद' में इसका जिक्र मिलता है। इसी तरह कश्मीर का मामला है। वहाँ के शिया संप्रदाय के बहुत से लोग अंसारी लिखते हैं। लखनऊ के शिया संप्रदाय के बारे में इतिहास की किताबों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि यहाँ का खन्नी समुदाय धर्म परिवर्तित कर शिया बन गया। भोलानाथ खत्री से बने तहसीन अली खाँ का जिक्र कई जगह मिलता है। अब्दुल हलीम

शरर की विख्यात पुस्तक 'गुजिश्ता लखनऊ' में भी इसका जिक्र मिलता है। आज भी खाँटी किस्म के शिया और कथित सैय्यद घरानों के बेटे-बेटियों की शादियाँ लखनऊ के शियों से नहीं की जातीं, क्योंकि इन्हें असली शिया या सैय्यद नहीं माना जाता। इसी तरह का मामला कथित पठानों या 'खाँ' लिखनेवालों का है। पुराने गजेटिर्य और विशेष रूप से एच.आर. नेविल के गजेटियर्स पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि १२वीं-१३वीं शताब्दी में अवध पर मुस्लिम शासकों के हमले के समय इस क्षेत्र के भर व पासी समुदाय के लोगों ने, जो बहुत लड़ाकू थे, इस्लाम धर्म स्वीकार किया तो झोझे कहलाए। धीरे-धीरे अपनी लड़ाकू प्रवृत्ति को पठानों से जोड़ते हुए, क्योंकि अब वे मुसलमान बन चुके थे, पठान कहलाने लगे और खाँ या खान लिखने लगे, जो वास्तव में बहादुरी का खिताब था। इतिहास की किताबें साबित करती हैं कि भारत के मुसलमान हिंदुओं की वर्ण व्यवस्था के तहत एक नई मुस्लिम वर्ण व्यवस्था प्रस्थापित कर चुके हैं। इसका सबसे जीता-जागता उदाहरण मेवात है, जहाँ इस्लाम धर्म तो स्वीकार किया गया, लेकिन हिंदू वर्ण व्यवस्था की एक-एक प्रथा के साथ। इटावा में एक पूरा मुहल्ला है जिसका नाम ही मेवाती टोला है। इसमें रहने वाले मुसलमानों का रहन-सहन और शादी के समय होने वाली रस्मों को देखने से कोई अंदाजा नहीं लगा सकता कि यह शादी मुसलमान की है। मेवातियों ने बाकायदा हिंदू वर्ण व्यवस्था को अभी भी अपना रखा है। इसी तरह का मामला राजस्थान का है, जहाँ के मुसलमानों को मुसलमान ही मुसलमान मानने को तैयार नहीं होते।

दरअसल, यह सब उसी सर सैय्यद प्रभाव के कारण है कि मुसलमान वह होता है जो देखने में जरा नफीस हो, खूबसूरत जबान बोलता हो, उसे उठने-बैठने के महफिली आदाब आते हों, वह हर बड़ी महफिल में अपनी अलग पहचान रखता हो, अंग्रेजी-उर्दू में दक्ष हो, अपने मजहब की मनमाफिक व्याख्या कर सकता हो वगैरह-वगैरह। इसीलिए बिहार के उस मुसलमान वर्ग ने जो आज सत्ता के बहुत करीब पहुँच चुका है, सबसे पहले इन्हीं सब चीजों से छुटकारा पाया। यही कारण है कि बिहार की उर्दू में वहाँ की भोजपुरी का भाव और अन्य स्थानीय भाषाओं का रंग दिखता है और वहाँ के मुसलमानों का रंग-ढंग अपने आस-पड़ोसी से बिल्कुल जुदा नजर नहीं आता। यही कारण था कि भारत के मुसलमानों के सबसे बड़े वर्ग बुनकर तथा अन्य पिछड़ों को हमेशा उपेक्षित रखा गया और सामाजिक स्तर पर उन्हें सबसे अधिक प्रताड़ित किया गया। आज उन्हीं सब चीजों को बिहार के मुसलमान ने अपना धर्म बना लिया और प्रत्येक क्षेत्र में सफल हो कर दिखा दिया।

'जुलाहा' शब्द मुसलमानों में बहुत हेय और निम्न अर्थ रखता है, बल्कि जलालत का पर्याय बन गया है। साहिर लुधियानवी ने एक नज्म लिखी थी 'आओ कि कोई ख्वाब बुनें कल के वास्ते.......' नज्म सुन कर अमृता प्रीतम ने कहा था। 'जुलाहा'। खुशवंत सिंह

ने अपने उपन्यास 'ए ट्रेन टू पाकिस्तान' में बग्गा डाकू की जिस रखैल को दिखाया है, वह 'जुलाहे की लड़की' है, उसका कोई नाम नहीं है। गुलजार की एक नज्म है 'आओ यार जुलाहे'। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक ने गोरखपुर विश्वविद्यालय के एक विभागाध्यक्ष के बारे में मुझसे कहा था कि उन्हें जुलाहा होने की ग्रंथि है, इसलिए वे हर चयन समिति में हमारे उम्मीदवार को खारिज कर देते हैं। इस तरह के सैकड़ों उदाहरण मिल जाएँगे। रोजाना की जिंदगी में 'जुलाहा' नामक गाली आम तौर पर सुनने को मिल जाएगी। यह जुलाहा कौम कोई और नहीं, भारत का बुनकर वर्ग है, जिसने पिछले पचास सालों में सबसे ज्यादा तरक्की की है। उद्योग हो या व्यापार या सरकारी नौकरी, इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व सबसे ज्यादा मिलेगा। भिवंडी हो या भागलपुर, भदोही हो या मुरादाबाद, बनारस हो या मेरठ, इसी वर्ग ने अपनी कड़ी मेहनत और मशक्कत के बल पर पूरी दुनिया में अपनेपन का जादू जगाया है और आज करोड़ों रुपए का राजस्व भारत को इन्हीं बुनकरों के जरिए प्राप्त होता है और यही वह वर्ग है जिसने अधिक अत्याचार सहा है, क्योंकि ये जहाँ कहीं भी आगे बढ़े हैं, इन्हें दंगों को झेलना पड़ा है। उसके बावजूद इसी वर्ग के बच्चे सबसे ज्यादा तादाद में स्तरीय शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और सिविल सेवाओं से लेकर छोटी-मोटी नौकरियों में इसी वर्ग के लोग आगे हैं। कथित जुलाहों ने सबसे पहले धार्मिक शिक्षा में अपनी दक्षता साबित की, क्योंकि इसके बगैर सामाजिक स्तर पर उन्हें कोई पूछता भी नहीं । भारत की कोई भी बड़ी धार्मिक-शैक्षिक संस्था ऐसी नहीं है, जहाँ इस वर्ग के लोगों का वर्चस्व न हो या जल्द ही होने की संभावना न हो। कारण स्पष्ट है कि यह हाथ का कारीगर लुटते-पिटते हुए भी लगातार संघर्ष करता रहा और जिंदगी की जद्दोजहद में जीतता रहा, क्योंकि यही वह वर्ग था, जो विभाजन के समय पाकिस्तान नहीं गया था, क्योंकि पाकिस्तान का सपना सँजोने वाले लोग इसे बड़ी गिरी निगाह से देखते थे, क्योंकि पाकिस्तान का सपना चंद पढ़े-लिखे उच्च कुलीन घरानों ने ही देखा था, क्योंकि पाकिस्तान उन खाते-पीते लोगों ने बनाने की ठानी थी, जो भारत में रहकर अपना शाही अस्तित्व अलग कायम नहीं रख सकते थे, क्योंकि भारत में कुल मुस्लिम आबादी का ८० प्रतिशत यही दस्तकार बुनकर था, क्योंकि यह वर्ग जुझारू प्रवृत्ति का था तो कभी न कभी यह वर्ग उन सभी शाही अस्तित्व वालें लोगों के सामने खड़ा हो सकता था जो धर्म, जाति और पेशे के हिसाब से ऊँचे थे, क्योंकि यही वह वर्ग था, जिसने १८५७ में मेरठ में जन आंदोलन खड़ा कर दिया था जिससे स्वतंत्रता आंदोलन की चिनगारी फूटी थी, क्योंकि यही वह वर्ग था जिसने स्वदेशी आंदोलन के समय मलमल बुनने के कारण अपने हाथों के अँगूठे कटवाए थे, क्योंकि यही वह वर्ग था जो मूलतः भारत की जड़ों से गहराई तक जुड़ा था, क्योंकि इस वर्ग के पूर्वज भारत के गरीब लोग थे जो अपने समय में वर्ण व्यवस्था के कारण प्रताड़ित हुए थे, क्योंकि यही वह वर्ग था, जिसका शजरा किसी अरब खानदान से

नहीं जा मिलता था। लेकिन जब १९४७ में देश विभाजन के साथ आजाद हआ तो भारत और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री तथा भारत में सभी राज्यों के मुख्यमंत्री ब्राह्मण थे या उच्च जाति के थे और पाकिस्तान में भी सभी प्रांतों के प्रमुख बड़े खानदानों के शजरेवाले लोग थे। और यह सब उसी वर्ण व्यवस्था नामक संविधान की परिणति थी, जिसे इस देश में बड़ी मेहनत से लागू किया गया था।

दरअसल मामला मुसलमानों में न शिया-सुन्नी का है और न बरेलवी-देवबंदी का। मामला सिर्फ है तो जात-पात की ऊँच-नीच का। इसीलिए देखिए, महाराष्ट्र में उत्तर प्रदेश से गए मुसलमानों ने वहाँ के मुसलमानों का सांस्कृतिक परिष्कार करना चाहा और वहाँ की सामाजिक जिंदगी में ये लोग वर्चस्व प्राप्त कर गए। इसी तरह का मामला पश्चिम बंगाल का है। वहाँ भी बिहार और उत्तर प्रदेश से गए मुस्लिम परिवारों ने सांस्कृतिक व धार्मिक क्षेत्रों में इसी सैय्यदवाद के चलते वर्चस्व बना लिया। बिलकुल 'ब्राह्मण के शाप' की तर्ज पर मुसलमानों में 'सैय्यद की बात' की बड़ी धाक है। सैय्यद जो कह दे या सैय्यद की बद्दुआ.......... वगैरह जुमले खूब प्रचलित हैं। प्रचारित किया गया है कि सैय्यद आग से जलता नहीं है। इस तरह सैय्यद, शेख, पठान होने के नाम पर अपने आपको पुजवाने का सिलसिला जगह-जगह निकाला गया और इसके लिए सबसे आसान रास्ता निकाला गया सूफियों की मजारों का। बड़े सूफियों के पाक मजारों पर इस तबके ने कब्जा जमा लिया और फिर समय के साथ दूसरे लोग भी सैय्यद बन-बन कर इस फिरके में शामिल होते गए। किछौछा शरीफ और बरेली की दरगाहों के बीच चल रहे शीत युद्ध के पीछे भी यही सैय्यदवाद है। किछौछा शरीफ के लोग सैय्यद होने का दावा करते हैं, इसीलिए उनका कहना है कि बरेलवी मसलक का मुख्यालय किछौछा शरीफ होना चाहिए, जबकि बरेली के लोगों का कहना है कि जब उनके आला हजरत का मजार यहाँ है तो वे वहाँ कैसे सब कुछ स्थानांतरित कर दें।देवबंद और नदवा के बीच आपसी सौहार्द न होने का कारण भी यही सैय्यदवाद है, क्योंकि नदवा शुद्ध किस्म के सय्यदों के हाथों में है, जबकि देवबंद में अब सिर्फ सैय्यद नहीं हैं और वहाँ छात्रों में बहुसंख्यक गरीब तबके के हैं। सबसे दिलचस्प यह कि शिया कहते हैं कि कोई भी सुन्नी सैय्यद हो ही नहीं सकता, क्योंकि सैय्यद वही होते हैं जो हजरत फातमा और हजरत अली के वंशज हों और उनके वंशज शियों के अनुसार शिया ही थे।

मौलाना अशरफ अली थानवी की मशहूर धार्मिक पुस्तक 'बहिश्ती जेवर' का मुसलमानों में अभी भी प्रचलन है। इसमें साफ-साफ लिखा है कि रजीलों के साथ कैसा बरताव किया जाना चाहिए, औरतों को किस तरह अपने पतियों की सेवा करनी चाहिए और कमीने लोगों को किस हद तक सजा दी जानी चाहिए। यह कमीने और रजील कोई और नहीं, अजलाफ की श्रेणी में आने वाले शूद्र मुसलमान ही हैं। उनके घर किस दिशा में हों, यह भी लिखा है। यानी बिलकुल वही ब्राह्मणवाद मुसलमानों में है, जो भारत में वर्षों तक स्थापित रहा। पाकिस्तान में आज भी यही समाजी तफरीक मुहाजिर और गैरमुहाजिर के रूप में नजर आती है। मुहाजिरों में कुछ बड़े खानदानों को छोड़ कर अपना घर-बार लुटवा कर जानेवालों में गरीब भी थे। शुरू में उन्होंने अपने साथ होनेवाले अमानवीय सामंती अत्याचार को सहा, क्योंकि वहाँ के बाद वे जाते कहाँ, लेकिन नई नस्ल ने वह सब बर्दाश्त नहीं किया। मुहाजिर आंदोलन शुरू होने का एक कारण यह भी है। मुस्लिम समाज में इसी तरह के विराधाभास रहे हैं। पाकिस्तान चूँकि घोषित इस्लामी राज्य है और वहाँ कई किस्म की शरई पाबंदियाँ हैं, इसलिए वहाँ के सामंतवाद और जात-पांत की ऊँच-नीच के अत्याचार गैरमुहाजिर या मुहाजिर के रूप में सामने आए। भारत में समानांतर वर्ण व्यवस्था थी और यहाँ लोकतंत्र था, इसलिए यहाँ जात-पाँत को बढ़ाने का अवसर ज्यादा मिला। इसीलिए पाकिस्तान में अब जातिसूचक शब्द सुनने को नहीं मिलते जैसे पहले सुनने को मिलते थे या भारत में अभी भी राष्ट्रीय स्तर पर सुनने को मिलते हैं, जैसे सैय्यद शहाबुद्दीन, आरिफ मोहम्मद खां, खुर्शीद आलम खां, आमिर खां, सलमान खाँ, जियाउर्रहमान अंसारी, सईद नकवी, सैय्यद अब्दुल्ला बुखारी वगैरह-वगैरह । भारत के अलावा दुनिया के किसी मुस्लिम के नाम के पहले सैय्यद नहीं लिखा मिलेगा। यह बीमारी भारत में ही खूब फूली फली है।

१२ अगस्त, १९९७ को लखनऊ में पिछड़े मुसलमानों का पहला बाकायदा सम्मेलन हुआ और इसमें मुख्य अतिथि आए यूसुफ खाँ यानी दिलीप कुमार। इस मुस्लिम ओ.बी.सी. सम्मेलन में पहली बार लखनऊ में लोगों ने देखा कि किस तरह छोटी-छोटी मुस्लिम बिरादरियों ने अपने बैनर बनवा रखे थे। जैसे मुस्लिम नाई बिरादरी, मुस्लिम भिश्ती (सक्का), मुस्लिम लोहार यानी सैफी, मुस्लिम कुँजड़े यानी सब्जीफरोश, मुस्लिम कसाई, लालबेगी, संगतराश.......। और भी न जाने कौन-कौन-सी छोटी-छोटी बिरादरियों के समूह यहाँ आए थे। कैसे इन्कार किया जाए कि मुसलमानों में जात-पांत नहीं है। सारा सामाजिक ढाँचा इसी बुनियाद पर खड़ा है। इसी सम्मेलन में दिलीप कुमार ने बताया कि उनके पूर्वज फल-सब्जीफरोश थे। तो क्या इसका मतलब यह नहीं कि वे कुँजड़े थे? लेकिन यूसुफ साहब अपने को 'खाँ' लिखते हैं।

भारत में जिस तरह की पेशेगत व्यवस्था लागू है, उसके हिसाब से पैंगबर हजरत नूह लकड़ी काटते थे तो बढ़ई हुए । हजरत अय्यूब अंसारी कपड़ा बुनते थे, तो जुलाहे हुए। हजरत दाऊद लोहे का काम करते थे, तो लोहार हुए। हजरत इब्राहीम के बाप पत्थर तराशते थे, तो वे संगतराश हुए। हजरत उमर फारूक की एक बहू एक दूधवाले की बेटी थीं, तो वह गद्दी हुईं। हजरत मुहम्मद साहब भेड़ें चराते थे तो चारवाहे हुए और स्वयं अपने जूते टाँकते थे तो.... तौबा...तौबा।

अकलियत के शोर में गुम होते पसमांदा

अली अनवर

ऐसा लगता है कि आरक्षण का मसला सामाजिक न्याय का नारा बन कर रह गया है। आरक्षण का लाभ जिन लोगों तक पहुँचना चाहिए था आजादी के साठ सालों के बाद भी वहाँ तक नहीं पहुँच सका है। खेत पटान के लिए क्यारियाँ तैयार की जाती हैं, जिससे पानी बराबर-बराबर पूरे खेत में पहुँच सके । पर, पानी कहीं बीच में ही अटक गया है। खेत की अंतिम क्यारी तक पानी नहीं पहुँच सका है।

यहाँ छह दिसंबर २००७ को पूर्वी चंपारण के केसरिया थाना के रामपुर नैरिया गांव में घटी एक घटना की चर्चा करना चाहूंगा। गांव में एक टोला है अल्लाहपुर। टोला जुलाहा, कुरैशी, धोनी और नाई का है। गांव के मीर और पठान बिरादरी के लोगों ने टोले में आग लगा दी। ज्यादातर घर फूस के थे। सभी जलकर राख हो गए। आग में माल-असबाब के ही साथ कई बकरियां और मुर्गे भी जल गए। बात सिर्फ यह थी कि टोले के लोगों ने मीरों और पठानों के यहाँ बेगारी करने से इंकार कर दिया था। साथ ही विवाद एक मस्जिद को लेकर भी था। गाँव में एक मस्जिद थी। टोले के लोग मस्जिद में ही नमाज पढ़ने जाते थे। पर उन्हें आगे की पंक्तियों में बैठकर नमाज पढ़ने की इजाजत नहीं थी। यदि टोले के लोग आगे बैठते भी तो उन्हें धकिया कर पीछे कर दिया जाता। बाद में टोले के लोगों ने टोले में ही एक फूल की मस्जिद बना ली। पर गांव के मीर और पठान लोगों को यह गवारा नहीं था। उन्होंने टोले के लोगों पर मुकदमा कर दिया कि मस्जिद उनके बाप-दादों की जमीन पर बनाई गई है। टोले के लोग जब इसकी शिकायत करने थाने में गए तो थानेदार सुहेत खाँ ने टोले के लोगों को ही डराया-धमकाया। अल्लामा इकबाल का एक चर्चित शेर है:

''एक ही सफ में खड़े हो गए महमूद ओ अयाज
ना कोई बंदा रहा और ना कोई बंदानवाज''

इकबाल इंसाफपसंद शायर थे और अभिव्यक्ति की आसमानी ऊँचाइयों को छूने वाले इस शेर की जमीन निश्चित रूप से यह है कि इस्लाम जात-पांत मानने की इजाजत नहीं देता। उसकी नजरों में सभी बराबर हैं। इसलिए मस्जिद में नमाजी जन सफ (कतार) में खड़े होते हैं तो पता नहीं चलता कि कौन महमूद सरीखा बादशाह है और कौन अयाज की

तरह गुलाम। मगर रामपुर नैरिया गांव के मीर और पठानों ने इस्लाम के इस आदर्श का भी ख़याल नहीं रखा। अल्लाहपुर टोले में हुए आगजनी की इस घटना के खिलाफ किसी मुस्लिम संगठन ने या मुसलमानों की नुमाइंदगी करने वाले किसी तथाकथित नेता ने एक लफ्ज भी नहीं कहा। यही घटना यदि किसी हिंदू गांव में होती तो काफी हाय-तौबा मचता।

दरअसल, पसमांदा मुसलमान यह समझने लगा है कि देश का मौजूदा मुस्लिम नेतृत्व उनकी आवाज उठाने को तैयार नहीं है। यहाँ नेतृत्व का आशय सियासी और मजहबी दोनों से है। इसमें उन्हें अपने मजहब की तौहीन लगती है या कि उनका कोई निहित स्वार्थ आड़े आ रहा है? मुस्लिम नेता सभी मुसलमानों के लिए अलग से आरक्षण की मांग कर रहे हैं। आखिर क्यों? कहीं ऐसा तो नहीं कि यह मांग आजादी के साठ साल बाद भी सामान्य अवसर के हक से भी वंचित मुस्लिम दलितों के आरक्षण की मांग को दबाने के लिए उठाई जा रही है। पहले इस मांग के स्वयंभू प्रवक्ता सैयद शहाबुद्दीन थे। कई उलेमा भी टोटल मुस्लिम रिजर्वेशन मांग रहे हैं और सेक्शनल रिजर्वेशन की मुखलाफत कर रहे हैं। क्या ये उलेमा अपने दिल पर हाथ रखकर अल्लाह और अपने रसूल की गवाही के साथ कह सकते हैं कि मुसलमानों में कोई ऐसा तबका नहीं है जिसमें तमाम लोग समाजी, तालीमी और माली एतबार में जमाने से पिछड़े हुए हैं। जाहिर है ऐसा वे नहीं कह सकते। मुस्लिम समाज कई तरह के फिरकों, पिछड़ों में भी पिछड़े लोगों को मिलाकर बना है। इसका एक तबका ऐसा भी है, जिसकी हालत कीड़े-मकोड़ों जैसी है। इस तबके को अरजाल, कमीना, नीच क्या-क्या नहीं कहा गया। मुगल, सैयद, शेख, पठान, मल्लिक ये तो सैकड़ों सालों तक हुकूमत करने वालों के नाम रहे हैं। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि आज इन बिरादरियों में भी गरीब लोग हैं। मगर सिर्फ आर्थिक बुनियाद पर इस मुल्क में आरक्षण की व्यवस्था तो है नहीं। भारतीय संसद से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक ने इस बात पर अपनी मुहर लगा दी है कि आरक्षण का आधार सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ापन होगा। आर्थिक आधार पर आरक्षण अगर आगे कभी होगा, तो गरीब हिंदू सवर्णों के साथ जोड़कर ही मुस्लिम अशराफ तबकों को भी इसका लाभ मिलेगा।

सभी मुसलमानों के लिए आरक्षण की मांग करने वालों को क्या यह नहीं सोचना चाहिए कि धर्म के नाम पर आरक्षण देने की इजाजत भारत का संविधान नहीं देता। हालांकि यह एक नामुमकिन मांग है लेकिन थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि हमारे कुछ रहनुमाओं को नामुमकिन को मुमकिन बनाना आता है तो क्या ऐसा होने से फिरकापरस्ती को बढ़ावा नहीं मिलेगा? खटिया एक तरफ से बीनी जाती है, दूसरी तरफ तो केवल रस्सी खींचना बाकी रहता है। यह मांग पूरी कराके कुछ नेता अपनी पीठ भले थपथपा लें कि हमने एक बड़ा काम कर दिया मगर क्या देश का हिंदू जनमानस इसे कबूल करेगा? क्या नौकरशाही इसे अमली जामा पहनाने देगी। उलटे हिंदू संप्रदायवादियों को

बाबरी मस्जिद से भी बड़ा मुद्दा मिल जाएगा। बाबरी मस्जिद गिराए जाने के बाद ऐसा लगता है कि हिंदू और मुस्लिम, दोनों तरफ के फिरकापरस्त नेता मुद्दाविहीन हो गए हैं। दोनों को शिद्दत से तलाश है ऐसे जजबाती मुद्दे की, जिस पर वे अपने राजनीतिक स्वार्थ की रोटियां सेंक सकें। पूर्ण मुस्लिम आरक्षण की मांग ऐसी ही किसी मिली-जुली साजिश का परिणाम तो नहीं है?

मुसलमानों का एक बड़ा तबका मंडल आयोग की सिफारिशों को अपने लिए खुदा की एक बड़ी नियामत मानता है। मगर छोटा ही सही, एक तबका ऐसा भी है, जो इसे मुसलमानों में फूट डालने का औजार समझता है। इस तबके का कहना है कि मंडल आयोग की सिफारिशें मुस्लिम समाज के लिए गैरमौजूं हैं। यह सोच नयी नहीं है। भारतीय संविधान की रचना के समय और उससे पहले से दलितों पिछड़ों को आरक्षण देने के सवाल पर नामी-गिरानी मुस्लिम लीडरों का यही रवैया रहा है।

सियासी और मजहबी मुस्लिम नेताओं को क्या ईसाइयों से सबक नहीं लेना चाहिए? ईसाई धर्म में भी तो उसूलन जात-पांत नहीं है। लेकिन, इस कड़वे सच को कबूल करते हुए कि अमलन उनके यहाँ यह फर्क मौजूद है उसका नेतृत्व अपनी दलित बिरादरी के लिए आरक्षण की मांग एकजुट होकर कर रहा है। मदर टेरेसा तक इस सवाल पर धरने पर बैठ चुकी हैं। मगर यह अफसोसनाक है कि मुसलमानों के स्थापित मजहबी और सियासी नेता अपने दलित समाज के लिए कोई पहल नहीं करते। उलटे वे जिन पार्टियों में हैं उनके नेताओं को यह समझाते रहे हैं कि ऐसा करने से उनका 'वोट बैंक' बिखर जाएगा। मौजूदा दौर की सामाजिक न्याय की पैरोकार पार्टियां और नेता, जिनसे दलित मुसलमानों के साथ हो रही इस नाइंसाफी के खिलाफ कदम उठाने की उम्मीद की जाती है, वे भी खामोश हैं। शायद उन्हें इस बात का डर है कि ऐसा करने से कहीं उनसे अगड़ा मुस्लिम बिदक न जाए।

पिछले साल मुसलमानों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति के जायजे के लिए गठित सच्चर समिति की रिपोर्ट को लेकर काफी चर्चा चली। सच्चर समिति ने भी मुस्लिम समाज को तीन वर्गों में बांटा है: अशराफ (उच्च), अजलाफ (मध्यम) और अरजाल (पिछड़े)। समिति ने अरजाल की स्थिति पर गंभीर चिंता व्यक्त की है जिसे कुछ लोगों द्वारा पूरे मुस्लिम समुदाय की बदतर स्थिति के रूप में प्रचारित किया जा रहा है।

ईसाई और मुस्लिम दलितों को अनुसूचित जाति का दर्जा और सुविधा नहीं देने के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि चूंकि छुआछूत की बीमारी सिर्फ हिंदुओं में हैं, इसलिए केवल हिंदू दलितों को अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया। सवाल उठता है कि आदिवासी समाज में तो छुआछूत बिलकुल नहीं है, तब उन्हें क्यों अनुसूचित जनजाति घोषित कर आरक्षण की सुविधा की गयी? इससे तो यही साबित होता है कि अनुसूचित

जाति या जनजाति घोषित करने का आधार सिर्फ छुआछूत नहीं, बल्कि सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक पिछड़ापन भी है। उक्त तीनों कसौटियों पर कसने पर क्या मुस्लिम दलित भी अनुसूचित जाति का दर्जा और सुविधा पाने का हकदार नहीं बनता?

मुस्लिम दलितों की पीड़ा और क्रूर वास्तविकताओं से आँख चुराने वालों अथवा अनजान लोगों के लिए चलिए, थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि मुस्लिम दलित अपने समाज में ठीक हिंदू दलितों की तरह छुआछूत का शिकार नहीं होता। पर लोकतंत्र में संख्याबल महत्वपूर्ण है, यहाँ यह सवाल कैसे दबा रहेगा कि मुस्लिम दलित समाज का दायरा कितना बड़ा है? कुल मुस्लिम आबादी बारह से चौदह प्रतिशत के बीच हैं। बाकी आबादी का वह तबका तो मुस्लिम दलितों के साथ भी वही सलूक करता है, जो हिंदू दलितों के साथ करता आ रहा है। मुस्लिम धोबी, मेहतर, चमार, नट, पासी आदि जातियों को तो अपने पेशों के लिए हिंदू-मुस्लिम दोनों समुदायों में जाना पड़ता है। इस तरह तो वे भी छुआछूत के शिकार होते हैं।

मुस्लिम और ईसाई दलितों को अनुसूचित जाति में शामिल नहीं करने के पक्षधर यह कनफुसिया प्रचार चलाते हैं कि हिंदू दलितों के अलावा अन्य धर्मों के दलितों को अनुसूचित जाति में शामिल कर लेने का परिणाम बड़े पैमाने पर धर्मांतरण के रूप में सामने आ सकता है। ऐसे लोगों का प्रचार है कि अनेक हिंदू दलित पहले ही इस्लाम और ईसाई धर्म कबूल कर चुके हैं। अगर हिंदू धर्म से आरक्षण का आकर्षण भी जाता रहा तो आगे बड़े पैमाने पर धर्मातरण हो सकता है। एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब मुसलमानों, ईसाइयों की आबादी इतनी हो जाएगी कि हिंदू अपने ही देश में अल्पमत में चले जाएँगे।

क्या यह आशंका बेबुनियाद नहीं है? अनुभव तो यह कहता है कि आदमी का धर्म से रिश्ता खास कर गरीबों का इतना कमजोर नहीं होता कि वह थोड़ी-बहुत आर्थिक सहूलियतों के लिए अपने धर्म का ही त्याग कर दे। फिर यह भी बात नहीं है कि मुस्लिम और ईसाई दलितों को आरक्षण की सुविधा देने से हिंदू दलित इस सुविधा से वंचित हो जाएँगे । अपने देश में हुए धर्मांतरण के काल विशेष और कारणों पर जब नजर डालते हैं तो पता चलता है कि गले में घंटी बांधने से लेकर कान में पिघला शीशा डालने, आंख फोड़ने, लिंग काटने, तालाब-कुएँ-घाट पर पानी नहीं भरने देने, मंदिर प्रवेश पर रोक लगाने, परछाईं से दूर भागने तथा तरह-तरह के सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़नों से तंग आकर ही मौका मिलने पर हिंदू दलितों के एक हिस्से ने अपना धर्म बदला। अब तो ऐसी कोई स्थिति है नहीं। इसलिए बड़े पैमाने पर धर्मातरण की आशंका बेमानी है। इस तरह की आशंका तो पिछले पचास सालों में भारत के सामाजिक नजरिए में आए बदलाव की सकारात्मक दिशा को भी नकारने वाली है। हिंदू दलितों के धर्मांतरण की बात तो दूर रही, अगर मुस्लिम और ईसाई दलितों को ही लिया जाए तो वास्तविक तस्वीर यह है कि आजादी के साठ सालों के

बाद भी वे नाइंसाफी के शिकार हैं, लेकिन उन्होंने फटाफट अपना धर्म छोड़ आरक्षण की सुविधा के लिए हिंदू धर्म कबूल नहीं कर लिया।

दरअसल, अकलियत के शोर में पसमांदा मुसलमानों की शख्सियत गुम हो गई है। जरूरत है कि इन्हें मुख्यधारा में लाने के लिए जरूरी कदम उठाए जाएँ। यहाँ अफसोसनाक है कि केंद्र सरकार सच्चर समिति की रिपोर्ट को लेकर काफी जज्बाती दिखती है। इसका कारण सियासी हो सकता है। मगर रंगनाथ मिश्र आयोग की कोई चर्चा नहीं करता। आयोग ने नौ माह पूर्व ही अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंप दी है, पर रिपोर्ट को अब तक सदन के पटल पर नहीं रखा गया है। जरूरत है कि यूपीए सरकार अपने सभी पूर्वाग्रहों को छोड़कर मुसलमानों को उनका हक दिलाने के लिए सार्थक कदम उठाए, अन्यथा इसके दूरगामी परिणाम पीड़ादायी हो सकते हैं।

n

आरक्षण पर ताकतवर समुदायों की जकड़

धीरूभाई शेठ

राजस्थान सरकार और गुज्जर समुदाय के बीच समझौता हो जाने या विवाद को केन्द्र सरकार के माथे टालने का मतलब यह नहीं समझा जाना चाहिए कि आरक्षण विवाद से संबंधित इस तरह की समस्याएँ अब पैदा नहीं होगी। आरक्षण नीति का मौजूदा स्वरूप, उसके कार्यान्वयन की शैली और समुदायों के वोट बटोरने के लिए किया जाने वाला निष्ठुर राजनीतिक खेल अगर यूँ ही चलता रहा तो राजस्थान ही नहीं, बल्कि देश के विभिन्न भागों में ऐसे ही विस्फोटक आंदोलन और उनके नतीजे में जाति-संघर्ष के हालात बनते रहेंगे। इसकी मुख्य वजह यह है कि कल तक वास्तव में पिछड़े हुए कई समुदाय आज पिछड़े नहीं रह गए हैं, और उनकी वजह से, प्रावधान होते हुए भी कई अति-पिछड़े समुदायों तक आरक्षण का लाभ नहीं पहुँच पा रहा है। इससे उनमें वंचित होने का एहसास पैदा होता है।

आखिर राजस्थान के गुज्जरों को आंदोलन पर क्यों उतरना पड़ा? अगर विधानसभा के चुनावों में जाटों के वोट लेने के लिए प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की पहल पर उन्हें राजस्थान से संबंधित पिछड़े वर्गों की केंन्द्रीय सूची में न शामिल किया गया होता और गुज्जरों को मिलने वाले आरक्षण के फायदे ताकतवर जाट समुदाय ने न हड़प लिए होते, तो शायद गुज्जरों की तरफ से अनुसूचित जनजाति में शामिल किए जाने की माँग इतना जोर न पकड़ती। इसके दो साल बाद अगर लोकसभा चुनावों में वोट पाने के लिए मुख्यमंत्री ने गुज्जरों की इस माँग पर व्यक्तिगत स्तर पर ध्यान देने का आश्वासन न दिया होता, तो कर्नल बैंसला और उनके बिरादरी वालों को अपनी माँग पर अड़ने का नैतिक आधार न मिलता। वोट की इस राजनीति का परिणाम यह निकला कि सामाजिक स्तर पर जाट, मीणा और गुज्जर समुदायों का आपसी नफरत का त्रिकोण बन गया। मीणाओं को लगा कि अगर गुज्जर भी जनजाति मान लिए गए तो वे भी आरक्षण के फायदों में हिस्सेदारी करने लगेंगे। जाटों का दाँव यह था कि अगर गुज्जर पिछड़ा वर्ग सूची से हटकर जनजाति सूची में चले जाएंगे, तो ओबीसी को मिलने वाले सभी फायदों में उनका हिस्सा बढ़ जाएगा। आरक्षण के साथ किए जाने वाले इस तरह के खेल की मिसाल केवल राजस्थान में ही नहीं मिलती। दूसरे राज्यों के मुख्यमंत्री भी मुसलमानों समेत विभिन्न जाति समुदायों को अनुचित रूप से

आरक्षण देने का वायदा कर चुके हैं। उन्होंने इस बात की कोई परवाह नहीं की है कि उनके फैसले न तो नीतिगत कसौटी पर खरे उतरेंगे और न ही अदालत में टिक पाएँगे।

इस तरह के रवैये से दो तरह के गंभीर नुकसान हो रहे हैं। पहला नुकसान यह है कि इस तरह के विवादों के कारण आरक्षण का सिद्धांत अनावश्यक रूप से सवालों के घेरे में आने लगता है। हिंसा और जाति संघर्ष के परिदृश्य उभरते ही आरक्षण पर पुनर्विचार की मांग उठने लगती है। जबकि, किसी भी कोण से यह मसला आरक्षण सिंद्धात की खामियों का नहीं है। यह समस्या एक मायने में गैर-द्विज लेकिन रंग-रूतबे वाली ताकतवर जातियों द्वारा आरक्षण के दायरे में की गई घुसपैठ का परिणाम है। राजनीतिक रूप से नौसिखुआ व्यक्ति भी बता सकता है कि राजस्थान के जाटों को आरक्षण नहीं मिलना चाहिए था। इसी तरह दक्षिण भारत की कई जातियाँ इतनी विकसित हो चुकी हैं कि सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ी नहीं रह गई हैं। आरक्षण के फायदों की उन्हें कोई जरूरत नहीं है। दूसरी तरफ, साधन संपन्न और पढ़ी-लिखी मुसलमान जातियाँ अल्पसंख्यकों के पिछड़ेपन के नाम पर आरक्षण पाने की कोशिशों में लगी हुई हैं, जबकि मुसलमानों में पसमांदा यानी पिछड़ों को पहले से ही आरक्षण का प्रावधान है। दूसरा नुकसान यह है कि आरक्षण के जरिए प्रगति के अवसरों को हड़पने की इस होड़ ने हमारी लोकतांत्रिक चुनावी राजनीति को अलोकतांत्रिक रुझानों से ग्रस्त कर दिया है। इसके कारण झूठे-सच्चे आवश्वासन दिए जाते हैं। और अंततः समाज को तनावग्रस्त होना पड़ता है। बिरादरियों के बीच का भाई-चारा खत्म होता है। गुज्जरों को दिया गया आश्वासन तो एक उदाहरण है, मुसलमानों को धर्म-आधारित आरक्षण देने के अध्यादेश तक जारी किए जा चुके हैं। हिंदू समाज की संरचना की जानकारी रखने वाला कोई भी प्रेक्षक जानता है कि प्रजापतियों (कुम्हारों) को समाज में अछूत या दलित नहीं माना जाता। लेकिन, पिछले दिनों उन्हें भी अनुसूचित जाति का दर्जा देने का प्रयास किया जा चुका है।

असली समस्या यह है कि समाज में पहले से ताकतवर बने बैठे समुदायों के मुँह में आरक्षण का चस्का लग गया है। सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े समुदायों को राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में लाने के लिए बनाए गए इस लोक-कल्याणकारी प्रावधान को इनके शिकंजे से निकालने की जरूरत है। ध्यान रहे कि ये समुदाय सत्ता प्रतिष्ठान में महत्त्वपूर्ण स्थानों पर बैठे हुए हैं, इसलिए इनकी पूरी कोशिश होती है कि उन्हें आरक्षण के लाभों से वंचित करने का आधार प्रदान करने वाले आँकड़े और हकीकतों को सामने न आने दिया जाए। यही कारण है कि आज तक राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अति-पिछड़ों की शिनाख्त करने की नीति नहीं बना पाया है। इंदिरा साहनी के मुकदमें पर आया सुप्रीम कोर्ट का फैसला प्रगति कर चुके समुदायों को आरक्षण के दायरे से निकालने के बारे में है पर सत्ता प्रतिष्ठान न तो यह करने के लिए तैयार है और न ही अति-पिछड़ों को एक श्रेणी के

रूप में चिह्नित करने की राष्ट्रीय नीति बनाना चाहता है। जैसे ही अति पिछड़ों (एमबीसी) की शिनाख्त होगी, आरक्षण की प्राथमिकता का रुझान उनकी तरफ होगा, वैसे ही ताकतवर जाट, वोक्कलिगा, लिंगायत, रेड्डी, कम्मा, कापु, एड़पा आदि को आरक्षण के फायदे पर एकाधिकार करने की सुविधा नहीं रह जाएगी।

आज अगर अति-पिछड़ों की विधिवत श्रेणी होती, तो गुज्जरों को वह आश्वासन आराम से दिया जा सकता था कि उन्हें अति-पिछड़ा का दर्जा देकर आरक्षण में प्राथमिकता दी जाएगी। तब, राजस्थान में गुज्जरों, मीणाओं और जाटों का ऐसा त्रिकोण न बनता। ध्यान रहे कि आरक्षण से संबंधित विवादों के कारण जो थोड़ी-बहुत हिंसा हुई है, उसे हमें गनीमत मानना चाहिए। वरना, हमारा समाज जिस तरह की ऊँच-नीच से ग्रस्त था, उसमें आधुनिकता के कारण पैदा हुए समतामूलक दबावों से बहुत बड़े पैमाने पर हिंसा की नौबत आ सकती थी। आरक्षण नीति ने इस समाज को बचा लिया है। अब अगर आरक्षण को उसकी राजनीति और कार्यान्वयन में की जाने वाली चालबाजियों से बचाना है तो राष्ट्रीय स्तर पर अति-पिछड़ों की श्रेणी बनानी ही होगी।

सामाजिक-आर्थिक रूप से स्थापित अभिजनों की तरफ से आरक्षण नीति की वैधता और उपयोगिता पर सवाल उठाए जा रहे हैं और राजनीतिक ताकतें इस नीति का लाभ उठाकर अपनी गोटी लाल करने की फिराक में हैं। एक तरफ मेरिट के नाम पर आरक्षण को प्रगति-विरोधी विचार के रूप में पेश किया जा रहा है, दूसरी ओर यह राजनीतिक दाँव है जो समान अवसरों और समान नागरिकता की संभावनाएँ साकार करने के बजाय ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक फायदे हड़पने के चक्कर में है। राजनीतिक ताकतें अपने संकीर्ण लोक-लुभावनवादी स्वार्थों के चलते आरक्षण को सोने का अंडा देने वाली मुर्गी की तरह इस्तेमाल कर रही हैं, जबकि उन्हें चाहिए यह था कि वे इस नीति का कार्यान्वयन कुछ इस तरह करतीं कि आगे चलकर इस नीति की जरूरत ही नहीं रह जाती।

आरक्षण के मुद्दे को इस दुष्चक्र से निकालने के लिए जरूरी है कि पहले उसके बारे में नए सिरे से स्पष्टता हासिल की जाए। यह इसलिए भी जरूरी है कि आरक्षण लागू करने वाले और उसका विरोध करने वाले अपनी-अपनी सुविधा के लिए इस नीति को गलत व्याख्याओं के कुहासे में ढँक देना चाहते हैं। सबसे पहली और समझने वाली जरूरी बात तो यह है कि दलितों और आदिवासियों के लिए आरक्षण के प्रावधान संविधान में अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण से अलग हैं। इसका कारण इन श्रेणियों की भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति है। अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ समाज में अल्पसंख्यक हैं और उनकी हाशियाग्रस्त जिंदगी के कारण उनकी शिनाख्त करना आसान है। उन्हें दिए जाने वाले आरक्षण पर कोई खास विवाद भी नहीं है। समाज में आम सहमति हैं कि उन्हें शिक्षा और नौकरियों में अलग से विशेष प्रोत्साहन दिए जाने चाहिए। आईआईटी और आई आई एम

संस्थानों में उन्हें पहले से आरक्षण मिल रहा है। इसके विपरीत अन्य पिछड़े वर्ग संख्यात्मक लिहाज से समाज के बहुसंख्यक तबके का निर्माण करते हैं। उनकी स्थिति दलितों और आदिवासियों की तरह एकसार भी नहीं है। उनमें दलितों से भी गई-गुजरी हालत वाले तबके भी हैं। और ऐसे तबके भी हैं जिनकी हैसियत द्विजों से भी बेहतर है। इसीलिए संविधान ने उनके लिए 'सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े' होने की शर्त लगाकर आरक्षण दिया है। साथ ही, संविधान ने यह भी साफ किया है कि जहाँ उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व न हो, वहाँ उन्हें नुमाइंदगी देने का बंदोबस्त किया जाए। ध्यान रहे कि संविधान ने उन्हें उनके संख्याबल के अनुपात में प्रतिनिधित्व देने का नहीं बल्कि 'पर्याप्त' प्रतिनिधित्व का प्रावधान किया है। चूँकि अन्य पिछड़े वर्गों से संबंधित इस नीति का कार्यान्वयन राज्यों की मंशा पर छोड़ दिया गया था इसलिए कुछ राज्यों में, खासकर दक्षिण भारत में पिछड़ों को आजादी के बाद से ही आरक्षण मिला हुआ है और कुछ राज्यों में, खासकर उत्तर भारत में इस नीति पर कार्यान्वयन का इतिहास पंद्रह साल पुराना ही है। लगातार आरक्षण के कारण दक्षिण के कई पिछड़े समुदाय (जैसे-एड़वा, रेड्डी, कम्मा, लिंगायत, वोक्कलिगा,कापू आदि) आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक नजरिए से बहुत आगे बढ़ चुके हैं। समाज में उन्हें तकरीबन ऊँची जातियों जैसी ही प्रतिष्ठा और रंग-रुतबा हासिल हो चुका है। इसी तरह उत्तर भारत के कुछ पिछड़े समुदाय लोकतांत्रिक राजनीति की गहनता और विस्तार के कारण राजनीतिक सबलीकरण की प्रक्रिया से गुजर चुके हैं। विभिन्न कारणों से उनके भीतर एक मलाईदार तबका उभर आया है लेकिन इसके बावजूद समुदायगत रूप से वे अभी तक सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ी समझी जाने वाली संविधानसम्मत श्रेणी में ही आते हैं। जाहिर है कि इन कारणों से आरक्षण नीति के कार्यान्वयन पर एक नयी निगाह डालने की जरूरत सामने आ जाती है।

आरक्षण की नीति का यह पुनरीक्षण उसकी बुनियादी सामाजिक उपयोगिता को पूरी मान्यता देकर ही किया जाना चाहिए। दरअसल, पिछड़ा वर्ग आयोग द्वारा अपने पिछले दस साल से ज्यादा के कार्यकाल के दौरान इस काम को अभी तक अंजाम दे दिया जाना चाहिए था। आयोग द्वारा अभी तक उन समुदायों की सूची बन जानी चाहिए थी जिन्हें सामाजिक प्रगति के पर्याप्त अवसर मिल चुके हैं, और जो अब आरक्षण के लाभ पाने लायक 'पिछड़े' नहीं रह गए हैं। लेकिन पिछड़ा वर्ग आयोग अपनी यह जिम्मेदारी निभाने में कामयाब नहीं हो सका है। दूसरे, पिछड़ा वर्ग आयोग आरक्षण पा रहे समुदायों को ऊपरी और निचले हिस्सों में विभाजित भी नहीं कर पाया है। ऊपरी हिस्से में वे समुदाय आते हैं, जो धीरे-धीरे आरक्षण की जरूरत से परे जाने की प्रक्रिया में बहुत आगे बढ़ चुके हैं। और निचले हिस्से में वे समुदाय आते हैं जिन्हें अभी आरक्षण की बहुत दिनों तक जरूरत पड़ती रहेगी। अगर पिछड़ा वर्ग आयोग जैसी संस्था के प्रयासों से यह तस्वीर साफ हो जाए तो एक महत्वपूर्ण

और दूरगामी महत्व वाली सार्वजनिक नीति के रूप में पिछड़े वर्ग को मिलने वाले आरक्षण से जुड़े कई विवाद साफ हो सकते हैं।

मानव संसाधन मंत्री अर्जुन सिंह जब कहते हैं कि आरक्षण लागू करके वे संविधान के प्रावधानों का ही पालन कर रहे हैं तो उनकी बात का यह पहलू समर्थन के काबिल होता है। पर उनसे यह भी पूछा जाना चाहिए कि सरकार पिछड़ा वर्ग आयोग को उसकी ये जिम्मेदारियाँ पूरी करने का निर्देश क्यों नहीं देती जिनके तहत पिछड़े नहीं रह गए समुदाय आरक्षण की सूची से निकलने चाहिए। इसे सुनिश्चित करवाना भी सरकार का ही कर्तव्य है। दूसरी तरफ आरक्षण विरोधियों का पाखंड और छल इतना नंगा हो चुका है कि उसे अंधा भी देख सकता है। पहले जब नौकरियों में आरक्षण दिया गया था। तो उनका तर्क था कि इसके बजाय पिछड़ों को शिक्षा में प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। आज जब उन्हें शिक्षा में प्रोत्साहन का प्रस्ताव रखा जा रहा है, तो पहले दिए जाने वाले इस तर्क को पूरी तरह भुला दिया गया है। आरक्षण विरोधी पैरोकार आईआईटी और आईआईएम की साख के साथ देशकी साख जोड़ते हैं, पर वे बहुत सुविधाजनक तरीके से भारतीय सामाजिक यथार्थ के उन पहलुओं की तरफ से आँखें बंद कर लेते हैं जिनके तहत जातिगत विभेद समाज के बहुत बड़े हिस्से को समान नागरिकता के अधिकारों का उपभोग करने लायक ही नहीं छोड़ते । ऐसे आरक्षण विरोधी तो इतने दृष्टिहीन हैं कि सिर पर मैला ढोने वाली कुप्रथा की तरफ से भी आँखें बंद कर लेते हैं, जैसे कि इस प्रथा से देश की साख अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बेहतर हो रही हो ।

अभी विचार के लिए बड़ा सवाल यह है कि जाति प्रथा और राजनीतिक प्रक्रिया के बीच अन्योन्य क्रिया को कैसे समझा जाए? यह मसला बड़ा विवादग्रस्त है। लगता है कि मार्क्स और वेबर के बीच हुई लड़ाई भारत के समाज वैज्ञानिकों के बीच आज तक लड़ी जा रही है। मार्क्स की मान्यता थी कि उद्योगीकरण जैसे-जैसे कदम बढ़ाएगा, वैसे-वैसे जाति प्रथा तिरोहित होती जाएगी और वर्ग आधारित व्यवस्था उसकी जगह लेती चली जाएगी। इसके उलट वेबर का तर्क था कि जाति प्रथा 'पूँजीवाद' के उदय के ही खिलाफ है। वह आधुनिक राजतंत्र के विकास के लिए जरूरी विधिक और बुद्धिवादी मानकों की राह में हमेशा ही रोड़ा बनी रहेगी।

पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त भारत के बौद्धिक और राजनीतिक अभिजनों के 'सुधारवादी' नजरिए ने भी समस्या के इस सूत्रीकरण को बल प्रदान किया है। हमारे अभिजनों में बहस इस बात पर होती रही है कि क्या एक जातिग्रस्त समाज लोकतांत्रिक स्व-शासन के लायक माना जा सकता है? अर्थात क्या जाति प्रथा के आधार पर खड़ी पारंपरिक सामाजिक संरचना को जड़ से उखाड़े बिना आधुनिक राजनीतिक संस्थाएं लोकतांत्रिक कामकाज कर सकती हैं? उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर में समाज सुधारकों

और राजनेताओं के बीच हुई बहस में यह प्रश्न सबसे पहले उठा था। समाज सुधारक चाहते थे कि राजनीतिक लोकतंत्र लाने से पहले जाति प्रथा की सामाजिक बुराई खत्म की जानी चाहिए।

लेकिन हम पाते हैं कि लोकतांत्रिक राजनीति में लोगों की भागीदारी बढ़ते जाने के साथ ही जाति का राजनीतिकरण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। जो समूह और समुदाय अभी तक सत्ता के ढांचे, ज्ञान की प्रणालियाँ और मंशा चुनने की आजादी से वंचित रहे हैं उनमें यह प्रक्रिया खास तौर पर चली है। तथाकथित जातिवादी राजनीति ने समान प्रकार की वेदना झेलने वाले, समाज में एक जैसी कमजोर स्थिति में रखे गए और एक तरह के पेशे वाली जातियों को साथ लाने का काम भी किया है। यह एक दोहरी प्रक्रिया है जिसके जरिए अनेक जातियों ने अपनी बृहत्तर पहचान बनाई है और अपने साझे हितों को आगे बढ़ाया है। इस प्रकार जाति के राजनीतिकरण से जाति का ऊँच-नीच का ढांचा कमजोर हुआ है जबकि दूसरी ओर विभिन्न समुदायों में सत्ता संभालने के लिए तीखी प्रतिद्वंदिता अभी है और यह सब राजनैतिक समानता के लोकतांत्रिक सिद्धांतों के दायरे में हो रहा है।

यह सब ऐसी स्थिति में हो रहा है जब आरक्षण नीति के तहत बहुत स्पष्ट तय लक्ष्य भी हासिल नहीं किए जाते। संसद-विधान सभाओं की आरक्षित सीटों को भरना तो अनिवार्यता है पर ऊँची सरकारी नौकरियों में तय कोटा अभी भी पूरा नहीं भरता- इस नीति के तहत लाभ पाने की क्षमता अर्थात न्यूनतम शैक्षिक योग्यता भी इन श्रेणियों के काफी कम ही लोग हासिल कर पाते हैं। आरक्षण के साथ योग्यता के लिए जो अन्य उपाय सुझाए गए हैं उन पर और भी कम ध्यान दिया गया है। इन सबके बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि आरक्षण से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लोगों का लाभ हुआ है। ऊपर उठने की उनकी आकांक्षाओं को जगाने का एक ठोस आधार प्रदान करके इनके बीच साक्षरता और जीवन स्तर को ऊपर उठाने की प्रेरणा दी है और इसके नतीजे भी निकले हैं। दक्षिण और पश्चिम भारत में इस नीति को ज्यादा प्रभावी ढंग से लागू किया गया है, सो वहाँ दलितों और पिछड़ों का शैक्षिक और पेशागत रिकार्ड ज्यादा सुधरा है।

आज सकारात्मक कार्रवाई की नीति को जारी रखने और मजबूत करने की जरूरत पहले से भी कहीं अधिक है। जब अर्थव्यवस्था सरकारी नियंत्रण से मुक्त हुई है तब सरकार को इस बात का ज्यादा ख़याल रखने की जरूरत है कि समाज के कमजोर और पिछड़े हिस्से बाजार की मारकाट में परेशान न हों, अर्थव्यवस्था के विस्तार में उनकी भागीदारी हो और उन्हें भी इसका लाभ मिले।

बाजार समानता का काम करें इसके लिए जरूरी है कि सरकार अपनी भूमिका का ज्यादा अच्छी तरह निर्वाह करे-सबके लिए समान अवसर उपलब्ध कराए और जहाँ ऐसा न हो उसकी व्यवस्था करें। यह करने के लिए सकारात्मक कार्रवाई सबसे अच्छा उपकरण है। ऐसी नीति प्रभावी हो इसके लिए सरकार को बाजार अर्थव्यवस्था और नागरिक समाज, दोनों के ही हाशिए पर रहने वाले अपने नागरिकों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए ज्यादा सचेत-सक्रिय होना होगा। इन्हीं बातों के संदर्भ में सकारात्मक कार्रवाई वाली नीतियों में नए बदलाव करने की जरूरत है।

आरक्षण का लाभ पाकर सबल हो चुके समुदायों को इसके दायरे से बाहर करने की नीति उपयोगी होगी पर इसके पहले इस बात का सावधानी से अध्ययन करना जरूरी है कि उस समुदाय के लोग किस सीमा तक सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन से उबर गए हैं। इससे उन अति पिछड़े समुदायों को लाभ होगा जिन्हें नियम के हिसाब से तो आरक्षण मिलना चाहिए, पर जिन्हें वास्तव में कोई लाभ नहीं मिल पाता। आरक्षण का ज्यादा बड़ा हिस्सा आमतौर पर एक या दो छोटे समूह उठा लेते हैं जो इन समूहों के बीच से उभर आए हैं। एक और बात मलाईदार तबके के बारे में है। जब तक सार्वजनिक तौर पर दलितों के अपमान और दमन की घटनाएँ एकदम समाप्त नहीं हो जातीं तब तक उनके बीच से मलाईदार तबके को निकालने की बात नहीं होनी चाहिए। आदिवासियों पर भी यही बात लागू होनी चाहिए।

ऊँची जाति के गरीब और 'पिछड़े' परिवारों तक प्रत्यक्ष पहुँचने वाले विकास और प्रोत्साहन के कुछ खास कदम उठाए जाने चाहिए। दूर दराज के गांव में रहने और अनपढ़ माँ-बाप, गरीब परिवार का होने के चलते ऐसे बच्चों को सामान्य प्रतिद्वंदिता में मुश्किलें आती हैं। गांवों में न पढ़ाई का ठीक इंतजाम होता है, न स्वास्थ्य का। इन कदमों को न तो आरक्षण मानना चाहिए, न आरक्षण से जोड़ना चाहिए। सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े और वंचित लोगों के लिए सकारात्मक कार्रवाई के तहत बनी नीतियों का आधार एकदम अलग है।

निजी क्षेत्र की नियुक्ति नीति में बदलाव करके उसमें विविधता के सिद्धांत का समावेश करने की जरूरत है। यह बात आज स्वीकार की जाने लगी है कि एक ही जगह पर अलग-अलग सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों का काम करना न सिर्फ प्रबंधन की दृष्टि से अच्छा होता है, बल्कि कंपनी के लिए भी लाभकर रहता है। व्यापार और संगठित क्षेत्र के लिए सामान्य तौर पर उनके यहाँ काम न करने वाले सांस्कृतिक समूहों के लोगों को लाने का विशेष प्रयास करना इस नीति का हिस्सा होना चाहिए।

n

सामाजिक न्याय और गाँधीजी

मस्तराम कपूर

जाति व्यवस्था को समाप्त करने का एकमात्र रास्ता है सामाजिक न्याय की स्थापना। इस प्रस्थापना के पीछे तर्क यह है कि जाति व्यवस्था का निर्माण सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक अधिकारों को ऊपर के तीन वर्णों में केंद्रित करने से हुआ और जब ये अधिकार समाज के सभी वर्गों में विकेंद्रित होंगे तो जाति व्यवस्था टूटेगी। अधिकारों के विकेंद्रीकरण को ही 'सामाजिक न्याय' कहा जाता है।

सामाजिक न्याय का वातावरण बनाने में जनसंचार माध्यमों की विशेष भूमिका होती है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। किंतु दिक्कत यह है कि इस देश के अधिकांश पढ़े-लिखे लोग सामाजिक न्याय का अर्थ भी नहीं समझते और जनसंचार माध्यमों को चलानेवाले लोग भी इस पढ़े-लिखे तबके से आते हैं। यह बात उन दिनों विशेष रूप से स्पष्ट हो गई थी, जब मंडल रिपोर्ट को लागू करने के लिए अगस्त १९९० में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा जारी आदेश पर आरक्षण विरोधी दंगे, हत्याएँ, आत्मदाह आदि की घटनाओं ने सारे देश को उन्माद-ग्रस्त बना दिया था। हिंदी और अंग्रेजी के तमाम अखबार और उनके प्रसिद्ध संपादक/ स्तंभकार (अपवादस्वरूप कुछ व्यक्तियों को छोड़ कर) इस आरक्षण विरोधी उन्माद के समर्थन में आ गए थे। उन दिनों हमारे कुछ साथियों ने आरक्षण विरोध की भर्त्सना करने के लिए और सामाजिक न्याय के हित में आरक्षणों का समर्थन करने के लिए एक अपील जारी की। इसके लिए एक सर्वेक्षण किया गया कि कौन पत्रकार-बुद्धिजीवी आरक्षण के विरोध में हैं और कौन समर्थन में । इसमें पाया गया कि बड़े अखबारों के संपादक और स्तंभकार आरक्षण-व्यवस्था के विरोधी हैं।

उन दिनों विश्वविद्यालय के अध्यापकों, वकीलों और पत्रकारों से बात करने पर भी मुझे लगा कि 'सामाजिक न्याय' शब्द हमारे संविधान की सर्वप्रथम प्रतिबद्धता होने पर भी, समझा नहीं गया। एक बार हमारे प्रधानमंत्री ने भी अपने भाषण में कहा कि हम तो हमेशा सामाजिक न्याय के पक्षधर रहे, क्योंकि हम सामाजिक अन्याय के खिलाफ हैं। इस तरह इस शब्द को विकृत करने की प्रवृत्ति आज भी पढ़े-लिखे लोगों में है। सामाजिक न्याय के पक्षधर भी अक्सर इस शब्द का प्रयोग वर्ण व्यवस्था विरोध से बचने के लिए करते हैं।

सामाजिक न्याय सामाजिक अन्याय का विलोम मात्र नहीं है। यह सामाजिक समता का बोधक शब्द है और सामाजिक समता की कल्पना सारे विश्व में नई संकल्पना है। भारत में तो यह संकल्पना ढाई-तीन हजार साल के इतिहास में पूरी तरह अमान्य रही, क्योंकि वर्ण व्यवस्था का आधार ही सामाजिक विषमता था और हमारा समाज आज भी वर्ण व्यवस्था पर टिका है, जिसमें मनुष्य का भाग्य अकस्मात जन्म तय कर देता है। जब तक यह वर्ण व्यवस्था है, तब तक सामाजिक न्याय यहाँ स्थापित नहीं हो सकता । आरक्षण व्यवस्था इस वर्ण व्यवस्था को समतामूलक व्यवस्था में बदलने की दिशा में संविधान का एक ठोस कदम है, क्योंकि इससे विद्या, धन और राजसत्ता की शक्तियाँ, जो वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत ऊपर के तीन वर्णों में केंद्रित होती हैं, समाज के सभी तबकों में विकेंद्रित होती हैं।

कहने का मतलब यह कि सामाजिक न्याय की कल्पना सामाजिक विषमता के विरोध से आई और इसे वर्तमान ठोस रूप भारत में ही मिला, जहाँ सामाजिक विषमता के खिलाफ पूरे इतिहास में आंदोलन चलता रहा। बुद्ध,महावीर, नाथों, सिद्धों और संतों से होता हुआ यह उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण काल में स्वामी दयानंद आदि समाज सुधारकों के प्रयासों में मुखरित हुआ और फिर महात्मा फुले, नायकर, नारायण गुरू, डॉ. आंबेडकर, गांधी, लोहिया के विचारों में यह संकल्पना स्पष्ट हुई। संविधान में विशेष अवसरों के सिद्धांत को मान्यता प्रदान कर भारत ने इसे सामाजिक विषमताओं के समाधान के रूप में विश्व के समक्ष रखा । हमारे संविधान के बनने के १५ साल बाद अमेरिका ने राजनैतिक अधिकारों के कानून के रूप में इसे अपनाया कोटा प्रणाली को लागू कर। और आज यह कोटा प्रणाली किसी न किसी रूप में सभी देशों में मान्य है।

इस विचार के अंतर्गत नागरिक अधिकारों और राजनैतिक अधिकारों के अतिरिक्त सामाजिक अधिकारों को भी आदमी के मूलभूत अधिकारों का दर्जा प्राप्त हुआ । उल्लेखनीय है कि नागरिक अधिकार (जैसे कानून के समक्ष बराबरी) और राजनैतिक अधिकार (जैसे सबको वोट देने और चुनाव लड़ने का अधिकार) भी क्रमशः मान्य हुए थे। ब्रिटिश शासन ने कानून के समक्ष बराबरी का अधिकार दिया (हालाँकि अपने लिए उनके विशेष कानून भी थे।) और राजनैतिक बराबरी का अधिकार संविधान में वयस्क मताधिकार की स्वीकृति के बाद हमें मिला। सामाजिक बराबरी का अधिकार मान्य तो हो गया है, किंतु इसे वस्तुतः प्राप्त करने में समय लग सकता है। इसमें खास ध्यान देने वाली बात यह है कि नागरिक अधिकार और राजनैतिक अधिकार व्यक्ति के अधिकार होते हैं और व्यक्तिशः वितरित होते हैं, किन्तु सामाजिक अधिकार समूह अधिकार होते हैं और समूहों में ही वितरित होते हैं। इसलिए आरक्षण या कोटा प्रणाली का आधार समाज के मूल समूह बनते हैं, जैसे भारत में जाति या पेशा-समूह को बेसिक कलेक्टिविटी माना गया और

अमेरिका में नस्ल, रंग आदि के समूहों को। इस दृष्टि से देखा जाए तो उच्चतम न्यायालय का क्रीमी लेयर का निर्णय भी गलत ठहरता है, क्योंकि इस निर्णय के अंतर्गत आरक्षणों के लिए मूल समूहों को तो आधार माना गया, किंतु आरक्षण की परिधि से बाहर करने के लिए व्यक्तियों और परिवारों को चुना गया, जबकि निष्कासन भी मूल समूहों का होना चाहिए। इसके लिए ठीक रास्ता यह था कि उच्चतम न्यायालय संविधान के अनुच्छेद १६ में आए शब्द 'पर्याप्त प्रतिनिधित्व' को परिभाषित करता अर्थात उसका अनुपात निश्चित करता (जैसे जनसंख्या अनुपात का ५० प्रतिशत) और फिर १० वर्षीय जनगणना में जातियों की स्थिति के आँकड़े जमा कर उन जातियों को आरक्षण की परिधि से बाहर करने की व्यवस्था की जाती जिन्हें सरकारी नौकरियों आदि में ५० प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिल गया हो। किंतु हम जातियों के आँकड़े जमा करने से डरते हैं, इसलिए उच्चतम न्यायालय ने भी आसान-सा रास्ता चुना, जो सफल होता नजर नहीं आता, क्योंकि इसमें न्यायालय ने खुद अपने ही सिद्धांत का तिरस्कार किया है।

सारांश यह कि सामाजिक न्याय की कल्पना एक नई कल्पना है, जिसका सही स्वरूप अभी सर्वोच्च न्यायालय के जजों के लिए भी स्पष्ट नहीं हुआ है। जनसंचार माध्यमों से जुड़े लोगों के लिए भी इसे ठीक-ठीक समझ पाना मुश्किल है। इसके अतिरिक्त जो बात सबसे अधिक चिंताजनक है, वह यह है कि जनसंचार माध्यमों का संचालन करने वाले अधिकांश लोग सवर्ण जातियों से आते हैं जिनके लिए अपने संस्कारों से ऊपर उठना बहुत कठिन होता है। हर युग परिवर्तन के साथ यह ट्रेजेडी घटती है कि नए युग की संस्थाओं का संचालन पुराने युग के मूल्यों को वहन करने वाले बुद्धिजीवियों के हाथ में रहता है। इंग्लैंड आदि देशों के आधुनिक लोकतंत्रों का संचालन भी अभी हाल तक सामंती मानसिकता वाली नौकरशाही और बुद्धिजीवी वर्ग के हाथों में रहा। इसका कारण होता है कि जिस रफ्तार से राजनैतिक सत्ता या धन की सत्ता विस्थापित और वितरित होती है, उसी रफ्तार से विद्या या ज्ञान की सत्ता विकेंद्रित नहीं होती।

वर्ण व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता है कि यह अपने एकाधिकार को बनाए रखने के लिए समान अवसरों का छलपूर्ण नारा लगाती है और विशेष अवसरों का विरोध करती है। आज की विश्व बाजार व्यवस्था भी सारे देशों पर जोर डाल रही है कि वे अपने यहाँ लागू विशेष संरक्षणों को (जैसे तट कर, लाइसेंस आदि) समाप्त करें और सबको व्यापार की समान सुविधाएँ दें। यह व्यवस्था चाहती है कि भेड़ियों और मेमनों को आपस में खुली प्रतियोगिता करने दी जाए। यह ठीक वैसा ही है, जैसे आरक्षणों और सामाजिक न्याय का विरोध करने वाले वर्ण व्यवस्थावादी करते हैं।

सामाजिक न्याय की कल्पना समाज कल्याण से भिन्न है। समाज-कल्याण की कल्पना पूँजीवाद के निकृष्ट (मार्क्स के अनुसार अपरिहार्य) परिणाम अर्थात सर्वहारा के

अत्यंत निर्धनीकरण को रोकने के प्रयास में सामने आई। समाज के दीन-हीन कमजोर तबकों को राज्य की ओर से यत्किंचित सहायता, जो उन्हें अभाव-जन्य मृत्यु से बचाए, यही समाज कल्याण है। यह राज्य की ओर से दी गई चैरिटी है, अधिकार नहीं और कभी भी राज्य इसमें कटौती कर सकता है, जैसा कि पूँजीवादी देशों में आजकल हो रहा है। सामाजिक न्याय मूलभूत अधिकार है, संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित। यह किसी का अनुग्रह नहीं है।

सामाजिक न्याय का लक्ष्य विषमता को समाप्त करना और समता की व्यवस्था स्थपित करना है। स्वतंत्रता और बंधुता की तरह ही समता मानव का नैसर्गिक अधिकार है।

डॉ. आंबेडकर के अनुयायी कुछ बुद्धिजीवी अब जाति उन्मूलन की बात नहीं करते। वे डॉ. आंबेडकर के सिद्धांत को नकार कर जातियों के शक्तिकरण की बात करते हैं। उनकी दृष्टि में सामाजिक न्याय का उद्देश्य दलित जातियों को शक्तिशाली बना कर उन्हें सवर्ण जातियों के खिलाफ युद्ध के लिए तैयार करना है। इस युयुत्सु दृष्टि के कारण सामाजिक न्याय जाति युद्ध की स्थितियाँ पैदा कर रहा है।

जाति व्यवस्था के टूटने के क्रम में जातियों के पुनर्संगठन और शक्तिकरण की प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी से ही चल रही है। आर्य समाज के आंदोलन की प्रतिक्रिया के रूप में ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य आदि जातियों ने अखिल भारतीय संगठन बना कर और अपनी अंदरूनी ऊँची-नीची सीढ़ियों को तोड़कर अपने को शक्तिशाली बनाने की कोशिश की। उनकी देखा-देखी छोटी जातियों ने भी अपने संगठन बना कर अपने को शक्तिशाली बनाने की कोशिश की, यहाँ तक कि उन्होंने अपने उद्‌गम को महान सिद्ध करने के लिए इतिहास और मिथकों को तोड़-मरोड़कर कई बेसिर-पैर की कहानियाँ ईजाद कीं। शक्तिकरण की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है, लेकिन यह जाति व्यवस्था की बुराई का समाधान नहीं है। यह समाज को जाति युद्ध और विनाश की ओर ले जानेवाली है।

सामाजिक न्याय अधिकारों का विकेंद्रीकरण कर कमजोर जातियों का शक्तिकरण तो करता है, किंतु यह कुछ जातियों के वर्चस्व के स्थान पर कुछ अन्य जातियों के वर्चस्व को स्थापित करने का रास्ता नहीं है। यह समाज में समरसता लाने के लिए और जाति व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिए समाज के सभी समूहों का शक्तिकरण करता है। यह लक्ष्य विभिन्न जातियों के बीच घृणा और द्वेष का वातावरण बना कर प्राप्त नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से आज यही हो रहा है और इसका कारण है कि हमने सामाजिक न्याय की कल्पना को ठीक से नहीं समझा है। बंधुता की हत्या कर समता स्थापित नहीं हो सकती, उसी तरह, जैसे समता की हत्या कर स्वतंत्रता स्थापित नहीं होती।

डॉ. आंबेडकर ने संविधान सभा में अपने समापन भाषण में कहा था - 'स्वतंत्रता, समता और बंधुता को एक-दूसरे से अलग कर दें तो लोकतंत्र निष्फल हो जाएगा। न

स्वतंत्रता को समता से अलग किया जा सकता है और न समता को स्वतंत्रता से। इसी तरह स्वतंत्रता और समता को भी बंधुता से विलग नहीं किया जा सकता।'

नव-आंबेडकरवादी इस भावना के ठीक विपरीत काम कर रहे हैं। वे समाज के अपने से भिन्न तबकों को शत्रु के रूप में देख रहे हैं। यह मनुवाद का ही विपर्यय रूप है। इस रास्ते से न जाति व्यवस्था का उन्मूलन हो सकता है और न दलितों की स्थिति में कोई आमूल परिवर्तन हो सकता है। यह विनाश का ही रास्ता है।

डॉ. आंबेडकर और उनके समकालीन अंग्रेजी लेखकों की रचनाओं में जिसे ब्राह्मणी, ब्राह्मणवादी या 'ब्राह्मनिकल' व्यवस्था कहा जाता था, उसे कुछ समय से मनुवादी व्यवस्था का नाम दिया गया है। वर्णाश्रम के सिद्धांत पर आधारित इस व्यवस्था का स्वरूप चूँकि मनुस्मृति में तय किया गया था, अतः इसे मनुवादी कहा गया। व्यवस्था से अधिक यह विशेषण अब मानसिकता के लिए इस्तेमाल किया जाता है, क्योंकि मनुस्मृति की व्यवस्था तो काफी हद तक बदल गई है, किंतु मानसिकता वही है। इसे जातिवादी मानसिकता भी कहा जाता है।

यह मानसिकता गुप्त और प्रकट, दो रूपों में दिखाई देती है। प्रकट रूप पर तो संविधान ने अंकुश लगाए हैं, किंतु गुप्त या छद्म रूप में यह निरंतर काम कर रही है। जरूरी नहीं कि यह मानसिकता सवर्ण जातियों में ही हो, असवर्ण जातियाँ भी इन मानसिकता का शिकार हैं।

डॉ. आंबेडकर और डॉ. लोहिया ने इस मानसिकता के छद्म रूपों की विस्तार से पड़ताल की थी।

बंबई एसेंबली में दलितों के प्रतिनिधित्व पर हुई बहस के दौरान एक बार डॉ. आंबेडकर ने टिप्पणी की कि ब्राह्मण जज जब ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण के बीच वाद का फैसला करने लगता है तो वह सिर्फ जज के रूप में फैसला नहीं करता, उसकी जातिवादी मानसिकता भी काम करती है। इस पर एसेंबली में बहुत हंगामा हुआ। दूसरे दिन आंबेडकर ने स्पष्टीकरण दिया कि 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग उन्होंने इसलिए किया था क्योंकि प्रश्न पूछने वाला ब्राह्मण था। प्रश्न पूछने वाला कोई और होता तो मैं उसी की जाति का उल्लेख करता। यह एक मानसिकता है जो सबमें काम करती है।

डॉ. लोहिया ने १० दिसंबर १९५७ को लखनऊ जेल से उत्तर प्रदेश के जेल मंत्री के नाम एक पत्र लिखा था, जिसमें जवाहरलाल नेहरू को 'वशिष्ठी परंपरा का कट्टर ब्राह्मण' कह कर संबोधित किया था। इस पत्र में डॉ. लोहिया ने इस मानसिकता को वशिष्ठवाद कहा था और उसकी विशेषताएँ बताई थीं– अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए क्रोध से अभिभूत होकर किसी को देश-निकाला (जैसे सीता को) और किसी का सिर काटने (जैसे शम्बूक

का) की प्रवृत्ति। उनका कहना था कि कट्टरता की परंपरा वशिष्ठ की परंपरा है और उदारता की परंपरा वाल्मीकि की परंपरा।

मनुवाद का आम अर्थ इस समय यह है कि सवर्ण जातियों का राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक-सांस्कृतिक वर्चस्व हर हालत में बना रहना चाहिए, चाहे इसके लिए जो भी छल-छद्म करना पड़े। यह काम स्त्री और शूद्र के बहुसंख्यक समाज में हीनता की भावना भर कर ही किया जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि इस बंहुसंख्यक समाज के रहन-सहन, शिक्षा, व्यवसाय, संस्कृति के स्तर को यथासंभव निम्न से निम्न रखा जाए। यदि यह बहुसंख्यक समाज अपने राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की मांग करता है, तो उस माँग को हर संभव प्रयास से दबाया जाए।

संविधान में इस बहुसंख्यक वर्ग को सामाजिक न्याय के प्रावधानों के अंतर्गत जो अधिकार दिए गए (जैसे विशेष अवसर, आरक्षण की व्यवस्था), उन्हें कुंठित करने के लिए जो भी प्रयास हुए या हो रहे हैं, वे मनुवादी सोच का परिणाम हैं। कभी इन प्रावधानों को यह कह कर चुनौती दी गई थी कि ये मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। न्यायपालिका के इस फैसले को बेअसर करने के लिए संविधान में पहला संशोधन १९५१ में करना पड़ा। संविधान के निर्देश के अनुसार नियुक्त कालेलकर आयोग ने जब स्त्रियों सहित सभी पिछड़े वर्गों को ७० प्रति आरक्षण देने की सिफारिश की, तो जवाहरलाल नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद ने कालेलकर पर रिपोर्ट बदलने के लिए दबाव डाला। परिणामस्वरूप कालेलकर ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजते समय अग्रेषण पत्र में लिखा कि रिपोर्ट तैयार होने के बाद मैंने महसूस किया कि यह रिपोर्ट बहुत खतरनाक है। नेहरू सरकार ने योग्यता और आर्थिक कसौटी का तर्क दे कर, जिसे आज तक दुहराया जा रहा है, रिपोर्ट को कूड़े के डिब्बे में डाल दिया। इंदिरा सरकार ने भी इसे दबाए रखा और जनता सरकार के समय बनाए गए मंडल आयोग की रिपोर्ट को भी इंदिरा-राजीव सरकारों ने दबा दिया। जब मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने की, तो सारे देश में बसों को जलाने और आत्मदाहों का सिलसिला चला। कुछ लोगों ने दलित पिछड़ों के अधिकारों की इस माँग को भक्ति काल के आजमाए हुए फार्मूले के अनुसार धर्म से कुंद करने की नीति अपनाई और राम जन्मभूमि का आंदोलन छेड़ दिया। उच्चतम न्यायालय का फैसला आ जाने के बाद भी दलित-पिछड़ों के अधिकारों के इस आंदोलन को विफल करने के प्रयास जारी हैं। आरक्षण समर्थक भी मूर्खतावश ऐसे प्रयास कर रहे हैं। वे धर्म के आधार पर भी आरक्षण की वकालत कर रहे हैं, जबकि यह आर्थिक आधार आरक्षण की तरह ही इस आंदोलन की भावना और संविधान के विरुद्ध है।

जाति व्यवस्था की बुराई का तीव्र अहसास हमें डॉ० आंबेडकर ने कराया, इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। लेकिन उन्होंने इस बुराई से निजात पाने का रास्ता नहीं सुझाया।

उन्होंने धर्म परिवर्तन का रास्ता आजमाया, किंतु वे जानते थे कि धर्म परिवर्तन के बाद भी इससे पीछा नहीं छूटेगा। उन्होंने गुस्से और युद्ध के तेवर अपनाए और उनके अनुयायियों ने उसे घृणा का रूप दे दिया। घृणा घृणा को उकसा रही है और युद्ध का कहीं अंत नहीं दिखता । दूसरा रास्ता गांधी ने सुझाया–संस्कारों को बदलने का और मन की शुद्धि करने का। यह बंधुता के साथ समता को लाने का रास्ता है।

गांधी को इस समय दलितों ने खतरनाक मुजरिम के रूप में कटघरे में खड़ा किया है। धर्म की राजनीति करने वाले कठमुल्ले हिंदुओं ने भी गांधी को अभियुक्त बनाया है। एक वर्ग उन्हें 'शैतान की औलाद' तक कहने में सुख प्राप्त करता है। दूसरा वर्ग उन्हें राष्ट्रपिता कहे जाने पर घोर आपत्ति करता है। गांधी की मृत्यु के लगभग आधी सदी बाद भी इन वर्गों ने उन्हें क्षमा नहीं किया। दुनिया के सबसे बड़े इंसान, अहिंसा के मसीहा के साथ इस सुलूक से प्रत्येक भारतीय का सिर शर्म से झुक जाना चाहिए था। लेकिन लगता है, हमारा सिर मेरुदंड पर नहीं, टीक के डंडे पर टिका है।

दुनिया में ऐसा कोई भी महापुरूष नहीं हुआ, जिसने अपने जीवन में गलतियाँ न की हों। जिन्हें हम अवतार मानते हैं, उनसे भी गलतियाँ हुई हैं। गांधी जी ने भी गलतियाँ कीं ओर उन्हें ईमानदारी के साथ स्वीकार भी किया है लेकिन उन्होंने देश के लिए और दलितों के लिए जो त्याग–तपस्या की, उसकी मिसाल ढूँढ़ना मुश्किल है।

यह ठीक है कि गांधी जी सवर्ण जाति में पैदा हुए। डॉ. भीमराव आंबेडकर की तरह उन्हें जन्म के कारण अपमान और उपेक्षा का शिकार नहीं होना पड़ा। लेकिन दलितों के प्रति उनके मन में जो दर्द था, वह डॉ. आंबेडकर से कम नहीं था। यह भी ठीक है कि वे वर्ण व्यवस्था को एक समय सही मानते थे, लेकिन डॉ. आंबेडकर से हुए विचारों के आदान–प्रदान के बाद उन्होंने अपनी धारणाओं में आमूल संशोधन किया था। यह परिवर्तन आसानी से नहीं हुआ। इसका कारण है कि अपने विश्वासों पर अटल रहने से भी कठिन काम अपने विश्वासों में संशोधन करना होता है। इसके लिए उन्हें बहुत आत्ममंथन करना पड़ा। बहुत अपमान भी सहना पड़ा, इतना कि शायद डॉ० आंबेडकर भी उसे बर्दाश्त न कर पाते। इस अपमान की महागाथा गांधी शांति प्रतिष्ठान से गत वर्ष प्रकाशित पुस्तक 'गांधीज़' कैम्पेन अगेंस्ट अनटचेबिलिटी– १९३३–३४' में छपी है, जिसके संपादक हैं बरेन राय और जिसमें गांधी जी के अस्पृश्यता विरोधी देशव्यापी दौरे से संबंधित ब्रिटिश सरकार की गोपनीय रिपोर्टों के दस्तावेज दिए गए हैं। स्मरणीय है कि ये रिपोर्टें सर्वोच्च अधिकारियों द्वारा तैयार की गई और लंदन भेजी गई थीं।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए कम्यूनल अवार्ड के विरोध में गांधी जी ने लंबा अनशन किया, जिकी परिणति डॉ. आंबेडकर और सवर्ण हिंदुओं के बीच हुए पूना समझौते

में हुई। इसके बाद गांधी जी ने राजनीति से अपने को अलग कर लिया और अस्पृश्यता निवारण के अभियान में देशव्यापी दौरे पर निकल पड़े। यह दौरा नवंबर १९३३ से अगस्त १९३४ तक चला। दौरे का उद्‌देश्य था अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार करना और हरिजन सेवक संघ के लिए चंदा इकट्ठा करना। यह वह समय था, जब गांधी जी ने सामूहिक सिविल नाफरमानी आंदोलन को निलंबित कर दिया था जिसके कारण उनकी साख अपने ही अनुयायियों (जवाहरलाल और सुभाष आदि) की नजरों में भी गिर गई थी। आंदोलन की विफलता और कांग्रेसी नेताओं सहित असंख्य लोगों की गिरफ्तारी के कारण कांग्रेस में मायूसी छाई हुई थी। पूना समझौते के साथ कम्यूनल अवार्ड को कांग्रेस द्वारा मान लिये जाने के बावजूद अधिकतर कांग्रेसी इसे पचा नहीं पा रहे थे और इसलिए अल्पसंख्यक कांग्रेस से नाराज थे। दलितों को लग रहा था कि गांधी ने आंबेडकर पर नाजायज दबाव डाला और हिंदुओं के सवर्ण तबकों को गांधी हिंदू धर्म के दुश्मन के रूप में दिखाई दे रहे थे, हालाँकि गांधी जी के आंदोलन का प्रमुख उद्‌देश्य हिंदू समाज की अखंडता बनाए रखना था। कम्युनिस्ट गांधी को गाली देने का कोई मौका नहीं चूक रहे थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ–हुआ ही था और उसके सैद्धांतिक आग्रह अधिकांशतः साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे। डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे नेता भी, जो साम्यवादी विचारधारा के जादुई सम्मोहन से मुक्त थे, जवाहरलाल नेहरू के प्रभाव से अभिभूत थे। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कार्यक्रम के कुछ मुद्‌दों से असहमति जताते हुए गांधी जी ने उसे पंसद कर लिया था और कांग्रेस के भीतर सोशलिस्ट पार्टी के काम करने को अपनी स्वीकृति दे दी थी। किंतु सोशलिस्ट ग्रुप नेहरू, सुभाष आदि के नेतृत्व में गांधी के मंदिर प्रवेश, अछूतोद्धार जैसे कार्यक्रमों से संतुष्ट नहीं था और न ही वह अहिंसा के सिद्धांत को पूर्ण रूप से मानने को तैयार था, हालांकि रणनीति के रूप में मानता था। गांधी ने सोशलिस्ट कार्यक्रम को देखकर कहा था– इसमें समाज सुधार का उल्लेख नहीं है। डॉ. लोहिया ने संविधान के प्रारूप पर आपत्ति की थी कि इसमें पूर्ण आजादी के लक्ष्य का उल्लेख नहीं हुआ है।

कुल मिलाकर गांधी जी बिलकुल अकेले पड़ गए थे। उन्हें चारों तरफ विरोध के स्वर सुनाई दे रहे थे। कट्टर हिंदूवादी तत्व (जिनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, वर्णाश्रम स्वराज संघ, हिंदू महासभा आदि के लोग थे।) तो उनके खून के प्यासे तक बन गए थे। गाँधी जी जहाँ–जहाँ दौरे पर पहुँचते थे, ये कट्टर हिंदू तत्व उन्हें काले झंडे दिखाने, उनकी सभाओं में गड़बड़ी पैदा करने, गांधी विरोधी पोस्टर बँटवाने के लिए पहुंच जाते थे। बंगाल के सवर्ण हिंदू और पंजाब के सवर्ण हिंदू इस विरोध में विशेष मुखर थे। बंगाल के कम्युनिस्टों ने तो साम्राज्यवाद–विरोधी लीग के वजन पर गांधी विरोधी लीग ही बना ली थी। कट्टर हिंदुओं ने 'गांधी बायकाट' कमेटी बनाई थी। ब्रिटिश सरकार, बुद्धिजीवी, कट्टर हिंदूवादी,

कम्युनिस्ट, दलित, मुस्लिम सब गांधी जी का विरोध करने के लिए कटिबद्ध थे और कांग्रेस का वाम गुट भी उनके आंदोलन के प्रति सहानुभूतिशील नहीं था। सबसे बड़ी बात यह कि जिस दलित वर्ग के हक में जनमत तैयार करने के लिए वे निकले थे, उसका भी उनके प्रति ठंडा रवैया था। इस सारे प्रतिकूल माहौल के बावजूद गांधी जी ने सारे देश का भ्रमण किया और अपने अस्पृश्यता निवारण के कार्यक्रम को चलाया। इस दृष्टि से यह एक अद्‌भुत अभियान था, जिसकी दुनिया में मिसाल नहीं मिलती। नितांत निराशा की परिस्थितियों में भी एक व्यक्ति क्या कर सकता है, इसका यह एक उदाहरण था। ब्रिटिश सरकार की गोपनीय रिपोर्टों में गांधी के इस अभियान को पूर्ण विफल बताया गया, किंतु इसका परिणाम १९३७ के चुनावों में देखने को मिला, जिसमें कट्टर हिंदूवादी तत्वों का बिलकुल सफाया हो गया, मुस्लिम लीग किसी भी प्रांत में सरकार नहीं बना सकी, डॉ. आंबेडकर की पार्टी भी लगभग खत्म हो गई तथा कम्युनिस्टों को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के झंडे तले आजादी के आंदोलन में शामिल होना पड़ा । गांधी जी को एक बार फिर आजादी के आंदोलन की बागडोर सँभालनी पड़ी तथा अनेक नेताओं के असमंजस के बावजूद कांग्रेस को 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू करना पड़ा। लाखों की तादाद में भारतवासी 'करो या मरो' के आह्वान पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ अंतिम लड़ाई लड़ने के लिए निकल पड़े।

लेकिन लगभग दस महीने के इस 'एकला चलो' अभियान में गांधी जी को कितने कष्ट झेलने पड़े, कितना विरोध सहना पड़ा, कितना अपमान पीना पड़ा, इसकी कल्पना कर मन सिहर उठता है। डॉ. आंबेडकर को तो अपने विरोधियों से ही अपमान मिला था और उसके चलते उन्होंने बौद्ध धर्म की शरण लेकर अपनी लड़ाई बंद कर दी थी। इस पीड़ा को एक महात्मा ही झेल सकता था। कोई आश्चर्य नहीं कि इस अभियान के समाप्त होने के बाद अक्टूबर १९३४ में उन्होंने कांग्रेस की चवन्नी सदस्यता भी छोड़ दी। देशवासियों ने तो उनके इस अभियान को नहीं समझा, किंतु विदेशी विद्वानों ने माना कि यह अद्‌भुत अभियान था। उनके एक जीवनी लेखक हेनरी पोलक ने कहा, 'गांधी ने अस्पृश्यता को ऐसा आघात पहुँचाया है कि वह उससे कभी उबर नहीं सकेगी।' उनके एक अन्य प्रशंसक होरेस एलेक्जेंडर ने ३५ साल बाद लिखा : 'अस्पृश्यता को समाप्त करने में मानवतावादी विचारों और लोकतंत्र का प्रभाव और ईसाई मिशनरियों के प्रभाव को तो निस्संदेह स्वीकार किया जाएगा, किंतु मेरे विचार से इसमें सितंबर, १९३२ के दिन को निर्णायक माना जाएगा, जब गाँधी जी ने इसके लिए अनशन किया था।'

गाँधी जी का दौरा ५ नवंबर १९३३ को शुरू हुआ और २ अगस्त १९३४ को समाप्त हुआ। पहला पड़ाव नागपुर था। यहां की राजनैतिक स्थिति का वर्णन करते हुए रिपोर्ट में कहा गया कि यहाँ कांग्रेस के मराठीभाषी (अभ्यंकर-खरे) ग्रुप और हिंदीभाषी (अवारी-

पूनमचंद) ग्रुप के बीच तीव्र होड़ चल रही थी। कट्टर हिंदूवादी (जिन्हें सारी पुस्तक में सनातनी तत्व कहा गया है), मंदिर प्रवेश और अस्पृश्यता निवारण के गांधी के कार्यक्रमों के खिलाफ जबरदस्त प्रचार कर रहे थे। भाई परमानंद पहले ही पहुँच गए थे और उनके स्वागत में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख डां. हेडगेवार के साथ-साथ वर्णाश्रम स्वराज संघ के नेता और महारों के प्रतिनिधि भी शामिल थे। भाई परमानंद ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों का 'ड्रिल प्रदर्शन' देखने के बाद उनकी तुलना मुसोलिनी के यूथ ब्रिगेड से की। टाउन हॉल में हुई बैठक डॉ. हेडगेवार का 'शो' था और बैठक की अध्यक्षता कर रहे एम.जी. चिटणीस डॉ. हेडगेवार के कठपुतले थे। मुंजे के अनुयायी वहाँ उपस्थित थे। भाई परमानंद ने कश्मीर, भोपाल, सिंध, अलवर और निजाम के इलाके में हिंदुओं के उत्पीड़न की हृदय-विदारक कहानियों के साथ एक अत्यंत भड़काऊ भाषण दिया। सनातनियों की एक सभा में पंडित अखिलानंद ने कहा कि धर्म की रक्षा स्वराज प्राप्त करने से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

नागपुर के दौरे का सारांश प्रस्तुत करते हुए रिपोर्ट में कहा गया कि गांधी जी के दर्शनों के लिए ही लोग उनकी मीटिंगों में आते थे, उनके विचारों से वे प्रभावित नहीं होते थे। मारवाड़ी चंदा देना चाहते थे, लेकिन उन्हें लगता था कि यह चंदा महारों को मिलेगा जो वे नहीं चाहते थे। आंबेडकरवादी महार आमतौर पर इन सभाओं से अलग रहे। सनातनी तत्व समानांतर सभाएँ करते थे और गाँधी जी की सभाओं में हुड़दंग भी करते थे। कांग्रेस का अवारी ग्रुप जवाहरलाल नेहरू के प्रभाव के कारण गांधी के अभिमान को नापसंद करता था और गांधी के खिलाफ कुप्रचार भी करता था। खरे-अभ्यंकर ग्रुप गांधी जी के अभियान का पूरा समर्थन कर रहा था।

वर्धा में सनातनियों के हुड़दंग को रोकने के लिए पुलिस को हस्तक्षेप करना पड़ा। यवतमाल के डिप्टी कमिश्नर ने लिखा : गांधी को लोग महात्मा के रूप में जरूर देखने आते हैं, किंतु कोई भी उन्हें राजनेता या समाज सुधारक के रूप में गंभीरता से नहीं लेता।' अकोला में एक कम्युनिस्ट नेता ने विरोध में सभा करने की कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हुआ। सियोनी के दौरे के संबंध में डिप्टी कमिश्नर ने लिखा : 'दौरा टाँय-टाँय फिस रहा। लोगों ने खुलकर इस बात पर असंतोष व्यक्त किया कि गांधी का मुख्य उद्‌देश्य धन इकट्ठा करना है।'

कटनी, सागर, दमोह, जबलपुर आदि के दौरे में बनारस के सनातनियों के जत्थे गांधी के विरोध में लगे रहे, लेकिन उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। जबलपुर में गांधी की भेंट अब्दुल कलाम आजाद, डॉ. महमूद, के.एफ. नरीमन, नेहरू, जमनालाल बजाज आदि नेताओं से हुई । एक सभा में नेहरू ने सिविल नाफरमानी आंदोलन की विफलता को स्वीकार करते हुए कम्युनिज्म की वकालत करता हुआ-सा एक भाषण दिया। सी.पी. बरार

दौरे का सारांश प्रस्तुत करते हुए रिपोर्ट में कहा गया कि सनातनी तत्वों का विरोध उत्तरोत्तर जोर पकड़ रहा है और गांधी की स्थिति निरंतर कमजोर पड़ती जा रही है।

दिल्ली में तीन सनातनियों ने गांधी की कार पर काला झंडा फेंका, जिससे काफी खलबली मची। रिपोर्ट में कहा गया कि गांधी ने कांग्रेस का पूरा कंट्रोल जवाहरलाल नेहरू को सौंप दिया लगता है। मद्रास में जब गांधी पहुँचे तो उनके स्वागत के लिए एस. सत्यमूर्ति और टी.प्रकाशम नहीं आए। पुरी के शंकराचार्य ने उन्हें मंदिर प्रवेश पर शास्त्रार्थ के लिए ललकारा, लेकिन गांधी ने उनकी तरफ ध्यान नहीं दिया। बंगलौर की आस्तिक महाजन सभा में एक प्रस्ताव पास किया गया, जिसमें मैसूर सरकार से प्रार्थना की गई थी कि वह हिंदू धर्म में तोड़-फोड़ करने वाले इस अभियान से उनकी रक्षा करें। दक्षिण कैनरा और बेलारी की रिपोर्ट में कहा गया कि कांग्रेस को इस दौरे से फायदा कुछ नहीं होगा, नुकसान ही होगा। बेलगाम में वर्णाश्रम स्वराज संघ ने नगरपालिका के अध्यक्ष को नोटिस दिया कि गांधी को मानपत्र देने के लिए जनता का पैसा क्यों खर्च किया जा रहा है।

७ अप्रैल, १९३४ को गांधी जी ने पटना से सिविल नाफरमानी आंदोलन को स्थगित करने की घोषणा प्रेस में की। आसाम में चाय बागानों के मजदूरों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किए जाने पर उन्होंने दुख प्रकट किया और कहा कि यदि आसामी कर्मठ होते तो इन मजदूरों को यहाँ लाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। बिहार में सनातनी प्रदर्शनकारियों के संबंध में रिपोर्ट में कहा गया कि वे मंदिर के पंडों और बनारस के एक स्वामी द्वारा प्रशिक्षित शरारती तत्वों का गिरोह थे। उड़ीसा (पुरी) में पुरी के राजा तथा महंत अमरनाथ ने एक सभा की, जिसमें गांधी को पाखंडी, धोखेबाज और हिंदू धर्म का शत्रु कहा गया। सनातनियों ने एक पुस्तक भी बाँटीं । इसका शीर्षक था 'असली गांधी' और इसमें गांधी की भरपूर निंदा की गई थी। कटक में एक रोचक प्रसंग घटा। सिविल सर्जन ने गांधी जी के स्वास्थ्य की जांच करने की पेशकश की, क्योंकि कमिश्नर ने कहा था, उनकी तबीयत ठीक नहीं है। गांधी जी ने अपनी व्यस्तता का कारण देते हुए उन्हें अलगे दिन आने को कह कर टाल दिया। कटक की एक सभा में एक सनातनी स्वामी गांधी से बहस करने के लिए अड़ गया। गांधी ने उसे बोलने का मौका दिया और फिर जब उनके जबाव देने की बारी आई तो इतना कह कर अपना भाषण समाप्त कर दिया कि चंदा बहुत कम आया। उड़ीसा में एक स्थान (तुरंग) पर हरेकृष्ण मेहताब ने गांधी के साथ आए लोगों के लिए भोजन बनाने का काम कुछ स्थानीय ब्राह्मणों को सौपा था, लेकिन उन्होंने इन्कार कर दिया। कई स्थानों पर तो गांधी जी को सभा भी नहीं करने दी गई और ऐन मौके पर सभा स्थान बदलना पड़ा। सदाव्रत मठ के महंत ने गांधी की सभा में जाने वाले पनवाड़ियों को आत्मशुद्धि करने पर मजबूर किया।

पूना में राजाराम त्र्यंबक कुलकर्णी के नेतृत्व में सनातनियों ने गांधी को काले झंडे

दिखाए। एन.सी. केलकर ने गांधी जी की अगवानी की। एक सभा में गांधी जी ने कांग्रेसियों से कहा कि उन्हें समान मुद्दों पर सोशलिस्टों का समर्थन करना चाहिए। २५ जून को विश्राम बाग के निकट एल.बी.भोपटकर की कार को गांधी की कार समझ कर सनातनियों ने बम फेंका जिसमें भोपटकर सहित सात लोग जख्मी हुए। कामशेर स्टेशन पर उस रेलगाड़ी को भी गिराने की कोशिश की गई जिससे गांधी जी जा रहे थे। यहाँ के जिला पुलिस सुपरिटेंडेंट ने रिपोर्ट में लिखा : 'राजनैतिक व्यक्ति के रूप में तो नहीं, किंतु अपनी उम्र, सादगी और व्यक्तित्व के कारण जनता में उनकी प्रतिष्ठा बनी हुई है। उन्होंने सनातनियों को, जो एक समय उनके समर्थक थे, गहरा आघात पहुँचाया है। कम्युनल अवार्ड के प्रति अपने रुख से उन्होंने हिंदुओं के बहुत बड़े तबके को नाराज कर दिया है। मुसलमान भी उनसे खफा हैं। छात्र-वर्ग उन्हें गैर प्रगतिशील मानता है और हरिजन भी उनसे अप्रसन्न हैं।'

अहमदाबाद की एक सभा में (जिसे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने आयोजित किया था) गांधी जी ने कहा कि उन्हें निश्चय ही इस बात से खुशी होगी, यदि सोशलिस्ट मजबूत होकर कांग्रेस को अपने अधिकार में ले लें। सक्खर (सिंध) में एक सनातनी ने कुल्हाड़ी लेकर गांधी से मिलने की कोशिश की, जिसे पुलिस ने रोक दिया। शिकारपुर के सनातनियों ने भी अस्पृश्यता के खिलाफ गांधी के अभियान को हिंदू धर्म विरोधी कह कर प्रचारित किया। कानपुर की आर्य प्रतिनिधि सभा को छोड़कर कहीं भी आर्य समाजियों ने गांधी को समर्थन नहीं दिया, हालाँकि जो काम वे कर रहे थे, वह स्वामी दयानंद का ही काम था। आर्य समाजी सनातानियों के आगे पूरी तरह नतमस्तक हो गए थे, हालाँकि दयानंद का घोर विरोध भी सनातनियों ने ही किया था।

इस देशव्यापी दौरे में गांधी जी को लगभग ८ लाख रूपए चंदे के रूप में मिले। इस चंदा-उगाही में उन्हें बहुत कृपण और कभी-कभी निर्दय भी होना पड़ा। मिसाल के तौर पर उन्होंने बच्चों के गले में लटके लाकेट और महिलाओं के मंगलसूत्र तथा चूड़ियाँ भी उतरवाईं, जिसके लिए उनकी कटु आलोचना हुई। किंतु वे निस्पृह भाव से अपने काम में लगे रहे।

गांधी जी का यह अस्पृश्यता उन्मूलन अभियान जाति व्यवस्था को तोड़ने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस अभियान ने लोगों के दिल में जमी छुआछूत और शौच-अशौच की भावना को काफी हद तक दूर किया। मदनमोहन मालवीय जैसे सनातनी ने हिंदू समाज को छुआछूत से मुक्त करने का आह्वान किया। अब गाँवों तथा शहरों में कुछ पोंगापंथी लोग ही छुआछूत मानते हैं। इसी अभियान के प्रभाव से संविधान में अस्पृश्यता के उन्मूलन का प्रावधान हुआ। अस्पृश्यता जाति व्यवस्था का सबसे भयानक रूप है। यह एक मानसिक रोग है। इस मानसिक रोग का उपचार किए बिना जाति व्यवस्था के टूटने की कल्पना नहीं की जा सकती। गांधी ने इस मानसिक ग्रंथि को तोड़ा। इससे पूर्व उन्नीसवीं

सदी में स्वामी दयानंद के समय भी एक मानसिक ग्रंथि थी कि जाति ईश्वरकृत है और वेद-सम्मत है। स्वामी दयानंद ने जाति को वेद-विरुद्ध कह कर सदियों से चली आ रही मानसिक गुलामी को तोड़ दिया। आर्य समाज के आंदोलन ने अद्विज जातियों के मन में बैठा हुआ यह भय निकाल दिया कि यह ईश्वरीय व्यवस्था है। गांधी जी ने सदियों पुराने संस्कारों पर प्रहार किया।

सामाजिक न्याय जाति व्यवस्था के ढाँचे को तोड़ सकता है। यह ढाँचा अब टूट भी रहा है। लेकिन जब तक लोगों के मन नहीं बदलेंगे, जाति व्यवस्था का अस्तित्व बना रहेगा। मन को बदलने का काम उन्नीसवीं सदी में दयानंद ने और बीसवीं सदी में गांधी ने किया। इन दोनों को नकार कर जाति व्यवस्था के विनाश की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

पुना पैक्ट दलित गुलामी का दस्तावेज

एस.आर. दारापुरी

भारतीय हिन्दू समाज में जाति को आधारशिला माना गया है। इस में श्रेणीबद्ध असमानता के ढांचे में अछूत सबसे निचले स्तर पर हैं जिन्हें १९३५ तक सरकारी तौर पर 'डिप्रेस्ड क्लासेज' कहा जाता था। गांधी जी ने उन्हें 'हरिजन' के नाम से पुरस्कृत किया था जिसे अधिकतर अछूतों ने स्वीकार नहीं किया था जब उन्होंने अपने लिए 'दलित' नाम स्वयं चुना है। जो उनकी पददलित स्थिति का परिचायक है। वर्तमान में वे भारत की कुल आबादी का लगभग छठा भाग (१६.२० प्रतिशत) तथा कुल हिन्दू आबादी का पांचवा भाग (२०.१३ प्रतिशत) है। अछूत सदियों से हिन्दू समाज में सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व शैक्षित अधिकारों से वंचित रहे हैं और काफी हद तक आज भी हैं।

दलित कई प्रकार की वंचनाओं एवं निर्योग्यताओं को झेलते रहे हैं। उनका हिन्दू समाज एवं राजनीति में बराबरी का दर्जा पाने के संघर्ष का एक लम्बा इतिहास रहा है। जब श्री. ई.एस. मान्तेग्यु, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया, ने पार्लियामेंट में १९१७ में यह महत्वपूर्ण घोषणा की कि अंग्रेजी सरकार का अंतिम लक्ष्य भारत को डोमिनियन स्टेट्स देना है तो दलितों ने बम्बई में दो मीटिंगें कर के अपना मांग पत्र वाइसराय तथा भारत भ्रमण पर भारत आये सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया को दिया। परिणामस्वरूप निम्न जातियों को विभिन्न प्रान्तों में अपनी समस्यायों को १९१९ के भारतीय संवैधानिक सुधारों के पूर्व भ्रमण कर रहे कमीशन को पेश करने का मौका मिला।

तदोपरांत विभिन्न कमिशनों, कार्फ्रेंसों एवं कौंसिलों का एक लम्बा एवं जटिल सिलसिला चला। सन् १९१८ में मान्तेग्यु चौमस्फोर्ड रिपोर्ट के बाद १९२४ में मद्दीमान कमेटी रिपोर्ट आई जिसमें कौंसिलों में डिप्रेस्ड क्लासेज के अति अल्प प्रतिनिधित्व और उसे बढ़ाने के उपायों के बारे में बात कहीं गयी। साईमन कमीशन (१९२८) ने स्वीकार किया कि डिप्रेस्ड क्लासेज को पर्याप्त प्रातिनिधित्व दिया जाना चाहिए। सन् १९३० से १९३२ एक लन्दन में तीन गोलमेज कान्फ्रेंसें हुयीं जिन में अन्य अल्प संख्यकों के साथ साथ दलितों के भी भारत के भावी संविधान के निर्माण में अपना मत देने के अधिकार को मान्यता मिली। यह एक ऐतहासिक एवं निर्णयकारी परिघटना थी। इन गोलमेज कांफ्रेंसों में डॉ. बी. आर. आंबेडकर तथा राव बहादुर आर. श्रीनिवासन के दलितों के प्रभावकारी

प्रतिनिधित्व एवं जोरदार प्रस्तुति के कारण १७ अगस्त, १९३२ को ब्रिटिश सरकार द्वारा घोषित 'कमिनुअल अवार्ड' में पृथक निर्वाचन का स्वतन्त्र राजनीतिक अधिकार मिला। इस अवार्ड से दलितों को आरक्षित सीटों पर पृथक निर्वाचन द्वारा अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने का अधिकार मिला और साथ ही सामान्य जाति के निर्वाचन क्षेत्रों में सवर्णों को चुनने हेतु दो वोट का अधिकार भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार भारत के इतिहास में अछूतों को पहली बार राजनैतिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त हुआ जो उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता था।

उक्त अवार्ड द्वारा दलितों को गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, १९१९ में अल्प संख्यकों के रूप में मिली मान्यता के आधार पर अन्य अल्प संख्यकों-मुसलमानों, सिक्खों, ऐंग्लो इंडियनज़ तथा कुछ अन्य के साथ साथ पृथक निर्वाचन के रूप में प्रांतीय विधायकाओं एवं केन्द्रीय एसेम्बली हेतु अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने का अधिकार मिला तथा उन सभी के लिए सीटों की संख्या निश्चित की गयी। इसमें अछूतों के लिए ७८ सीटें विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के रूप में आरक्षित की गयीं।

गाँधी जी ने उक्त अवार्ड की घोषणा होने पर यरवदा (पूना) जेल में १८ अगस्त, १९३२ को दलितों को मिले पृथक निर्वाचन के अधिकार के विरोध में २० सितम्बर, १९३२ से आमरण अनशन करने की घोषणा कर दी। गाँधी जी का मत था कि इससे अछूत हिन्दू समाज से अलग हो जायेंगे जिससे हिन्दू समाज व हिन्दू धर्म विघटित हो जायेगा। यह ज्ञातव्य है कि उन्होंने मुसलमानों, सिक्खों व ऐंग्लो-इंडियनज़ को मिले उसी अधिकार का कोई विरोध नहीं किया था। गांधी जी ने इस अंदेशे को लेकर १८ अगस्त, १९३२ को तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री, श्री रेम्जे मैंकडोनाल्ड को एक पत्र भेज कर दलितों को दिए गए पृथक निर्वाचन को समाप्त करके संयुक्त मताधिकार की व्यवस्था करने तथा हिन्दू समाज को विघटन से बचाने की अपील की जिसके उत्तर में ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अपने पत्र दिनांकित ८ सितम्बर, १९३२ में अंकित किया, 'ब्रिटिश सरकार की योजना के अंतर्गत दलित वर्ग हिन्दू समाज के अंग बने रहेंगे और वे हिन्दू निर्वाचन के लिए समान रूप से मतदान करेंगे, परन्तु ऐसी व्यवस्था प्रथम २० वर्षो तक रहेगी ताकि हिन्दू समाज का अंग रहते हुए उनके लिए सीमित संख्या में विशेष निर्वाचन क्षेत्र होंगे जिसमें उनके अधिकारों और हितों की रक्षा हो सके। वर्तमान स्थिति में ऐसा करना नितांत आवश्यक हो गया है। जहाँ जहाँ विशेष निर्वाचन क्षेत्र होंगे वहां वहां सामान्य हिन्दुओं के निर्वाचन क्षेत्रों में दलित वर्गों को मत देने से वंचित नहीं किया जायेगा। इस प्रकार दलितों के लिए दो मतों का अधिकार होगा-एक विशेष निर्वाचन क्षेत्र के अपने सदस्य के लिए और दूसरा हिन्दू समाज के सामान्य सदस्य के लिए हम ने जानबूझ कर- जिसे आप ने अछूतों के लिए सम्प्रदायिक निर्वाचन कहा है, उसके विपरीत फैसला दिया है। दलित वर्ग के मतदाता सामान्य अथवा

हिन्दू निर्वाचन क्षेत्रों में सवर्ण उम्मीदवार को मत दे सकेंगे तथा सवर्ण हिन्दू मतदाता दलित वर्ग के उमीदवार को उसके निर्वाचन क्षेत्र में मतदान कर सकेंगे। इस प्रकार हिन्दू समाज की एकता को सुरक्षित रखा गया है।' कुछ अन्य तर्क देने के बाद उन्होंने गाँधी जी से आमरण अनशन छोड़ने का आग्रह किया था।

परन्तु गाँधी जी ने प्रत्युत्तर में आमरण अनशन को अपना पुनीत धर्म मानते हुए कहा कि दलित वर्गों को केवल दोहरे मतदान का अधिकार देने से उन्हें तथा हिन्दू समाज को छिन्न-भिन्न होने से नहीं रोका जा सकता। उन्होंने आगे कहा, 'मेरी समझ में दलित वर्ग के लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था करना हिन्दू धर्म को बर्बाद करने का इंजेक्शन लगाना है। इस से दलित वर्गो का कोई लाभ नहीं होगा।' गाँधी जी ने इसी प्रकार के तर्क दूसरी और तीसरी गोल मेज कांफ्रेंस में भी दिए थे जिसके प्रत्युत्तर में डॉ. आंबेडकर ने गांधी जी के दलितों के भी अकेले प्रतिनिधि और उनके शुभ चिन्तक होने के दावे को नकारते हुए उनसे दलितों के राजनीतिक अधिकारों का विरोध न करने का अनुरोध किया था। उन्होंने यह भी कहा था कि फिलहाल दलित केवल स्वतन्त्र राजनीतिक अधिकारों की ही मांग कर रहे हैं न कि हिन्दुओं से अलग हो अलग देश बनाने की । परन्तु गाँधी जी का सवर्ण हिन्दुओं के हित को सुरक्षित रखने और अछूतों का हिन्दू समाज का गुलाम बनाये रखने का स्वार्थ था। यही कारण था कि उन्होंने सभी तथ्यों व तर्को को नकारते हुए २० सितम्बर १९३२ को अछूतों के पृथक निर्वाचन के अधिकार के विरुद्ध आमरण अनशन शुरू कर दिया। यह एक विकट स्थिति थी। एक तरफ गाँधी जी के पक्ष में एक विशाल शक्तिशाली हिन्दू समुदाय था, दूसरी तरफ डॉ. आंबेडकर और अछूत समाज। अंततः भारी दबाव एवं अछूतों के संभव जनसंहार के भय से गाँधी जी की जान बचाने के उद्देश्य से डॉ. आंबेडकर तथा उनके साथियों को दलितों के पृथक निर्वाचन के अधिकार की बलि देनी पड़ी और सवर्ण हिन्दुओं से २४ सितम्बर, १९३२ को तथाकथित पूना पैक्ट करना पड़ा। इस प्रकार अछूतों को गाँधी जी की जिद्द के कारण अपनी राजनैतिक आजादी के अधिकार को खोना पड़ा।

यद्यपि पूना पैक्ट के अनुसार दलितों के लिए 'कम्युनल अवार्ड' में सुरक्षित सीटों की संख्या बढ़ा कर ७८ से १५१ हो गयी परन्तु संयुक्त निर्वाचन के कारण उनसे अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने का अधिकार छिन गया जिसके दुष्परिणाम आज तक दलित समाज झेल रहा है। पूना पैक्ट के प्रावधानों को गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट,१९३५ में शामिल करने के बाद सन् १९३७ में प्रथम चुनाव संपन्न हुआ जिसमें गाँधी जी के दलित प्रतिनिधियों को कांग्रेस द्वारा कोई भी दखल न देने के दिए गए आश्वासन के बावजूद कांग्रेस ने १५१ में से ७८ सीटें हथिया लीं क्योंकि संयुक्त निर्वाचन प्रणाली में दलित पुनः सवर्ण वोटों पर निर्भर हो गए थे। गाँधी जी और कांग्रेस के इस छल से खिन्न होकर डॉ. आंबेडकर ने कहा था, 'पूना पैक्ट में दलितों के साथ बहुत बड़ा धोखा हुआ है।'

कम्युनल अवार्ड के माध्यम से अछूतों को जो पृथक निर्वाचन के रूप में अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने और दोहरे वोट के अधिकार से सवर्ण हिन्दुओं की भी दलितों पर निर्भरता से दलितों का स्वंतत्र राजनीतिक अस्तित्व सुरक्षित रह सकता था परन्तु पूना पैक्ट करने की विवशता ने दलितों को फिर से सवर्ण हिन्दुओं का गुलाम बना दिया। इस व्यवस्था से आरक्षित सीटों पर जो सांसद या विधायक चुने जाते हैं वे वास्तव में दलितों द्वारा न चुने जा कर विभिन्न राजनैतिक पार्टियों एवं सवर्णों द्वारा चुने जाते हैं जिन्हें उन का गुलाम या बंधुआ बन कर रहना पड़ता है। सभी राजनैतिक पार्टियाँ गुलाम मानसिकता वाले ऐसे प्रतिनिधियों पर कड़ा नियंत्रण रखती हैं और पार्टी लाइन से हट कर किसी भी दलित मुद्दे को उठाने या बोलने की इजाजत नही देती। यही कारण है कि लोकसभा तथा विधान सभाओं में दलित प्रतिनिधियों की स्थिति महाभारत के भीष्म पितामह जैसी रहती है जिस ने यह पूछने पर कि 'जब कौरवों के दरबार में द्रोपदी का चीर हरण हो रहा था तो आप क्यों नहीं बोले?' इस पर उन का उत्तर था, 'मैंने कौरवों का नमक खाया था।'

वास्तव में कम्युनल अवार्ड से दलितों को स्वंतत्र राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए थे जिससे वे अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने के लिए सक्षम हो गए थे और वे उनकी आवाज बन सकते थे। इस के साथ ही दोहरे वोट के अधिकार के कारण सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में सवर्ण हिन्दू भी उन पर निर्भर रहते और दलितों को नाराज करने की हिम्मत नहीं करते। इस से हिन्दू समाज में एक नया समीकरण बन सकता था जो दलित मुक्ति का रास्ता प्रशस्त करता। परन्तु गाँधी जी ने हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म के विघटित होने की झूठी दुहाई दे कर तथा आमरण अनशन का अनैतिक हथकंडा अपना कर दलितों की राजनीतिक स्वतंत्रता का हनन कर लिया जिस कारण दलित सवर्णों के फिर से राजनीतिक गुलाम बन गए। वास्तव में गाँधी जी की चाल काफी हद तक राजनीतिक भी थी जो कि बाद में उनके एक अवसर पर सरदार पटेल को कहीं गयी इस बात से भी स्पष्ट है–

'अछूतों के अलग मताधिकार के परिणामों से मैं भयभीत हो उठता हूँ। दूसरे वर्गो के लिए अलग निर्वाचन अधिकार के बावजूद भी मेरे पास उनसे सौदा करने की गुंजाइश रहेगी परन्तु मेरे पास अछूतों से सौदा करने का कोई साधन नहीं रहेगा। वे नहीं जानते कि पृथक निर्वाचन हिन्दुओं को इतना बाँट देगा कि उसका अंजाम खून खराबा होगा। अछूत गुंडे मुसलमान गुंडों से मिल जायेंगे और हिन्दुओं को मारेंगे। क्या अंग्रेजी सरकार को इस का कोई अंदाजा नहीं है? मैं ऐसा नहीं सोचता।' (महादेव देसाई, डायरी, पृष्ठ ३०१, प्रथम खंड)

गांधी जी के इस सत्य कथन से आप गाँधी जी द्वारा अछूतों को पूना पैक्ट के लिए बाध्य करने के असली उद्देश्य का अंदाजा लगा सकते हैं।

दलितों की संयुक्त मताधिकार व्यवस्था के कारण सवर्ण हिन्दुओं पर निर्भरता के

कारण दलितों की कोई भी राजनैतिक पार्टी पनप नहीं पा रही है चाहे वह डॉ. आंबेडकर द्वारा स्थापित रिपब्लिकन पार्टी ही क्यों न हो। इसी कारण डॉ. आंबेडकर को भी दो बार चुनाव में हार का मुंह देखना पड़ा क्योंकि आरक्षित सीटों पर भी सवर्ण वोट ही निर्णायक होता है। इसी कारण सर्वण पार्टियाँ ही अधिकतर आरक्षित सीटें जीतती हैं। पूना पैक्ट के इन्हीं दुष्परिणामों के कारण ही डॉ. आंबेडकर ने संविधान में राजनैतिक आरक्षण को केवल १० वर्ष तक ही जारी रखने की बात कहीं थी। परन्तु विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ इसे दलितों के हित में नहीं बल्कि अपने स्वार्थ के लिए अब तक लगातार १०-१० वर्ष तक बढ़ाती चली आ रही हैं क्योंकि इस से उन्हें अपने मनपसंद और गुलाम सांसद और विधायक चुनने की सुविधा रहती है।

सर्वण हिन्दू राजनीतिक पार्टियाँ दलित नेताओं को खरीद लेती हैं और दलित पार्टियाँ कमजोर हो कर टूट जाती हैं। यही कारण है कि उत्तर भारत में तथाकथित दलितों की कही जाने वाली बहुजन समाज पार्टी भी ब्राह्मणों और बनियों के पीछे घूम रही है और 'हाथी नहीं गणेश है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश है' जैसे नारों को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। अब तो उसका रूपान्तरण बहुजन से सर्वजन में हो गया है। इन परिस्थितियों के कारण दलितों का बहुत अहित हुआ है वे राजनीतिक तौर पर सवर्णों के गुलाम बन कर रह गए हैं। अतः इस सन्दर्भ में पूना पैक्ट के औचित्य की समीक्षा करना समीचीन होगा। क्या दलितों को पृथक निर्वाचन की मांग पुनः उठाने के बारे में नहीं सोचना चाहिए?

यद्यपि पूना पैक्ट की शर्तो में छुआ-छूत को समाप्त करने, सरकारी सेवाओं में आरक्षण देने तथा दलितों की शिक्षा के लिए बजट का प्रावधान करने की बात थी परन्तु आजादी के ६५ वर्ष बाद भी उनके किर्यान्वियन की स्थिति दयनीय ही है। डॉ. आंबेडकर ने अपने इस अंदेशों को पूना पैक्ट के अनुमोदन हेतु बुलाई गयी २५ सितम्बर, १९३२ को बम्बई में सवर्ण हिन्दुओं की बहुत बड़ी मीटिंग में व्यक्त करते हुए कहा, 'हमारी एक ही चिंता है। क्या हिन्दुओं की भावी पीढ़ियां इस समझौते का अनुपालन करेंगी?' इस पर सभी सवर्ण हिन्दुओं ने एक स्वर में कहा था, 'हाँ हम करेंगे'। डॉ. आंबेडकर ने यह भी कहा था, 'हम देखते हैं कि दुर्भाग्यवश हिन्दू सम्प्रदाय एक संगठित समूह नहीं है बल्कि विभिन्न सम्प्रदायों की फेडरेशन है। मैं आशा और विश्वास करता हूँ कि आप अपनी तरफ से इस अभिलेख को पवित्र मानेंगे तथा एक सम्मानजनक भावना से काम करेंगे।' क्या आज सवर्ण हिन्दुओं को अपने पूर्वजों द्वारा दलितों के साथ किये गए इस समझौते को ईमानदारी से लागू करने के बारे में थोड़ा बहुत आत्म चिंतन नहीं करना चाहिए। यदि वे इस समझौते को ईमानदारी से लागू करने में अपना अहित देखते हैं तो क्या उन्हें दलितों के पृथक निर्वाचन का राजनैतिक अधिकार लौटा नहीं देना चाहिए?

n

जाति उन्मूलन की आवश्यकता

डॉ. शीलरत्न

भारत में जाति-पांति, ऊंच-नीच और छुआछूत की व्यवस्था आज की नहीं बल्कि बहुत अधिक पुरानी है। अनेक सुधारकों ने इसे दूर करने की कोशिश की फिर भी वह अपने स्थान पर कायम है। जाति व्यवस्था का मूल कारण है अज्ञान। दूसरा कारण है प्राचीन रूढ़िवाद पर स्थिर रहना और तीसरा कारण है निम्न वर्ग के लोगों का धनहीन होना। आज के वैज्ञानिक युग में इसे मिटाने की आवश्यकता है। नहीं तो यह देश छिन्न-भिन्न ही रहेगा। सन् १९४७ की आजादी के बाद भी यह व्यवस्था अब तक समाप्त न हो सकी। इसके मुख्य कारण हैं हमारे वर्तमान नेतागण, जो पुरानी रूढ़िवादी परंपराओं को न समाप्त कर सके बल्कि स्वयं उन्हीं परंपराओं को मानते चले आए और उन्हीं पर स्थिर हैं। इस जाति-व्यवस्था को तोड़ने के लिए पूर्ण दृढ़ता, तीव्र बुद्धि, पूर्ण मानसिक शक्ति, सुदृढ़ सामूहिक बल और संपूर्ण क्रांति चाहिए।

भारतीय वर्ण-व्यवस्था रंग-भेद और जन्म-भेद के आधार पर है। इस वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण का श्वेत वर्ण, क्षत्रियों का लोहित वर्ण, वैश्यों का पीतवर्ण माना गया है और शूद्रों का काला या भूरा। यदि सामाजिक या मानवीय एकता लानी है तो सदियों पुरानी भारतीय वर्ण-व्यवस्था या रंग-भेद को समाप्त कर देना पड़ेगा और पूर्ण रूपेण एक नयी व्यवस्था बनानी पड़ेगी। मानव मात्र का एक धर्म मानना पड़ेगा, स्त्री को एक जाति और पुरुष को दूसरी जाति।

इस समय सारे संसार में अनेक प्रकार की जातियां हैं और इन्हें समाप्त होना ही है। संसार के सभी देशों में यह जाति-प्रथा बड़ी तेजी से या तो समाप्त कर दी गई है या धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। सबसे बड़ा उदाहरण रूस, चीन इत्यादि साम्यवादी देशों का है। सन् १९१७ की खूनी क्रांति के बाद रूस में नाना प्रकार के परिवर्तन हुए। जात-पांत आदि की मानवीय विषमता समाप्त कर दी गई। रूस का सामाजिक ढांचा एकदम बदल गया। वहां के लोगों ने कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चलकर रूढ़िवादी पुरानी सामाजिक प्रथाओं का और राजनीतिक क्षेत्र में फैली हुई सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का अंत करके एक नवीनता का वातावरण अपनाया। रूस के अलावा सारे साम्यवादी देशों में ऐसा ही हुआ।

कल-कारखाने, कृषिफार्म, पाठशालाएं, अस्पताल, मजदूर संगठन, वैज्ञानिक शोध केंद्र, उत्तमकला केंद्र इत्यादि समस्त मानव कल्याण और माननीय सुख-शांति के लिए स्थापित किए गए।

भारतीय जातियों की रचना भी प्रायः अर्थ के आधार पर हुई प्रतीत होती है। जिस समूह ने जैसा व्यवसाय अपनाया उसे वैसी ही एक जाति मान लिया गया। समय परिवर्तन के अनुरूप तमाम प्रकार की जातियां बनती चली गयीं। ऊंच-नीच इत्यादि का आधार अर्थ देखा जाता है। भारतवर्ष में धनी वर्ग ने इन जातियों के विघटन का लाभ उठाया और समाज को विघटित करने में ही अपना आर्थिक लाभ समझा। अतः धनहीन इकाइयों को अपनी उन्नति के लिए एक होना पड़ेगा। यदि धनहीन इकाइयां एक नहीं होतीं तो जातिवाद और छुआछूत कभी समाप्त नहीं होगा। आज सरकार जाति के नाम पर रिजर्वेशन देती है वह भी आज के अछूतों को और अछूत बनाना है। इन जातियों को केवल अपनी बुद्धि बल और शक्ति से आगे बढ़ना है। यह आज का मूल प्रश्न है कि यह सामाजिक विषमता क्यों हैं?

असली बात यह है कि प्राचीन परंपराओं का बहाना लेकर हिन्दू समाज के धनी वर्ग ने धनहीन वर्ग का सभी प्रकार से शोषण किया और निम्न जाति की निर्बल औरतों को अपनी भोग-विलास की सामग्री बनाया। धार्मिक प्रलोभन देकर स्वर्ग का झूठा रास्ता दिखाया। भारत के राजा रजवाड़े इसके प्रमुख उदाहरण हैं। वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति धन के प्रलोभन से धनी वर्ग द्वारा हुई। स्त्रियों को अपढ़ रखा गया ताकि धनी वर्ग उन्हें अपनी सेवा में लगा सकें। जन्मजात ब्राह्मणों को समाज का नेता बनाया गया और उनके द्वारा सारा का सारा नाटक रचा गया। भारत के प्राचीन नगरों ,मंदिरों में अनेक अप्सराएं और दास-दासियां रखी जाती थीं। जिनके साथ स्वच्छंद भाव से मनचाहा आनंद मनाया जाता था। यह सब व्यभिचार धनी वर्ग द्वारा किया गया और किया जाता है। मंदिरों को धनी वर्ग से सहायता मिलती है।

हिन्दू धर्म में ही नहीं अन्य धर्मों में भी ऐसा ही देखा जाता है। ईसाई धर्म में पोपों की लीला और उनके द्वारा स्वर्ग के टिकट बेचना प्रसिद्ध था। रोम में अगणित धार्मिक हत्याएं हुई। आयरलैंड जैसे देश में भी धार्मिक दंगे हुए। भारत की अधिकांश जनता नाना देवी-देवताओं पर विश्वास करती है। किन्तु वैज्ञानिक बातों को समझने में अपनी बुद्धि नहीं लगाती। जब तक इस प्रकार के अंधविश्वास चलते रहेंगे तब तक सामाजिक विषमता दूर नहीं हो सकती।

इन सब बातों के पीछे किसका हाथ है, बुद्धि पर जोर देकर इसे समझना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में 'धनी वर्ग' ही निकलेगा। धनी वर्ग और धनी होता चला जाएगा तथा धनहीन व्यक्तियों में अनेक प्रकार से विषमता लाने का प्रयास करेगा जैसा कि भूतकाल में

किया गया। भारत में पूंजीवाद को बढ़ावा दिया जा रहा है। पिछड़ी हुई अछूत जातियों को थोड़ा बहुत धन का लालच देकर जैसे का तैसा रहने को विवश किया जा रहा है।

आज का युग हमें सिखाता है कि हमें एकता से रहना चाहिए और छुआछूत की भावना को सक्रिय रूप से मिटा देना चाहिए। हमारी सामाजिक विषमता उसी समय दूर हो सकती है, जब हम मनुष्यता की भावना को समझने का प्रयास करेंगे। आर्थिक दृष्टि से हम नीचे गिरते जा रहे हैं। जिस समय आर्य लोगों ने भारत को जीता होगा, उस समय हमारे हारे हुए समाज की क्या स्थिति रही होगी। प्रत्येक घर में एक प्रकार का मातम-सा छाया होगा।

उस समय आर्य विजेता हुए और सब ओर उनका बोलबाला हुआ। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि विजेता व्यक्तियों में उत्तम होने की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसलिए आर्यों ने अपने को उत्तम ठहराया और सर्वोपरि ब्राह्मण वर्ग प्रसिद्ध किया। जिन जातियों ने ब्राह्मण का पक्ष लिया और शस्त्र आदि से उनकी सहायता की, उन्हें 'क्षत्रिय' की उपाधि दी। जिन लोगों ने ब्राह्मणों को धन दिया उनको वैश्य की उपाधि दी। इसके अतिरिक्त जो लोग धन आदि से किसी प्रकार की सहायता न कर सके उन्हें शूद्र कहकर बलपूर्वक सेवा का कार्य सौंपा गया और विभिन्न प्रकार की यातनाएं दी गयीं। उस समय विजित और विजेता की भावना लोगों के दिलों में घर कर गयी थी। एक सामाजिक हलचल सी फैली हुई थी। ब्राह्मणों के विरूद्ध अनेक प्रकार की भावनाएं उत्पन्न की जाती थीं जिसका एक उदाहरण राम-रावण युद्ध है। रावण ब्राह्मणों को त्रास देता और उनके यज्ञों को भंग करता था। परंतु क्षत्रिय 'रामचंद्र' ने रावण के संहार और ब्राह्मणी धर्म की रक्षा का कार्य किया। उस समय सारी राजनैतिक क्रियाएं एक-दूसरे के विरूद्ध कार्य कर रही थीं। जैसे कि आज कोरिया, वियतनाम, पाकिस्तान और भारत में है। उस समय का भारत दो क्षेत्रों में बंट गया था। उत्तर में विंध्याचल पर्वत तक आर्य लोग अपनी धाक जमाए थे, दक्षिण में द्रविड़ लोग अपनी धाक जमाए थे। आर्यों ने दक्षिण के रहने वालों को राक्षस सा शूद्र संज्ञा दी, जिसे द्रविड़ लोग स्वीकार करना नहीं चाहते थे। छल-कपट इत्यादि सारी राजनीतिक क्रियाओं से आर्य लोग द्रविड़ों के विरुद्ध कार्य कर रहे थे। जैसे भारत की स्वतंत्रता के समय देश दो भागों में विभाजित हुआ एक पाकिस्तान दूसरा भारत। उसी समय डॉ. बाबा साहब भीमराव आम्बेडकर, जो दलितों के मसीहा कहलाते हैं, ने अपना भी एक अलग अछूतस्तान बनाने की मांग उठायी तब गांधी जी जैसी मीठी छुरी ने इक्कीस दिन का आमरण उपवास रखकर बाबा साहब की मांग का विरोध किया। कारण जब अछूत अलग हो जाएंगे तो हिन्दू धर्म की चौकड़ी टूट जाएगी। और वर्ण भेद पर आघात होगा। इसके सिवाए दूसरा कोई कारण नहीं था। आप कहेंगे कि उन्होंने तो हरिजनों की सेवा की। परंतु मैं कहूंगा कि यह सब नाटक था। अपने जीवन में गांधी ने कभी हरिजनों का खाना तक नहीं खाया। इसके लिए बाबा साहब की पुस्तक 'अछूतों के लिए गांधी ने क्या किया' पढ़ो। उससे सभी बातों का खुलासा होगा।

इसी कारण बाबा साहब आम्बेडकर और गांधी में विरोध था। आज भी आए दिन अछूतों पर अत्याचार होते रहते हैं परंतु हमारी सरकार उसके लिए कुछ भी नहीं कर पाती। खाली कानून में जातीयता मिटाने से कुछ नहीं होगा। कोई भी कार्य दो प्रकार के होते हैं-एक थ्यौरी वाले और दूसरे प्रैक्टीकल। तो आज हमें प्रैक्टीकल की जरूरत है थ्यौरी की नहीं। खाली जाति तोड़ो कहने से काम नहीं चलेगा। उसके लिए एक ऐसा आंदोलन चलाना होगा कि जहां कहीं अछूतों पर अत्याचार या छुआछूत का व्यवहार हो वहां जाकर इसकी खिलाफत करना, देश के देहातों में जाकर जातिवाद के समर्थकों से संघर्ष करना। यह कार्य होना चाहिए।

१९३६ में जाति तोड़क मंडल ने भी एक सम्मेलन करने का इरादा किया जिसके अध्यक्ष थे संतराम बी.ए. । उन्होंने बाबा साहब को भाषण के लिए लिखा। बाबा साहब ने भाषण लिख्कर प्रिंट कराया परंतु वह भाषण इस मंडल ने पढ़ा तो उनके होश गुम हो गए। तब उन्होंने न सम्मेलन किया न भाषण पढ़वाया। वह नाटक आज तक वैसा ही अधूरा पड़ा है। हमें बाबा साहब का वह प्रश्न जो स्वतंत्रता के समय उन्होंने उठाया था, उसे पुनः दोहराना होगा कि जब जाति-प्रथा आप नहीं मिटा सकते तो हमें इस जातीयता में रहकर नर्क यातना नहीं भुगतनी है। हमें अपना विकास करना है और इसलिए हमें हमारा राष्ट्र ही अलग करना है। जिसमें सभी अछूत अपना राज्य, अपना विकास कर सकें और समाज का उद्धार हो।

प्राचीन सारी स्थितियां धन और प्रभुसत्ता के अनुकूल चली थीं, जो आज भारत में घोर अंधकार की व्यवस्था में बदल गयीं। भारतीय समाज विघटित होता चला गया। इन सब बातों से निर्धन समाज को या यों कहिए निम्न स्तर के 'सर्वहारा' समाज को बहुत बड़ी आर्थिक, सामाजिक हानि हुई। जब तक भारत से यह जाति-भेद नष्ट नहीं किया जाता तब तक मनुष्यों में समता की भावना उत्पन्न नहीं होगी। समाज में इसी प्रकार छुआछूत कायम रहेगी, शोषित वर्ग सदा की भांति सताया जाएगा। जैसे आज भी बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश में अछूतों को जिंदा जलाया जा रहा है। इस पर सरकार क्या कर रही है? इस छुआछूत एवं जाति-व्यवस्था ने श्रम की कार्यकुशलता में अड़चनें पैदा कर दी हैं। आर्थिक प्रगति रोक दी है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता नष्ट कर दी है। समाज छोटे-छोटे समूहों में बंट गया है। अज्ञानता उत्पन्न कर दी है। विचारों का आदान-प्रदान बंद कर दिया है। मानवीय एकता खो दी है। थोड़े शब्दों में यूं कहिए कि आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक विषमता उत्पन्न कर दी है। जाति-प्रथा की संकीर्ण विचारधारा ने समाज में ऐसे तत्त्व पैदा कर दिए हैं जिससे मानवीय शक्ति का विकास रुक गया है। अतः जाति-व्यवस्था का उन्मूलन अति आवश्यक है। यदि मनुष्यों को मनुष्य की समता दी जानी है, तो इस व्यवस्था को जड़ से मिटा देना चाहिए। इस व्यवस्था ने लोगों की मनोवृत्तियों की स्वतंत्रता नष्ट करके

दासता की प्रवृत्ति को जन्म दिया और भारत में हीनता की भावना उत्पन्न की। मानवीय भ्रातृभाव को दूर कर दिया। स्त्री-पुरुष की प्रेम और श्रद्धा की भावना को नष्ट कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य मनुष्य से लड़ने लगा। इस प्रकार के भेदभाव शताब्दियों से चले आ रहे हैं और मानसिक व्यवहार में विषमता उत्पन्न हो रही है।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए यह अत्यंत विचारणीय प्रश्न है कि मानव-मानव में प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति और श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए मनुष्य ही उत्तरदायी है। इतिहास इसका साक्षी है कि मानव समाज के सारे काम मनुष्य ही करता है न कि दूसरा कोई। मानव कल्याण एवं विश्व बंधुत्व और विश्व-प्रेम के लिए जो करना उचित है उसे भी मनुष्य ही करेगा। इसके लिए भगवान् बुद्ध ने कहा है " अत्त दीपोभव ते। तेरा दीपक तू ही है।" प्रत्येक व्यक्ति सुख और शांति चाहता है और समाज में बराबरी का स्थान ग्रहण करना चाहता है। प्रत्येक प्राणी अपने स्वभाव और रुचि के अनुसार भोजन करता है, परंतु सभ्य समाज में ऐसे मनुष्य हैं जिन्हें भर पेट भोजन नहीं मिलता। मानव समाज में उत्पन्न छुआछूत, ऊंच-नीच को मिटाकर विघटित समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए आवश्यक है कि हर स्थिति में पूंजीवाद समाप्त किया जाये और रूढ़िवादी परंपराओं के विरूद्ध आंदोलन किया जाये। वस्तुत: जाति-प्रथा हमारे सामाजिक ढांचे में ही नहीं अपितु समस्त मानव की मानसिक प्रवृत्तियों में भी विषमता पैदा करती है। आज भारत को एक ऐसी नवीन संस्कृति का निर्माण करना है जो सारे वर्गों की मनोवृत्तियों को समता के सूत्र में बांध दे।

मेरे विचार से मानव-जाति में समता, स्वतंत्रता और निष्पक्ष न्याय की स्थापना के लिए प्रत्येक मनुष्य को निम्न कार्य करने पड़ेंगे। यही समाज में वर्ग तथा वर्ण-व्यवस्था को नष्ट करने में संपूर्ण क्रांति की भूमिका है।

१. वर्ग-विहीन, वर्ण-विहीन, जाति-विहीन और सांप्रदायिकता-विहीन समाज की स्थापना करना।

२. स्त्री-पुरुषों में समता के अधिकार और परस्पर आदर-सम्मान का भाव होना चाहिए। स्त्रियों को पतिता और पुरुषों की दासी समझना तथा विवाह के समय लड़कियों के माता-पिता से दहेज तथा धन इत्यादि मांगने वालों को कठोरतम दंड देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

३. पूंजीवादी व्यवस्थाओं को जड़मूल से मिटा देने के लिए समाज से अंधविश्वास, मिथ्या दर्शन आदि सब का बहिष्कार कर देना चाहिए।

४. अछूतों, पिछड़ी जातियों, शोषितों और सर्वहारा वर्ग से छुआछूत, भेदभाव मिट जाना चाहिए और इन वर्गों के लोगों को अपने बुद्धि बल से ऊपर उठना चाहिए।

५. शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्येक को समान शिक्षा मिलनी चाहिए। अमीरों और गरीबों के बच्चों के लिए अलग-अलग शैक्षिक केंद्र नहीं होना चाहिए।

६. मानव समाज में असमानता या विषमता की बात करने या उसका प्रचार करने वालों का समाज से बहिष्कार होना चाहिए।

७. रूढ़ि-उपासना, वर्ण-भेद, अधिकार-भेद और सांप्रदायिक-भेद का मूलोच्छेद करने के लिए क्रांतिकारी आंदोलन तेजी से चलाना चाहिए।

८. मानवीय समता लाने और सामाजिक एवं सांप्रदायिक भेदभाव दूर करने के लिए स्त्रियों का नि:संकोच परस्पर आदान-प्रदान आवश्यक है और यह मान लेना चाहिए कि मनुष्यों में केवल दो ही जातियां हैं एक स्त्री जाति और दूसरी पुरुष जाति।

९. मनुष्यों में आर्थिक समता लाने के लिए सच्ची समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।

१०. भारत में एक राष्ट्रीयता उत्पन्न करने और उसे शक्तिशाली बनाने के लिए साम्य सूत्र में बंधी हुई 'मानव संस्कृति' का निर्माण करने की अनिवार्य आवश्यकता है।

भारतीय समाज में संपूर्ण क्रांति के लिए वर्ग एवं वर्ण उन्मूलन की यही एक भूमिका है। इससे अछूतों की विमुक्ति हो सकेगी और भारत एकता, समता तथा भाईचारे के सूत्र में बंध जाएगा।

n

जाति उन्मूलन और संपूर्ण क्रांति

एस.एस. शास्त्री

इस भूखंड का, जिसमें लगभग पैंसठ करोड़ मानव रहते हैं, नाम पहले हिंदुस्तान और अब इसके दो अंग टूटने पर भारत अथवा इंडिया रखा गया है। भले ही इसे एक देश की संज्ञा दी जाए परंतु इसे एक राष्ट्र कहना या मानना असंगत है। देश का नाम भौगोलिक सीमाओं या परिधियों के कारण एक हो सकता है किंतु राष्ट्र तो उसमें बसने वाले लोगों की भावनात्मक एकता, परस्पर समता तथा बंधुता का प्रतीक होता है। आइए विचार की तुला पर तौलकर परीक्षा करें कि क्या इस देश में रहने वाली जनता में परस्पर एकता, समता और बंधुता का नाता या संबंध है? हमारा मत है कि यह देश चातुर्वर्ण, तद्‌भूत जातियों, उपजातियों और उन बिरादरियों का एक समूह मात्र है जो इस देश में रह रहे हैं। इस देश का दुर्भाग्य उसी काल से आरंभ हो गया था जिस दिन आर्यवैदिक (हिन्दू) ऋषियों ने ऋग्वेद में समाज को खंड-खंड करने के लिए उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों में उच्चता-नीचता, बड़े-छोटे की कुभावना का बीज बो दिया था जिसे आम शब्दों में वर्ण-व्यवस्था का नाम दिया गया है।

ऋग्संहिता (८/४/१९) का यह मंत्र इसका मुख्य स्रोत है कि-ब्राह्मणो-अस्यमुखमासीत बाहू राजन्यः कृतः। उरुतद्यद् वैश्यः पद्मयांशूद्रो अजायत् अर्थात सृष्टि रचयिता ब्रह्मा प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, कटि स्थान या जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। अब इनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का बंटवारा सुनिए।

ब्राह्मण सब वर्णों में से उत्तमांग (मुंह) से पैदा होने के कारण चारों वर्णों में शिरोमणि अथवा उत्तमतम ठहराया गया और उसका कर्त्तव्य ठहरा यज्ञ करना, कराना, पढ़ना, दान-दक्षिणा लेना।

क्षत्रियों का कर्त्तव्य राज करना, शस्त्र धारण करना और सारी प्रजा की, और मुख्य रूप से ब्राह्मणों की रक्षा करना। और उनके धर्मादेशों का पालन करना। उनका सामाजिक पद ब्राह्मणों से एक दर्जा नीचे किंतु वैश्य और शूद्रों से ऊपर रखा गया।

वैश्यों का कर्त्तव्य पशु-पालन, वाणिज्य-व्यापार, सूद या ब्याज पर लोगों को धन

उधार देना, परोक्ष रूप में कालाबाजार तथा अवैध भंडार करके जनता का शोषण करके धन-संपत्ति एकत्र करना तथा ब्राह्मणों की पूजा-अर्चना करना और उन्हें खुली दान-दक्षिणा देना और क्षत्रियों (राजाओं) को थोड़ा बहुत कर देना। समाज में इनका दर्जा शूद्रों से ऊपर किंतु ब्राह्मण तथा क्षत्रियों से क्रमशः निम्न रखा गया।

अब रहा चौथा वर्ण शूद्र, जिसका हिन्दू समाज में कोई भी अधिकार नहीं हैं। न वह विद्या का अधिकारी है, न ही उसे शस्त्र धारण करने का हक था। राज्य विधान में किसी प्रकार के पद धारण करने का और न ही धन संपत्ति एकत्र करने अथवा अर्जित करने का अधिकार है। उसे समाज में किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं दिया गया। उस पर मात्र कर्तव्यों का बोझा लादने के लिए तमाम धर्म शास्त्रों (हिन्दू कानूनों) में उल्लेख कर दिया गया और कह दिया कि 'एकंतु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्मामां शुश्रुषामनसूयया।।'

अर्थात शूद्र वर्ण का एक ही धर्म, कर्म एवं कर्त्तव्य है कि वह ऊपर वाले तीनों वर्णों की सेवा बिना किसी भी प्रकार के विरोध अथवा चूं-चां के करता रहे।

आज भारत के साढे पांच लाख ग्रामों के बाहर की तरफ बनाए फूंस के झोंपड़ों तथा कच्चे मकानों में, जहां सारे गांव की गंदगी फेंकी जाती है, यह लोग बसते आ रहे हैं।

शहरों के स्लम एरिया (गंदी बस्तियां) में इनके डेरे लगे हुए हैं। यह किसी भी महामारी का प्रथम शिकार बनते हैं। यह गरीबी की साक्षात् मूर्तियाँ बाढ़ों की चपेट में आने वाली, दुर्भिक्ष का ग्रास बनने वाली सबसे प्रथम बस्तियां इन्हीं की होती हैं। शूद्र वर्ण के भी दो मुख्य भेद किए गए हैं। पहला अछूत (अस्पृश्य शूद्र) तथा दूसरा सछूत (स्पृश्य शूद्र) क्योंकि स्पृश्य शूद्रों को छुए बगैर सवर्णों का काम नहीं चलता था इसलिए उनके साथ यह रियायत बरती गई कि उनका स्पर्श करने पर सवर्ण को स्नान करने की आवश्यकता नहीं। उनमें नाई, तेली, तम्बोली, छीपा, कुम्हार, कहार, सुनार, धीवर, लुहार, बढ़ई, ठठियर, धुनिया, गड़रिया, माली, गूजर, अहीर, काछी, ग्वाले आदि मुख्य रूप में आते हैं। इनके अलावा भी अनेक जातियां स्पृश्य शूद्रों की गिनती में आती हैं।

दूसरी संख्या है उन अति शूद्रों की जिनको अनुसूचित जातियां या महात्मा गांधी द्वारा दी गयी उपाधि के अनुसार हरिजन कहा गया है। यही अस्पृश्य, नीच, पापयोनि, चांडाल, पुक्कस आदि हैं। उनकी दुर्दशा, दयनीय स्थिति का अनुमान लगाना असंभव है। यह भूमिहीन खेत मजदूर, श्रमिक, हस्तकार, कम्मी समाज में निंदित और घृणित व्यवसाय (पेशे) करते हैं, जैसे मरे पशुओं को उठाना, उनकी खाल निकालना, उसे रंगना और जूते बनाना, गांठना, सिरों पर टोकरे रखकर सवर्णों के घरों से पाखाना उठाना, गलियों और सड़कों पर झाड़ू लगाकर सफाई करना, बेगार करना और इनकी औरतों द्वारा सवर्णों की

पत्नियों के यहां बच्चे पैदा होने पर उनका मलमूत्र धोना आदि निषिद्ध और निखद्ध काम करना ही इनका कर्त्तव्य है। इन कामों या सेवाओं के बदले में खाने के लिए जूठे और बासी टुकड़े और पहनने के लिए चिथड़े अपने स्वामियों से कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना।

अगर यह लोग अपने स्वामियों की किसी प्रकार की सेवा करने से इंकार करें अथवा जायज मजदूरी मांगें तो उन्हें सवर्णों के क्रोध का भाजन बनना पड़ता है। कुत्ते, बिल्ली की तरह इनको मारना-पीटना, गांव से बाहर निकाल देना, इनका सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार कर देना। यदि ये निरीह लोग न्याय हासिल करने के लिए आवाज उठाएं अथवा थोड़ा बहुत आत्म-सम्मान का प्रदर्शन करें तो इनकी हत्या तक भी कर देना, इनकी औरतों का शील भंग करना आदि अत्याचारों के प्रयोग भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हर रोज की साधारण घटनाएं बन गई हैं। इन अस्पृश्यों के अलावा शूद्रों की कोटि में भारत की लगभग तीन-साढ़े तीन करोड़ की एक अन्य जनंसख्या भी है, जिन्हें आदिवासी या जंगली जातियां या कबीले कहा जाता है। यह भी शुद्र ही हैं। इनका शोषण, निरादर भी ऊंची जातियों द्वारा किया जा रहा है। यह भुखमरी, जहालत और अत्यंत पिछड़ेपन का शिकार बने आ रहे हैं। इनके अलावा अतिशूद्रों की एक ऐसी संख्या भी लाखों की गिनती में सारे भारत देश में खानाबदोश, टपरीवासी बनकर गरीबी, जहालत और निरादर की जिंदगी गुजारती चली आ रही हैं इनमें हैं नट, कंजर, भेडुकुट, पुतली नचाने वाले, बंदर और रीछ पालकर उनका गांवों में तमाशा दिखाकर पेट पालने वाले, भिक्षावृत्ति करने वाले चूहड़े, मदारी, सपोलिए, सांसी, बाजीगर आदि। इन पर अभी तक न तो सरकार की ही और न कथित समाज सुधारकों की दृष्टि पड़ी है। यह भिखमंगे, असभ्य और जीवन के हर एक क्षेत्र में अत्यंत पिछड़े लोग भी इसी भारत-भूमि, ऋषि-मुनियों, योगियों, दार्शनिककों, ब्रह्मा के मुख से जन्म लेने वाले धरती के देवता ब्राह्मणों द्वारा पवित्र की गई धरती, जिसे कहा जाता है कि इस भारत भूमि में जन्म लेने के लिए देवता भी तरसते हैं, के नागरिक या निवासी हैं।

अगर अस्पृश्य और स्पृश्य शूद्रों, जंगली जातियों तथा घुमंतुजातियों की सारी संख्या की ठीक तौर पर गिनती की जाए तो यह सब लगभग पैंतीस-चालीस करोड़ बनेंगे। सवाल उठता है कि इन चालीस करोड़ जनता के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक अध:पतन का मूल कारण क्या है, तो मैं बिना किसी संकोच के उत्तर दे सकता हूँ कि इन चालीस करोड़ जन-समूह की वर्तमान दुर्दशा का मूल कारण है—ब्राह्मण तथा ब्राह्मणों के द्वारा रची हिन्दू समाज रचना जिसके विधि-विधान, आज्ञाएं, आदेश तथा धर्म-कर्म, वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृतियों, गुह्य-सूत्रों, पुराणों, महाकाव्यों, महाभारत, रामायण आदि ऐतिहासिक ग्रंथों, नाटकों, काव्यों, अर्थात समस्त संस्कृत ग्रंथों और उन्हीं से अनुप्राणित हिंदी काव्यों तथा ग्रंथों में ओतप्रोत हैं। ब्राह्मणों ने इस देश की पचास साठ प्रतिशत जनता को वर्ण-व्यवस्था में शूद्र तथा अतिशूद्र बनाकर इनके साथ इतना घोर अन्याय, बेमिसाल अत्याचार और

अनाचार किया है और अब तक भी करते आ रहे हैं और करते रहेंगे जब तक कि यह दबी पिछड़ी, दलित, अर्धमृत, मानव अधिकारों से वंचित, चालीस करोड़ जनता इन वर्ण धर्म पोषक ग्रंथों का सत्यानाश नहीं कर देती । ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए क्षत्रिय और वैश्यों के दिल में भी शूद्रों और अतिशूद्रों के लिए घातक विष का (धर्म की आड़ में) ऐसा इंजेक्शन या टीका लगाया कि यह दोनों वर्ण भी शूद्रों तथा अति शूद्रों के जन्मजात शत्रु बने बैठे हैं। इस वर्ण-व्यवस्था, जो जातियों उपजातियों की जननी है, की बदौलत ही भारत के अंदर भावनात्मक एकता, समता तथा बंधुता का नितांत अभाव है। अत: भारत भले ही एक भौगोलिक सीमाओं से घिरे देश का नाम हो, किन्तु भारत एक राष्ट्र कदापि नहीं है।

इस देश में कोई ब्राह्मण, कोई ठाकुर, कोई बनिया, कोई कायस्थ, कोई चमार अथवा सोनार भले ही हो कोई भी भारतीय या हिन्दू नहीं है। इनके खान-पान में समता सहयोग नहीं, इनके ब्याह-शादी परस्पर वर्ज्य हैं। इनके धर्म-स्थान, इनके श्मशान, कुएं, घाट, देवी, देवता, आचार-विचार, व्यवहार एक समान नहीं हैं। मुसलमान और ईसाइयों में सामाजिक और धर्मिक एकता क्यों है? बौद्ध देशों में भी सांस्कृतिक एकता देख सकते हैं, किंतु हिन्दुओं में ऐसा नहीं है, क्यों? इसका कारण केवल ब्राह्मण पुरोहितवाद, ब्राह्मणों द्वारा रचित धार्मिक ग्रंथों में प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था है।

हिन्दू धर्म की जड़ में परस्पर समता, एकता, बंधुता के स्थान पर पारस्परिक विषमता, अनेकता और एक-दूसरे से घोर घृणा का जहर भरा पड़ा है। जब तक इन चालीस करोड़ व्यक्तियों का एक प्लेटफार्म बनकर इस जाति-पात और इसकी जननी वर्ण-व्यवस्था का उन्मूलन नहीं किया जाएगा, इनका किसी प्रकार का भी कल्याण-उत्थान असंभव है।

हमारे समाज सुधारकों तथा नीच समझे जाने वाले लोगों के हमदर्द साधु-संतों ने वर्ण-व्यवस्था रूपी इस राक्षसी व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठायी , भजन वाणियां गायीं परंतु ब्राह्मणी शिकंजे में जकड़े सवर्ण हिन्दू समाज के कानों पर जूं तक न रेंगी। ऐसे संत सुधारकों की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गई। महात्मा गांधी के हरिजन सेवक संघ, संत बिनोबा भावे तथा लोकनायक जयप्रकाश नारायण जी के सर्वोदय की अपीलें कारगर सिद्ध नहीं हुई। इस बीमारी का इलाज सुधारवाद से नहीं हो सकता वरन समग्र सामाजिक क्रांति, विप्लव, उथल-पुथल और इंकलाब से ही हो सकेगा। वर्ण-व्यवस्था के जेलखाने से छूटना ही शूद्रों की निजात या मुक्ति के लिए अपर्याप्त रहेगा जब तक कि ये चालीस करोड़ लोग इकट्ठे मिलकर वर्ग संघर्ष का भी बीड़ा नहीं उठाएंगे। धरती उसकी है जो उसे बोता-जोतता है, जो उस खेत की मिट्टी में मलिन होकर काम करता है।, निकम्मे, आलसी जमींदार की नहीं। गांवों में, शहरों में, जीवन के हर एक साधन में इन करोड़ों असहाय, शताब्दियों से धर्म के नाम पर तथा पिछले जन्मों के कथित बुरे कर्मों के

फल के नाम पर आज तक सवर्ण लोगों द्वारा उत्पीड़ित, शोषित बनाए गए शूद्रों, अति-शूद्रों, जनजातियों तथा घुमंतु पटरी वासियों का भारतीय राष्ट्र में, भारतीय समाज में ऊंचे समझे जाने वाले सवर्णों के बराबर इज्जत और गौरव का स्थान पाना, भारत की आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संपत्ति में अपनी संख्या के अनुसार बराबर का लाभ प्राप्त करना, इन चालीस करोड़ लोगों का भी ऐसा ही जन्मसिद्ध अधिकार है' जैसा लोकमान्य तिलक का नारा था कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' भारत की स्वाधीनता के गत तीस वर्षों में हरिजनों और जन-जातियों तथा टपरीवासियों के साथ घोर अत्याचार और अन्याय होते चले आ रहे हैं। हिन्दू धर्म में इनकी गिनती अस्पृश्य और नीचों में करना और इनके साथ अमानवीय व्यवहार करना- कराना तथा देश की संपत्ति और समृद्धि में इन्हें इनके जायज लाभ अंश से वंचित रखना है। जब तक जाति-पांति (वर्ण) और वर्ग, दोनों का विध्वंस, सत्यानाश और उन्मूलन नहीं किया जाएगा, इनका किसी प्रकार का उद्धार नहीं हो सकता। परंतु उन्मूलन तो संघर्ष के बिना नहीं हो सकता। अतः इनके परस्पर संगठन के लिए प्रचार-प्रसार चाहिए। उसके लिए सरकार की हर प्रकार की सहायता की आवश्यकता है। किंतु आज और पिछले काल की सरकारों पर ध्यान देने पर वहां भी ब्राह्मणी धर्म के उपासकों तथा शोषक वर्ग के प्रतिनिधियों की बहुसंख्या दिखायी पड़ती है। वह हमारी इस समग्र क्रांति की सबसे बड़ी बाधा है, क्योंकि अपना जन्मजात प्रभुत्व, छल-बल से समेटी धन-संपत्ति और भू-संपदा को आसानी से कोई नहीं छोड़ता।

ऐसी स्थिति में इन दबे, पिसे तथा कुचले करोड़ों नवयुवकों को अपने पर ही भरोसा रखकर वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-पांति के पोषकों और वर्ग विशेष के शोषकों से अपने ही संगठन , अपने ही मनोबल और अपनी ही कुर्बानियों से इस क्रांति की ज्वाला को प्रज्वलित करना पड़ेगा। अगर महात्मा गांधी तथा उनके अनुयायी व्यक्तियों के द्वारा ऐसी राजनीतिक शक्ति से जूझकर, जिनके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था, स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है तो क्या हमारी चालीस कोटि जनता संघर्ष करके पच्चीस कोटि सवर्णों से अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं कर सकती? लोकनायक जयप्रकाश ने अपनी दूर दृष्टि से देखकर ही तो कहा है कि इन पिछड़े , कुचले वर्गों को संगठित होकर ही अपने अधिकारों के लिए लड़ना होगा। किन्तु स्मरण रहे कि हमारे इस मोर्चे का नेतृत्व आम्बेडकर, लोहिया, राजनारायण तथा जयप्रकाश सरीखे उदार नेताओं के हाथ में भले ही हो, किन्तु हमारे इस संगठन में कोई भी जन्मजात ब्राह्मण न घुसने पाए।

ब्राह्मण का हृदय शूद्रों के प्रति आदि काल से ही संकीर्ण और दुर्भावना से पूर्ण रहा है। शूद्रों तथा दलितों, जिनमें नारी जाति भी सम्मिलित हैं, के कल्याण के लिए सबसे पहली आवाज बुलंद करने वाले भगवान् बुद्ध, भगवान महावीर अब्राह्मण (क्षत्रिय) थे। उपनिषद्कारों में भी बाहुल्य ब्राह्मणों का ही था। संत मत के प्रचारक, नानक, दादू, चेता,

नामदेव, कबीर, रविदास, तुकाराम आदि सब अब्राह्मण ही थे जिन्होंने ब्राह्मणी धर्म कर्म, ऊंच-नीचता के व्यवहार के विरुद्ध तथा दलितों के पक्ष में वकालत की। संभवतः यह आक्षेप किया जाए कि मैं भी जाति-पांति उन्मूलन सिद्धांत का पोषक होकर ब्राह्मणों का विरोध क्यों कर रहा हूं ? मैं मानता हूं कि ब्राह्मण विद्वान् हैं किंतु मनीषी नहीं हैं। शूद्रों के प्रति उनका जन्म से ही रवैया सांप की तरह विष भरा रहा है और अब तक है।

मैं अपने समस्त अध्ययन, संस्कृत वाङ्मय के अनुशलीन के आधार पर कह सकता हूं कि हमारे संगठन के खेमे में ब्राह्मण नेताओं का प्रवेश करना सरल भेड़-बकरियों के समूह में हिंस्र पशु शेर, बाघ, चीते या भेड़िये की तरह घुस जाना साबित होगा। ब्राह्मण बहुत अच्छे हैं किंतु शूद्रों और अछूतों आदि दलितों के लिए कभी अच्छे सिद्ध नहीं हो सकते। यह उनकी प्रकृति में ही दोष है। वह शूद्रों के कभी भी मित्र नहीं थे और भविष्य में भी मित्र नहीं बन सकते। स्वर्गीय लोहियाजी की जाति उन्मूलन आंदोलन को चलाने में भी ऐसी ही राय थी। साम्यवादी ब्राह्मण नेताओं को भारत की संपत्ति बांटने का हमेशा ख़याल रहा है किंतु उन्होंने कभी भी वर्ण-व्यवस्था तथा उसकी वैध-अवैध अनगिनत संतानों, जाति-उपजातियों पर कभी प्रहार नहीं किया। इस महाव्याधि का अन्वेषण और निदान करने वाले बीसवीं शताब्दी में दो ही महापुरूष हुए हैं। वह थे सवनाम धन्य बाबा साहिब आम्बेडकर और भारतीय दीर्घकालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रोग के खोजी दूसरे धन्वतरि स्वार्गीय डॉ. राममनोहर लोहिया।

अतिशय रगड़ करे जो कोई।
अनल प्रगट चंदन से होई।।

शूद्रों के संगठन में एक बड़ी भारी खामी है सछूत शूद्रों का अछूत शूद्रों के साथ न मिल पाना। दुर्भाग्यवश सछूत शूद्रों में ब्राह्मणों ने अब यह प्रचार करना प्रारंभ कर दिया है कि वह क्षत्रिय और ब्राह्मण हैं। हालांकि धर्मशास्त्रों में जो खुराफातें, अत्याचार और सामाजिक दुर्व्यवहार लिखे गए हैं, वह अधिकतर इन्हीं सछूत शूद्रों के लिए हैं किंतु ब्राह्मण बहुत धूर्त व चालाक है। वह सछूत शूद्रों को भी नाममात्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय बनाकर स्पृश्य शूद्रों से वैसे ही पृथक उच्च वर्ण बता रहा है जैसे उन्होंने ताकतवर मराठों को सिसोदिया वंशीय क्षत्रिय बना डाला और बौद्धों का प्रभाव समाप्त करने के लिए शकों को, आबू पर्वत पर हवन कराके, राजपूत या क्षत्रिय बना दिया। अगर सारे शूद्र वर्ण का संगठन हो जाए तो भारत की राज्य सत्ता भी वैसे ही शूद्रों के हाथ में होगी।

प्राचीन काल में कथित शूद्र मौर्य वंशों के साम्राज्य स्थापित हो गए थे, किंतु ब्राह्मणों ने जब देखा कि मौर्य वंशीय महाराजा तो ब्राह्मणीजाल से निकलकर भगवान् बुद्ध की शरण में चले गए हैं और उन्होंने द्विज ब्राह्मणों के झूठे बड़प्पन को भस्मसात् कर दिया है तो

दोबारा ब्राह्मणों ने घृणित षड्यंत्रों के बलबूते पर पुनः ब्राह्मणी प्रभुत्व प्राप्त करके पुनः ऐसे धर्मग्रंथों के दूसरे विष भरे संस्करण तैयार किए जिनमें ब्राह्मण वस्तुतः भूमि के देवता बन बैठे और सारे समाज को मानसिक गुलाम बना दिया। कहना पड़ेगा कि हिंदुस्तान के गुलशन को वर्ण–व्यवस्था के चक्कर में डालकर ब्राह्मणों ने तहस–नहस कर दिया है। इस गुलशन में सबसे बर्बाद हुए हैं अस्पृश्य शूद्र, जनजातियां तथा घुमंतु जातियां । सवर्ण हिन्दू तो वर्ण–व्यवस्था या जाति–पांति को जीवित रखने में अपना लाभ समझते हैं किन्तु चालीस करोड़ शूद्रों का तो जाति–पांति और उसकी जननी वर्ण–व्यवस्था का उन्मूलन करने में ही भला है। हमें इस लड़ाई को लड़ने के लिए शुद्रों के पारस्परिक जातिभेद को, पारस्परिक खान–पान तथा पारस्परिक ब्याह–शादियां करके तोड़ना होगा। हिन्दू शास्त्रों में शूद्रों के निरादर में उल्लिखित श्लोकों, धर्माज्ञाओं, धर्मविधानों के खिलाफ खुलकर प्रचार करना होगा। मेरा तो पक्का विश्वास है कि जब तक समस्त दलित बनाकर रखी गई शूद्र जातियां हिन्दू धर्म, जिसने उन्हें आज इस नारकीय स्थिति में पहुँचाया है, नहीं त्यागेगी, तब तक उनका भला नहीं होगा। हिन्दू धर्म का बहिष्कार करके, एक मानवतावादी धर्म को, जो न वर्ण–व्यवस्था मानता हो और न ही किसी को ऊंचा अथवा नीचा, वरन् मानवमात्र को समान रूप में देखता है और जो इसी भारत भूमि की प्रथम देन है, भगवान बुद्ध के वैज्ञानिक धर्म को अपनाना चाहिए। तमाम शूद्र जातियों में पायी जाने वाली जातियों, उपजातियों का उन्मूलन करके एक शक्तिशाली बौद्धधर्मावलंबी प्लेटफार्म बनाना होगा जो आगे चलकर वर्ण–विध्वंसक और साथ ही शोषक वर्ग विध्वंसक बन सके।

इस जाति बंधन की गुलामी से इन शूद्रों को छुटकारा पाने की आवश्यकता है जो वर्णों और धनी वर्ग के जुल्म की चक्की में पिछले तीन हजार वर्षों से बराबर पिसते आ रहे हैं। इनके प्रति आज अपमान, निरादर, जहालत, गरीबी का जो अभिशाप सारे देश में दिखायी पड़ता है, उसका एक–एक आदेश और उपदेश हिन्दू धर्मशास्त्रों में विद्यमान है। उस पर आचरण करना हिन्दू धर्म बतलाया गया है। उसे सनातन धर्म समझकर धर्मभीरु उच्चजातियों के हिन्दुओं ने समूचे भारत में क्रियात्मक रूप दे रखा है। अतः चोर को मारने की बजाए चोर की मां को मारो जिसने ऐसे चोर को जन्म दिया था और जो अभी तक अनेक जाति उपजातियों के रूप में उनका पालन कर रही है।

मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि इस देश और राष्ट्र का जितना अहित ब्राह्मणवाद ने किया है, और अब भी कर रहा है, उसकी मिसाल संसार में नहीं मिलती। अतः इसका उन्मूलन करना भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना है। ब्राह्मण कभी भी जन्मजात उच्चता को नहीं छोड़ेगा और उसकी रक्षा के लिए क्षत्रिय, वैश्यों आदि जातियों को फुसलाता रहेगा ताकि वह शूद्र दलित वर्ण को दबाने में उनके काम आएं। जैसा कि अब तक आते रहे हैं।

जाति–पांति उन्मूलन के लिए शूद्र तैयार हो जाएं। तमाम जातियां, उपजातियां आपस में खान–पान, ब्याह–शादी करें। शूद्रों का पढ़ा–लिखा नौजवान तबका ब्राह्मणवाद के पोषक ग्रंथों की, जिनमें शूद्रों के खिलाफ फतवे दिए गए हैं, खुले तौर पर होली जलाए। सत्याग्रहों से भारत सरकार को मजबूर कर दें कि वह ऐसे प्रचार के मूलभूत शास्त्रों को जब्त कर लें और ऐसे घृणित प्रचारकों को आजीवन जेल में डाल दें।

यह सब कुछ तभी होगा जब दलित वर्ग के दिलो–दिमाग में विप्लव, क्रांति या इंकलाब की आग प्रज्वलित होगी।

n

जाति विरोधी प्रयासों की असफलता

इन्दुमती केलकर

भारत में संपूर्ण अथवा सम्यक् क्रांति की सारी बातें निरर्थक सिद्ध होंगी जब तक प्रस्थापित वर्ण-व्यवस्था पर कड़ा प्रहार नहीं होता। यह एक ऐसी राक्षसी व्यवस्था है जिसके नीचे समता की सारी धाराएं सूख गई हैं। इसलिए समता के लिए लड़ने वालों को चाहिए कि वे भारत की वर्णव्यवस्था के जन्म, वृद्धि, फैलाव, उसके दुष्परिणाम तथा उसके विनाश के उपायों पर गंभीरता से विचार करें।

हजारों सालों से यह व्यवस्था भारत में प्रचलित है। यह धारणा कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था वेदोत्तरकालीन है, सही नहीं है। ऋग्वेद के दसवें मंडल तथा नवें सूक्त की बारहवीं ऋचा में कहा है," ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् , बाहु राजन्य कृत: उरु तदस्य तद्धैश्य, पदम्यां शूद्रो अजायत।" अथर्ववेद और पुरुष सूक्त में भी 'शूद्र' शब्द का जिक्र है। इस तरह हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस व्यवस्था का सीधा संबंध ईश्वर से जुड़ा है। वेदकालीन चार वर्णों की परिणति कालांतर में हजारों जातियों में हुई। आकाश के ग्रह-नक्षत्रों की गणना शायद हो सकती है, लेकिन हिन्दू धर्म की जातियों की नहीं। जातियों की ऊपरी सीढ़ी पर का हर उमर का आदमी निचली सीढ़ी पर के आदमियों को हीन समझता है और उसे ठोकर मारता है। वही आदमी ऊपर की सीढ़ी पर के आदमी के सामने झुक जाता है। सीढ़ी के तल में औरत है और उसे सभी ऊपर वालों से मार खानी पड़ती है। उसे सबसे हीन माना जाता है।

इस व्यवस्था के कारण हिन्दू समाज शतखंडित हुआ है। आदमी आदमी को नहीं पहचानता, जाति को पहचानता है। उच्चवर्णीय और कनिष्ठवर्णीय एक ही धर्म के होते हुए भी उनमें कोई रिश्ता नहीं रहा। एक संचित है, तो दूसरा वंचित। एक शोषक है तो दूसरा शोषित। एक शासक है तो दूसरा शासित। एक बिना परिश्रम सत्ता, संपत्ति, प्रतिष्ठा और ज्ञान पर एकाधिकार जमाता है तो दूसरा सत्ता,संपत्ति, प्रतिष्ठा, ज्ञान विहीन अवस्था में किसी तरह जीवन व्यतीत करता है।

हिन्दू धर्म के कर्मविपाक सिद्धांत ने भी बहुसंख्यक लोगों की अवस्था बेजान बनाई है। पूर्वजन्म के पाप के फल से नीच जाति में जन्म मिलता है और इस जन्म का पाप पुनर्जन्म का कारण बन जाता है। ऐसा भय कनिष्ठवर्णियों के मन में पैदा कर दिया है। पाप-

पुण्य की सारी कल्पनाएं जाति-प्रथा के बिना तकरार पालन से जोड़ दी गई हैं और जाति-प्रथा ईश्वर निर्मित होने के कारण अपरिवर्तनीय बताई गई है। इस तरह ईश्वर, धर्म, वर्णाश्रम धर्म तथा जाति-प्रथा और कर्मविपाक सिद्धांत, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म के फेरे के डर का एक दुष्टचक्र बनाया गया है। इस चक्र में पिछड़ी जातियां और औरतें पिसती जाती हैं। बेजबान, बेजान बनाई जाती हैं।

दुनिया में विजित और विजेता, मालिक और गुलाम के बीच जो रिश्ता रहा, वही भारत में उच्चवर्णीय और कनिष्ठवर्णियों एवं औरतों में रहा। लड़ाई में बने हुए गुलामों का शरीर गुलाम था, मन आजाद था। इस कारण काल प्रवाह में गुलामी प्रथा मिट गई। लेकिन भारत के उच्चवर्णीय स्वामियों ने अपने गुलामों पर मानसिक गुलामी लादी। यह मानसिक गुलामी धीरे-धीरे उनकी आदत बन गई। इस कारण यहां के गुलामों ने कभी बगावत का झंडा उठाया ही नहीं । फलस्वरूप यहां धर्म और जाति-प्रथा का महत्त्व बढ़ता गया। इतना ही नहीं, उनकी जड़ें और गहरी होती गई।

एक जमाना था जब समाज का प्राप्तव्य धर्म था। धर्मभावना को लेकर लड़ाइयां होती थीं। कभी तो औरत भी लड़ाई का कारण बन चुकी थी। उस समय भारतीयों को हिन्दू धर्म के अलावा दुनिया में अन्य भी धर्म हैं, यह जानकारी नहीं थी। उस समय के तत्त्वज्ञान तथा सभ्यता की कल्पनाएं आज की स्थिति में लागू करना उचित नहीं होगा। आज के विज्ञाननिष्ठ आधुनिक युग में कल्पनाएं काल बाह्य हो गई हैं। आज की दुनिया का प्राप्तव्य है सत्ता, संपत्ति और विज्ञान। दुनिया के किसी भी राष्ट्र में हिन्दू, मुसलमान, यहूदी आदि धर्मों के लोग रहते हैं। इस कारण धर्म की बुनियाद पर राष्ट्र खड़ा करने की कल्पना भी कालविसंगत हो गई है। दुनिया के इतिहास में ईसाई ईसाइयों में, हिन्दू हिन्दुओं में, मुसलमान मुसलमानों में लड़ाइयां हुई हैं। भारत में अभी भी धर्म और वर्णाश्रम व्यवस्था का अनुचित प्राबल्य है। जिस वजह से बिना लड़ाई, खून की एक बूंद भी न गिराते हुए उच्च वर्णीय मालिकों ने दलितों और औरतों को दास बनाया है। दलितों को शारीरिक कष्टों के कामों में तो औरतों को चूल्हे-चौके और बच्चों के कामों में लगाया। उच्चवर्णियों की कुटिल बुद्धि का यह अनोखा नमूना है। उन्होंने दलितों को बुद्धिहीनता के कारण तो औरतों को शारीरिक बलहीनता के कारण दबाया। यह शोषण आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जैसे सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सदियों से चलता आया है। आर्थिक क्षेत्र में पूंजीपति, व्यापारी और कालाधन जमा करने वालों के हाथ में, राजनीतिक क्षेत्र में सत्तारूढ़ शासकों, नौकरशाहों और उच्चपदस्थों के हाथ में, सामाजिक क्षेत्र में पंडित, मौला-मौलवी, ज्योतिषी, अंधश्रद्धा व भाग्यवाद फैलाने वालों तथा संतमहंती का ढोंग रचने वालों के हाथ में सत्ता, संपत्ति, प्रतिष्ठा और ज्ञान विज्ञान केंद्रित हो गया है। और चारों ही मिलकर एक दूसरे को बल देते हैं। इसका परिणाम आधी आबादी वाली औरतों और दलितों को मिलाकर अस्सी फीसदी समाज की शक्ति सड़ जाने में हुआ है। उनमें

उदासीनता, लाचारी और आत्महीनता पैदा हुई है।

भारत में वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ हिन्दू धर्म पर हमला बौद्ध और जैन धर्मों ने किया लेकिन नतीजा कुछ नहीं निकला। और दो धर्म बढ़ गए। हिन्दू धर्म ने बुद्ध और महावीर को अवतार मानकर अपने में समेट लिया। अंग्रेजी शासन काल में जातिनिर्मूलन की लड़ाई में एक विचित्र विकृति पैदा हो गई। सामाजिक क्रांति की दृष्टि से जो गरम लोग थे वे राजनीतिक दृष्टि से नरम थे। और राजनीतिक गरम लोग सामाजिक दृष्टि से नरम थे। फलस्वरूप सामाजिक क्रांति बनाम अंग्रेजी शासन की खिलाफत ऐसा अनोखा द्वंद्व पैदा हो गया। समाज में अन्य जो प्रयत्न हो रहे थे उनके पीछे भी दयावाद, मानवतावाद और करुणा की भावनाएं थीं। ममता थी लेकिन समता की भावना नहीं थी। विचार और कर्म में एकरूपता न होने के कारण उन प्रयत्नों से दलितों और औरतों में बगावत की भावना पैदा नहीं हुई। परिणामतः स्थितिप्रियता बढ़ी और प्रस्थापित व्यवस्था जैसी थी वैसी ही बनी रही।

महात्मा गांधी के उदय के बाद स्थिति में थोड़ा बदलाव जरूर हुआ। उन्होंने अस्पृश्यता के खिलाफ लड़ाई छेड़ी । औरतों के लिए राजनीतिक क्षेत्र खोला, हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जान तक दी। लेकिन उनकी विचारधारा ने वर्णाश्रम-व्यवहार पर चोट नहीं की। सर्वधर्मसमभाव का नारा लगाया। जिस देश में एक ही धर्म की-हिन्दू धर्म की बहुतायत है, वहां सर्वधर्म समभाव की परिणति हिन्दू धर्म के प्रभाव में हो जाना स्वाभाविक है। मिसाल के तौर पर नमोवाणी में प्रत्येक हिन्दू धर्म का त्यौहार मनाया जाता है। सभी व्रत, अंधश्रद्धाओं की परिवरिश होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस सरकार ने यह ढोंग और बढ़ाया। जबान से भाषा बोलते थे विज्ञान की, सेक्युलरिज्म की लेकिन व्यवहार हो रहा था विपरीत । तभी तो १९५० में डॉ० लोहिया ने तत्कालीन राष्ट्रपति द्वारा खुलेआम ब्राह्मणों के पैर धोने के कार्य को असभ्य और वर्णवर्चस्व को बढ़ावा देने वाला कार्य कहा। उनकी प्रेरणा से युवजनों ने विरोध निदर्शन भी किया था।

कांग्रेस सरकार ने या यूं कहिए कुछ अपवादों को छोड़कर किसी सरकार ने भी सेक्यूलरिज्म का अर्थ ही ग्रहण नहीं किया था। कांग्रेस सरकार ने सेक्यूलरिज्म का अर्थ लगाया सर्वधर्मसमभाव। इस कारण यज्ञयाग, भूमिपूजा, तिरुपति दर्शन,धार्मिक व्यक्तियों की पूजा, ज्योतिषों का बढ़ावा, अगम्य और अदृश्य शक्तियों पर अंधश्रद्धा इत्यादि प्रसंग होते रहे। मंत्री और उच्चपदस्थ जाहिर रूप से वहां हाजिर रहने लगे। ढोंगबाजी और कर्मकांड बढ़ने लगे। यह सिलसिला अब खत्म होना चाहिए। सेक्यूलर व्यक्ति इस तरह का व्यवहार कभी नहीं करेगा। सेक्यूलरिज्म का वास्तविक अर्थ है धर्मविहीनता, इहलोकवाद। इस सिद्धांत पर ही शासन चलना चाहिए। सार्वजनिक व्यवहार होना चाहिए। ईश्वर पर निष्ठा है, धार्मिक कर्मकांड करना है तो वह जाहिर रूप में नहीं । इतना परहेज नहीं संभाला गया तो दलितों और औरतों पर अत्याचार और अन्याय बढ़ते जाएंगे। कारण उच्चपदस्थ

वरिष्ठवर्णियों द्वारा होने वाले धार्मिक आचरण एक तरफ प्रस्थापित व्यवस्था को बल देते हैं, वहीं दलितों को बुद्धिहीन कर्मकांडों में फंसा देते हैं। नतीजा सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति अवरुद्ध होती है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने समता की कसम तो खायी है। कम्युनिस्ट वर्ग संघर्ष का नारा भी लगाते हैं लेकिन भारत की विशेष परिस्थिति की समझ उन्हें भी नहीं है। वर्णाश्रमधर्म और जाति-प्रथा शोषण को, गरीबी को तथा अन्यायों को बढ़ावा देते हैं यह तथ्य वे जान नहीं पाए। तभी तो उनका नेतृत्व प्रायः वरिष्ठवर्णियों का है। वे वर्गसंघर्ष के समान जातिध्वंस के बारे में लड़ाई नहीं छेड़ते ।

जनता पार्टी का उदय अभी-अभी हुआ है। लेकिन वह पार्टी वैसे आसमान से अचानक नहीं उतरी। उसमें जो चार दल विलीन हुए हैं उनकी वर्णाश्रमधर्म व्यवस्था और औरतों के बारे में एक जैसा दृष्टि नहीं है। हो सकता है भविष्य में कुछ परिवर्तन हों। लेकिन आज तो दलितों और औरतों के प्रति उसकी उदासीनता दिखायी देती है।

जाति-प्रथा का इस्तेमाल चुनाव की राजनीति में करने के कारण 'जाति जाती नहीं' यह अनुभव आया। 'फूट डालो और सत्ता हासिल करो' नीति का परिणाम जाति की जड़ें और मजबूत होने में हुआ। इस नीति का अवलंब कुछ व्यक्तियों को छोड़कर प्रायः बहुतांश दलों ने किया। कुछ ने प्रत्यक्ष तो कुछ ने अप्रत्यक्ष सहारा लिया। चुनाव के समय मध्यवर्ग नाराज न हो, इसलिए सामाजिक विषमता के अथवा अंग्रेजी हटाओ जैसे सवाल उपस्थित न करने का रवैया रहता है। १९६७ के चुनाव के समय 'समान नागरिक कानून' का सवाल उठाकर लोहिया जी ने अपना चुनाव खतरे में डाला था। लोहिया जी तो कभी भी जोखिम उठाकर अपनी लोकप्रियता की बाजी लगाकर पेट के समान दिल-दिमाग के सवाल उठाते थे। आज कोई भी इस तरह का साहस नहीं दिखाता ।

जाति-प्रथा तोड़ने हेतु लोहिया जी पिछड़ों को विशेष अवसर देने की और हर क्षेत्र में ६० फीसदी जगह औरत, आदिवासी, अस्पृश्य, शूद्र और कनिष्ठ वर्णीय मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखने की राजनीति समाजवादी आंदोलन में लाए। उसके लिए 'जाति तोड़ो' सम्मेलन खड़ा किया। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद चक्र उलटी दिशा में घूमने लगा है। उनकी जातिनीति का फायदा 'शूद्र' संज्ञा के तहत जितनी दोयम सीढ़ी की जातियां हैं, उन्होंने उठाया। लोहिया जी के आखिरी दिनों में यह अधिक स्पष्ट हुआ। सत्ता-संपत्ति का प्रवाह शूद्रों, जैसे महाराष्ट्र के मराठा, बिहार के यादव, आंध्र के रेड्डी इत्यादि ने अपने तक रोका। अन्य छोटी अवर्ण जातियों, आदिवासी, अस्पृश्य, औरतों तक उसको जाने नहीं दिया। वे नव उच्चवर्णीय बनकर शोषण में हाथ बंटाने लगे। वैसे तो नेतृत्व की दौड़ में उच्चवर्णियों के साथ औरतों और दलितों का दौड़ना असंभव है। कारण यह जोड़ ही विषम है। शूद्रों के साथ भी दलित और औरत नहीं टिकेंगे। इसलिए शूद्रों को भी जातिनीति से हटाना चाहिए। औरत और दलित लड़ने में सक्षम नहीं हैं। उन्हें विशेष अवसर मिलना ही चाहिए। समाज

का यह कर्त्तव्य है और उनका यह हक है। सहूलियतें देने की भीख तो उन्हें लाचार बनाती है। दिखावे के लिए जो एक-दो औरतें और एक-दो दलित लेने का फैशन है, इससे वे सत्ताधारी उच्चवर्णियों के चापलूस बन जाते हैं। जातिनीति का सचमुच अवलंब होने के बाद जब उनकी बहुसंख्या होगी तब उनकी तेजस्विता प्रकट होगी। कर्त्तव्यशक्ति जागृत होगी। आज तो स्थिति यह है कि सत्ताप्राप्त लोग अपनी सत्ता छोड़ने को तैयार नहीं ।

लोहिया जी ने कहा था कि अब तक कनिष्ठवर्णियों के परिश्रम पर वरिष्ठवर्णियों के नेतृत्व के फल-पुष्प फले-फूले। अब वरिष्ठ वर्णियों को चाहिए कि वे खाद बनकर कनिष्ठवर्णियों को फलने-फूलने दें। लेकिन लोहिया जी की इस अपेक्षा का पूर्ण होना प्राय: असंभव है। खाद बनने का मतलब है आत्मत्याग, अहंभाव विसर्जन और व्यक्तित्व समर्पण। समता का व्यवहार और ममता की कर्त्तव्य भावना एक असिधारा व्रत है। यह व्रत कठिन है। जैसी व्याघ्र को रक्त की वैसी मनुष्य को सत्ता की लालसा होती है। सत्तात्याग अग्नि परीक्षा है। अभी भी उच्चवर्णीय सत्ताधारियों की कुर्सी, सत्ता, प्रसिद्धि, मान-सम्मान, परदेस दौरे इत्यादि की भूख पूर्ण नहीं हुई है। पहले जैसी प्रज्वलित है। उनसे खाद बनने की अपेक्षा व्यर्थ है। हाल ही की स्थिति देखने से यह तथ्य विदारक रूप में सामने आता है। जनता ने बड़ी उम्मीद से सत्ता परिवर्तन किया। लेकिन औरतों और दलितों को न्याय नहीं मिल रहा है। उनको केवल समाज में या कुर्सी में हिस्सा मिलने का सवाल नहीं है। भूमिका, दृष्टिकोण और नीति का सवाल है। कुछ उदाहरण यह बात स्पष्ट करने वाले हैं।

प्रधानमंत्री मोरारजी भाई ने 'टाइम' की मुलाकात में कहा, "औरतें मर्दों से ज्यादा भली और मृदु स्वभाव की होती हैं। लेकिन जब वे राक्षसी बनती हैं तब सारी सीमाएं तोड़ती हैं।" इस तरह लिंगभेद के आधार पर मानवी गुणों का अथवा दोषों का विभाजन करना कहां तक उचित है? ऐसा अनुभव भी नहीं आता। वस्तुस्थिति के सामने ऐसा विभाजन टिकेगा नहीं। दरअसल सज्जनता या मृदु स्वभाव मानवी सदगुण है। वह कुछ स्त्री-पुरुषों में होता है, कुछ स्त्री-पुरुषों में नहीं होता। उसी तरह तानाशाही का रास्ता आदमी को राक्षस बनाने वाला है। केंद्रित हो जाने वाली सत्ता आदमी को तानाशाह बनाती है। वह हिटलर हो या इंदिरा गांधी, स्टेलिन हो अथवा सिरिमाओ। खास औरतों के समझे जाने वाले गुण भी कई दफा स्त्री-पुरुषों में समान रूप से होते हैं या नहीं होते हैं। महात्मा गांधी अथवा साने गुरूजी के समान मातृहृदय कितनी औरतों के पास होगा? लेकिन कष्ट, सेवा, मातृप्रेम, त्याग इत्यादि का आरोपण करके सीमित और संकुचित क्षेत्र में औरतों की शक्ति नष्ट की जाती है।

अब समय आ गया है कि न्याय और समता हासिल करने के लिए दलितों को संघर्ष करना पड़ेगा। उन्हें कोई मौका देकर न्याय देने वाला नहीं है। हर क्षेत्र में बहुसंख्या में पैठकर उन्हें अपना नेतृत्व स्थापन करना चाहिए। लायकी-नालायकी की, पात्र-अपात्रता की और योग्यता-अयोग्यता की भाषा निरर्थक है। आज तक जिनके हाथ में सत्ता रही उनकी योग्यता क्या थी, यह एक जांच का विषय है। लायकी मापने का कोई मापदंड

मौजूद नहीं है।

जब तक दलितों और औरतों का समावेश बहुसंख्या से 'जनता' पार्टी में नहीं होगा, तब तक 'जनता' केवल नाम में ही रहेगी। जाति तोड़ो सम्मेलन को इस संदर्भ में सचेत रहना चाहिए। नीति के खिलाफ जहां भी व्यवहार हो तो निदर्शन, सत्याग्रह तक जाना पड़ेगा। निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाकर उसे मनवाने की कोशिश जाति तोड़कों को करनी चाहिए—

१. सरकार, प्रशासन तथा संगठन में ६० फीसदी जगहें औरत, आदिवासी अस्पृश्य और पिछड़े मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखना।

२. औरत, आदिवासी, अस्पृश्य आदि दलितों के अलग संगठन बनाकर उन्हें 'कुल्हाड़ी का दांडा' (मतलब, उच्चवर्णियों के हाथ का खिलौना नहीं) बनाकर पार्टी के व्यापक क्षेत्र में काम करने का अवसर देना।

३. लिंगभेद को लेकर सार्वजनिक जीवन में किसी तरह की रोक न लगाना।

४. शासकीय तथा सावर्जनिक स्तर पर जाहिर रूप में होने वाले वर्णवर्चस्व-निदर्शक पंडित, मौलवी या पादरी द्वारा होने वाले संस्कारों की खिलाफत।

५. शासन की तरफ से मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा तथा अन्य धार्मिक संस्थानों को दिए जाने वाले अनुदान खत्म करने की और धार्मिक सम्मेलनों में सरकारी प्रतिनिधि भेजने की खिलाफत।

६. किसी तरह के भेदभाव प्रकट न हों, इस तरह की पोशाक लोकप्रिय बनाना।

७. चोटी,जनेऊ, दाढ़ी, गोषा, बुरका जैसे व्यक्ति-व्यक्ति में भेद पैदा करने वाले रूप चिह्नों और प्रतीकों के मानसिक बोझ से जनता को मुक्त करने की कोशिश करना।

८. सहभोज, हिन्दू-मुस्लिम घाल-मेल, छुआछूत विहीन पानी भरने की जगहें, जाति-धर्म निरपेक्ष बस्तियां, खेल-कूद, कला,साहित्य, नाटक इत्यादि के रचनात्मक कार्यक्रम करना।

९. दहेज प्रथा से ब्याह न कराया जाए, तथा विलास, ठाठ-बाट बंद हो, इसके लिए आन्दोलन चलाना तथा ब्राह्मण, मुल्ला या पादरी की मध्यस्थता वाली शादी और उपनयन संस्कारों का बहिष्कार।

१०. पाठ्य पुस्तकों, शिक्षा संस्थाओं और सार्वजनिक संस्थानों में किए जाने वाले जातिधर्मवाचक उल्लेखों का विरोध।

११. वर्ण-वर्चस्वगत रूढ़ और गुलामी के संस्कार खत्म करने की कोशिश करना।

१२. शासन द्वारा अंतरजातीय और अंतरधमीय विवाह करने वालों को नौकरियों में प्राथमिकता।

१३. जाति तोड़ो सम्मेलन संगठित ढंग से चलाना।

१९७७ के जाति तोड़ो सम्मेलन का दस्तावेज

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने, यह नहीं सोचा था कि जातिवाद के विरोध में किए गए प्रयास सफल नहीं होंगे। इस प्रकार के सुधारवादी उत्साह में क्षीणता बाद में आई है। अब इस प्रश्न की या तो सर्वथा उपेक्षा की जाती है या यह उत्तर देकर कि आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन के साथ जातिवाद स्वयं क्षीण होता जा रहा है, अत: आगे चलकर उसकी स्वयं मौत हो जाएगी – अपने को समस्या की उलझन से बचा लेते हैं। ऐसा नहीं है कि ये लोग भी समस्या के हल के लिए आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में ही प्रभावशाली प्रयास कर रहे हों, उसके विपरीत वास्तविकता यह है कि ये लोग मौके से अपने सुलभ-लाभ के लिए जातिवाद के कुपित अंगों को अधिक तीव्र बनाकर यथास्थितिवाद के पोषण द्वारा उसका यथावत् विनियोग कर लेते हैं। वास्तव में यह सामाजिक अपराध की मनोदशा है। देखा गया है कि राजनीति के क्षेत्र के कल के विद्रोही दल या नेतागण, बुद्धिजीवियों में क्रांतिकारी तत्वचिंतक, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं के निर्माता, प्रशासन के उच्चासीन पदाधिकारी, सभी समान रूप से जातिवाद के शिकार होते गए। इससे भी बुरी स्थिति यह है कि ऐसे लोगों का व्यक्तित्व दोहरा हो गया है। एक जातिवादी, दूसरा जाति-विरोधी। खेदजनक स्थिति यह है कि एक प्रकार से सारा देश इस स्थिति से गुजर रहा है। अंत:शाक्ता:बाह:शैवा:, समाध्ये च वैष्णवा:। धीरे-धीरे संपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक चरित्र इस पाखंड से घिरता जा रहा है। समान अपराध करने वालों में यह नैतिक साहस कहां रह जाता है कि वे पांखडवाद के विरोध में खड़े हो सकें। इस मानसिक हीनता में ही सभी प्रकार की क्रांतिकारी चेतनाएं न जाने कहां विलीन होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में जातिवाद को तोड़ने की बात अप्रासंगिक होती जा रही है, जबकि उसका नैतिक और तार्किक मुखौटा भी उतर चुका है।

जातिविरोधी आंदोलन की असफलता

यह मानसिक अवसाद जातिविरोधी आंदोलनों की असफलता का भी परिणाम है। जातिवाद का इतिहास समाज के विशिष्ट वर्ग की दृष्टि से अति प्राचीन है, किंतु तथ्य यह है कि देश के बड़े भाग पर वह बहुत बाद में प्रभावी हुआ। यह भी तथ्य है कि व्यवस्था के रूप में इसे कभी पूरे समाज पर लागू नहीं किया जा सका। वास्तव में समाज की दृष्टि से यह कभी व्यवस्था नहीं बन सकी। सौभाग्यवश जाति-विरोध का इतिहास आज से ढाई

हजार वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ था, किंतु दुर्भाग्यवश इधर के एक हजार वर्षों में विरोध का इतिहास दुर्बल होता गया और जातिवाद उत्तरोत्तर पुष्ट होता गया। पिछले दो सौ वर्षों की अंग्रेजी-दासता के काल में जब आधुनिक विश्व-सभ्यता के संपर्क में सवर्ण एवं सचेत भारतीय मन को आत्महीनता का बोध होने लगा, तब भारतीय जीवन में विशेषकर सवर्ण हिंदुओं में जातिवाद और रूढ़िवादी मान्यताओं के विरोध में सांस्कृतिक जागरण प्रारंभ हुआ। फलत: राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक के काल में दर्जनों महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों और अनेक संस्थाओं ने जातिवाद और अंधविश्वासों की सक्रिय आलोचना प्रारंभ की। कुछ अपवादों को छोड़कर ये सभी आंदोलन क्रांतिकारी नहीं सुधारवादी थे। इनके सुधार का प्रमुख क्षेत्र था–सवर्ण हिंदुओं का उच्च वर्ग। किसी भी स्थिति में यह संपूर्ण आंदोलन वर्गीय स्वार्थ से ऊपर नहीं उठ सका। वेद की ओर, वेदांत की ओर, समदर्शी ईश्वर और आत्मा की ओर देखने का नारा दिया गया।

इसके लिए प्राचीन मान्यताओं और शास्त्रवचनों की ही यत्किंचित् उदार व्याख्या करने की चेष्टा की गई। कुछ अस्वीकार्य मान्यताओं को बाद की प्रक्षिप्ति बताया गया। इस्लाम तथा ईसाई प्रभाव के कारण एकता, भ्रातृत्व और सेवा के नये भावों को अपने साथ जोड़ने की चेष्टा की गई । सामयिक लाभ के साथ-साथ इसका स्थायी प्रभाव यह हुआ कि समाज में सेवा और सुधार को कुछ संस्थागत रूप मिला। आश्चर्य है कि इस पूरे काल का कोई भी उल्लेखनीय सामाजिक लाभ समाज के पीड़ित वर्ग तक नहीं पहुँचा। सवर्ण-वर्ग को भी जो विशेष लाभ मिला, वह अधिकांश में राजनीतिक था, जिसका अंतिम पर्यवसान था– सवर्ण हिंदुओं को हिंदुस्तान के रूप में तथा मुसलमानों को पाकिस्तान के रूप में स्वराज्य का मिलना। भारतीय नवजागरण के दो सौ वर्षों के इतिहास का संक्षेप में यही मूल्यांकन है। इसकी प्रभावहीनता स्वराज्य के बाद और भी स्पष्ट हो गई है, जब देखा गया कि जातिवाद एवं अंधविश्वासों को किस प्रकार नये संदर्भ में व्यापक प्रतिष्ठा मिलती जा रही है। उस काल की परिणति आज के सचेत वर्ग के मानसिक अवसाद में दिखाई दे रही है, जिसके प्रभाव में वह जाति-समस्या से पलायन करता जा रहा है।

जातिवाद की व्यूह रचना

जातिवाद अकेला नहीं है। उसका भरा-पूरा परिवार है, जो परस्पर में सहोदर एवं संयुक्त-सा है। इनका संबंध अन्योऽन्याश्रित एवं अविनाभावी है। ये एक-दूसरे पर आश्रित होकर पोषण प्राप्त करते हैं और अपने लिए दूसरे को भी कायम रखते हैं। पिछले हजारों वर्ष के बीच एक विशिष्ट वर्ग के द्वारा इसे सामाजिक जीवन में अकाट्य व्यवस्था के रूप में खड़ी करने का चतुर्दिक् प्रयास किया गया है। ब्राह्मणवाद का गौरव और शौर्य इसी में हैं। इसकी उदार एवं अनुदार संपूर्ण विशेषताएं इसी प्रयास में प्रकट हुई हैं। इस ऐतिहासिक

प्रयास के फलस्वरूप जातिवाद रूढि या अंधविश्वास मात्र नहीं रह गया, प्रत्युत उसका विकास एक धर्म, दर्शन और संस्कृति के रूप में हुआ है। उसे समाज-व्यवस्था से लेकर अध्यात्म तक पहुंचाने की भरपूर चेष्टा की गयी है। यह ठीक है कि जाति की समस्या किसी न किसी रूप में अन्य देशों में भी रही है, और किसी अंश में आज भी है। किन्तु भारतवर्ष की जाति-समस्या से उसकी कोई तुलना नहीं है।

यहां जाति-व्यवस्था की पृष्टि के लिए दर्शन के क्षेत्र में सहस्त्रों वर्षों तक घोर प्रयास किया गया है। दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ईश्वर, आत्मा, देव, प्रकृति आदि से संबंधित विचार भी जातिवाद हैं। जातिवाद की पुष्टि में ही इन सबका साक्षात् या के समर्थक परोक्ष विनियोग किया गया है। ईश्वरवाद ,आत्मवाद, प्रकृतिवाद, प्रामाण्यवाद आदि की व्याख्या जातिवाद के समर्थन में ही की गई है। धर्मशास्त्रों का ही नहीं काव्य, नाटक तथा इतिहास पुराणों का भी प्रधान लक्ष्य जातिवाद की स्थापना ही है। भाषा और क्षेत्रीयता की महत्ता और उनकी पवित्रता की भावना घनिष्ठ रूप में जातिवाद से जुड़ी है। जातिवाद जहां अनेकानेक विघटनकारी मान्यताओं को जन्म देता रहा है, वहीं भाषावाद और क्षेत्रीयता के आग्रह को भी पुष्ट करता है। ये सारी मान्यताएं मिलकर एक ऐसी शाश्वतवादी अवधारणा को जन्म देती हैं, जिसमें इन्हें निरपेक्ष सनातन और अकाट्य होने का जैसे प्रमाण मिल जाता है। सभी संप्रदाय प्रवर्तकों ने अपने आचार्यत्व की स्थापना के लिए जातिवाद समेत सभी ब्राह्मणवादी अवधारणाओं का समर्थन एवं पोषण किया। उसी परंपरा में परवर्ती संतों और सुधारकों ने भी अपने को स्थापित किया, इसलिए उनमें वह अपेक्षित साहस नहीं रहा कि उसकी अकाट्यता और प्रामाणिकता को चुनौती देते। उनके सुधारवाद का आदि और अंत इतने मात्र में था कि वे या तो नवीन व्याख्या से प्राचीन का ही समर्थन करें या पुराने विधि-विधान में और राजनीति में कुछ समझौतावादी प्रवृत्तियों को जोड़ दें।

जाति-व्यवस्था का घनिष्ठतम संबंध जीविका और वृत्ति से भी रहा है। धन, धरती और सम्मान के बंटवारे का वही प्रमुख आधार रहा है, जो आज भी टूटा नहीं है। सवर्ण समाज के सामंतवादी ढांचे की रक्षा करने का औचित्य उसका सनातन जातिवाद है, जो धर्म-दर्शन और संस्कृति से समर्थित है। इस प्रकार प्राचीन भारत में जातिवाद की रक्षा में एक ऐसी व्यूह रचना की गई है। जिसको किसी भी एकांगी आक्रमण से दुर्बल नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक सांस्कृतिक चेतना

ऊपर जातिवाद का जो चित्र खींचा गया है उसका पूरा भान आज समाज के सचेत वर्ग को भी प्राय: नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है। इस देश में जो शताब्दियों तक जातिवादी और जाति-विरोधियों के बीच जीवन के सभी क्षेत्रों में वैचारिक और सामाजिक संघर्ष हुआ

था, उस संघर्ष की प्रतिक्रियास्वरूप धर्म, दर्शन और संस्कृति का जो दो विरोधी धाराओं में विकास हुआ और उसके बीच जो साहित्य विकसित हुआ, उसका अध्ययन नहीं के बराबर हुआ है। बुद्ध और महावीर तथा उनके अनुयायियों द्वारा लिखित जातिविरोधी साहित्य पालि और प्राकृतों में भरा पड़ा है। इस दृष्टि से परवर्ती संस्कृत बौद्ध दर्शन भी कुछ कम नहीं है। इस विरोधी धारा के साहित्य को दृष्टि में रखकर वैदिक और पौराणिक साहित्य का यदि अध्ययन किया जाए तो वाद-प्रतिवाद के रूप में विकसित जातिवादी और जातिविरोधी प्रवृत्तियों का और उसके व्यापक सामाजिक प्रभाव का आकलन हो सकता है। ऐतिहासिक कारणों के बीच दुर्भाग्यवश शताब्दियों से इस देश पर जातिवादी एवं ब्राह्मणवादी साहित्य का और उसकी देवभाषा संस्कृत का कब्जा हो गया। फलत: भारतीय संस्कृति के अध्ययन की एक क्षुद्र सीमा हो गई। वेदों से चलकर पुराणों तक की इसी एकांगी भारतीय संस्कृति का परिचय सामान्य जन को दिया जाने लगा। इस प्रक्रिया में धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं समाज की जाति-विरोधी प्रवृत्तियों का परिचय हर प्रकार से दबा दिया गया।

यदि आज के भारतीय को इसका ज्ञान हो सके कि हमारी अपनी ही धरती पर हमारे ही प्रतिभाशाली पूर्वजों द्वारा शताब्दियों तक जीवन और दर्शन के हर क्षेत्र से जातिवाद को उखाड़ दिया गया था, तो उसमें एक नया गौरव आ जाए। जब उन्हें इसका पता चले कि भारतीय इतिहास का एक ऐसा भी स्वर्णयुग था, जिसमें आज के परिचति जातिवादी धर्म और दर्शनों से श्रेष्ठ एक दूसरा मानववादी धर्म, दर्शन और संस्कृति भी थी, जिनका शताब्दियों तक यहां की समाज रचना पर व्यापक प्रभाव पड़ा था तो उन्हें आज भी उसके विरोध में खड़ा होने का साहस मिलेगा। इस स्थिति में वे सारे संसार में अपना सिर ऊंचा करके कह सकेंगे कि विश्व में जब मानववाद अंधविश्वासों के जाल में आबद्ध था, तब हम सभी दिशाओं में विशुद्ध मानववाद का जयघोष कर रहे थे। अगले जातिविरोधी आंदोलनों के लिए इस सांस्कृतिक चेतना का केवल ऐतिहासिक मूल्य नहीं है, अपितु आज भी भारतीय जीवन में जो उदार प्रवृत्तियां उपेक्षित एवं अपमानित होकर प्रसुप्त पड़ी हैं, उनकी गतिविधि एवं स्वभाव को समझने का और उनको संगठित करने का अवसर मिलेगा। इतिहास की उन जातिविरोधी मानववादी शक्तियों को पुनरुज्जीवित करना और नये संदर्भ में उसे क्रांतिकारी-शक्ति के रूप में खड़ा कर देना, जातिविरोधी आंदोलन का एक महान कार्य होगा।

शिक्षा का मानवीकरण

जाति-भावना निकालने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है–शिक्षा । किसी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन के पहले शिक्षा में परिवर्तन आवश्यक होता है। किंतु हमारी शिक्षा का वातावरण पंरपरावादी मान्यताओं के यशोगन से भरा रहता है। रहस्यवादी, रूढ़िवादी एवं सामंतवादी साहित्य से शिक्षार्थी की उठती जिज्ञासा-वृत्ति को सदा के लिए दबा दिया जाता

है। पाठ्यक्रम एवं शिक्षा संस्थाएं, रेडियो और समाचारपत्र,धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाएं विद्यालीय शिक्षण या जनशिक्षण के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। इनके द्वारा नई पीढ़ी पर जो प्रभाव छोड़ा जा रहा है उससे निम्नलिखित धारणाएं बनती हैं–मनुष्य दीन-हीन, पतित एवं अशक्त प्राणी है, अपने उद्धार के लिए उसे देवादि अप्राकृतिकशक्तियों की शरण जाना चाहिए। मनुष्यों में विशिष्टता या विभूतिमत्ता सहज रूप से या परंपरा से आती है। हमारा जो कुछ प्राचीन था वह श्रेष्ठ था, जो आधुनिक है वह उससे घटिया है। आज की वैज्ञानिक शिक्षा या उसकी नयी उपलब्धियां आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए यद्यपि ग्राह्य हैं किंतु उनके तथ्य मानव के अस्तित्व तथा उसके स्वभाव पर नहीं घटते, इत्यादि। इस संपूर्ण शिक्षा का दुष्फल होता है – मानव का अवमूल्यन और उसकी सर्जनशीलता का ह्रास। शिक्षा की यह पृष्ठभूमि जातिवाद को प्रतिष्ठित रखने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसलिए जातिविरोधी आंदोलनों की एक प्रमुख दिशा होनी चाहिए शिक्षा का मानवीकरण।

जातिवाद का नया आयाम : प्रजातंत्र

जातिवाद ने अनेकानेक अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में ऐंतिहासिक यात्रा की है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न परिस्थितियों में उसने अपने नये-नये आयाम बदले हैं। यद्यपि सभी स्थितियों में मुट्ठी भर सवर्ण वर्ग को लाभान्वित करना और बहुसंख्यक को उससे वंचित रखना, जो उसका स्वभाव बन चुका था, उसे उसने कभी नहीं छोड़ा । इस सहस्राब्दी में जातिवाद पर सबसे बड़ा धक्का स्वातंत्र्य-आंदोलन के कारण लगा, जिसने उसको एक बार विचलित कर दिया। स्वराज्य के साथ भारतीय जीवन के अधिकांश पर राजनीति का प्रभाव बढ़ा, जिसकी शर्त प्रजातंत्र था। प्रजातंत्र की परंपरा के अनुसार यह माना गया था कि वह राजनीति की सिर्फ यांत्रिक विधि नहीं है, प्रत्युत एक जीवन-दृष्टि भी है जो समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के द्वारा संपूर्ण ऐहिक जीवन को मानवीय संदर्भ प्रदान करती है। यह समझा गया था कि वर्ण, जाति ,कुल, धर्म, लिंग आदि के वैशिष्ट्य का विरोध प्रजातंत्र का सहज प्रतिफलन है। यह ठीक भी है क्योंकि पाश्चात्य देशों ने इसके द्वारा अपनी परंपरागत सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं में व्यापक परिवर्तन किया था। प्रश्न है कि भारतवर्ष में उसके परिवर्तन की धार कुंठित क्यों हो गई? यहां वह सत्तारोहण की एक यांत्रिक प्रक्रिया क्यों बनती गई? सबसे आश्चर्यजनक घटना यह है कि जातिवाद से उसका विरोध कैसे मिटता गया? उससे जातिवाद का तालमेल कैसे बैठ गया, जिससे जातिवाद को घाटा नहीं हुआ, प्रत्युत नये संकटकाल में उसे एक नया पोषण मिल गया। आश्चर्य है कि प्रजातंत्र के आने पर भी जातिवाद में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। जातियों में परस्पर विलगाव और अविश्वास की भावना को उसने कम नहीं किया। इतना ही नहीं, जिस क्षेत्र में जो बहुसंख्यक जाति है और राजनीतिक लाभ उठाने में अधिक

सक्षम है, उसमें दमनकारी प्रवृत्तियां उभरी हैं, जिसका दुष्फल अन्य जाति वालों को भोगना पड़ रहा है। विशेषकर इससे अवर्ण जातियों के उत्पीड़न के लिए इधर नयी-नयी सामंतवादी शक्तियाँ खड़ी हो रही हैं।

इस प्रकार भारतीय प्रजातंत्र ने अपने जीवन के ३० वर्षों में धर्मों, संप्रदायों, जाति, कुल, कुटुंब आदि की परंपरागत मान्यता एवं प्रतिष्ठा को तनिक भी छेड़ा नहीं है। धर्मनिरपेक्षता उसका एक ऐसा दिशानिर्देशक आदर्श है, जो राज्य और राजनीति को अपेक्षित रूप में धर्मनिरपेक्ष तो नहीं कर पाया किंतु सभी धर्मों, संप्रदायों, रूढ़ियों एवं परंपराओं से निरपेक्ष एवं उदासीन रहकर उनकी सभी विकृतियों को फलने-फूलने का अव्याहत अवसर प्रदान कर रहा है। इस प्रोत्साहन के फलस्वरूप देश में पिछले तीस वर्षों में जितने नये-नये संप्रदाय, धर्म, अवतार, तंत्र, मंत्र एवं विविध प्रकार के अंधविश्वास संस्थागत रूप में प्रतिष्ठापित किए गए, उतने पिछली अनेक शताब्दियों में भी नहीं हो सके थे। इसके विपरीत पूरे देश में ऐसी सक्रिय संस्थाएं नहीं रह गईं, जो समाज-सुधार के कार्य करें, जैसा कि स्वातंत्र्य पूर्व काल में अनेकानेक संस्थाओं द्वारा प्रभावशाली कार्य हुए। यह बड़ी ही निरुत्साहजनक स्थिति है कि भारतवर्ष में प्रजातंत्र एक प्रतिक्रियावादी समझौतावादी शक्ति के रूप में उभर रहा है। इसके दोषों के निराकरण में जाति-विरोधी आंदोलन का महत्त्व स्पष्ट होगा।

नवब्राह्मणवाद

सुधारवाद की प्रक्रिया में से नवब्राह्मणवाद का जन्म होता है, जो जाति-विशेष के लिए सम्मानप्रद सुधार मालूम होता है, किन्तु जातिव्यवस्था को तोड़ने में उसका कोई योगदान नहीं होता। सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए कुछ जातियां सवर्णों के अनुकरण पर अपने में ऊँच-नीच का भेदभाव और श्रम, सेवा, सादगी तथा ग्रामीण जीवन के प्रति हीनभाव जगाती हैं। सवर्णीकरण की उनकी यह प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती, क्योंकि जातिवादी घेरे में प्रतिष्ठा के जातिवादी मानदंड से अपने को नापने के लिए स्वयं सवर्णों के चाल-चलन का अनुकरण करना एक प्रकार का सुधारवाद मान लिया जाता है। किन्तु इसके दो बड़े दुष्फल होते हैं। एक ब्राह्मणवाद की प्रतिष्ठा पहले से कहीं अधिक बढ़ जाती है और दूसरे नये सवर्णों द्वारा इतर शूद्र जातियों का अपमान एवं उत्पीड़न पहले से अधिक बढ़ जाता है। यही कारण है कि दक्षिण में अब्राह्मणों द्वारा एक ओर ब्राह्मण जाति का विरोध हुआ तो दूसरी ओर ब्राह्मणवाद को महत्त्व प्राप्त हो गया। वहां की अंत्यज जातियों के उत्पीड़न और अपमान के लिए पुराने ब्राह्मणों के अतिरिक्त नई ब्राह्मणवादी अब्राह्मण-जातियां भी खड़ी हो गईं। उत्तर भारत में भी इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला है। पहले इस कार्य को जातीय सभाओं द्वारा प्रोत्साहन मिलता था, अब उसकी पूर्ति राजनीतिक शक्ति के

द्वारा हो रही है।

आधुनिकता की समस्या

नव-ब्राह्मणवाद से ही कुछ मिलती-जुलती समस्या आधुनिकता की है। जीवन और चिंतन के क्षेत्र में आधुनिकता का योगदान कुछ कम नहीं है। आधुनिकता यद्यपि अभी स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं है तथापि उसकी बनती हुई कुछ अवधारणाएं हैं। वह है–विचार की वैज्ञानिक परिदृष्टि और परंपरागत आचार में सुविधानुसार छूट। आधुनिकता के सामने परंपरागत मान्यताओं को महत्त्वहीन हो जाना चाहिए था, किंतु देखा गया कि बाहर से आरोपित होने के कारण यह जीवन का सहज अंग नहीं बन पाती, यद्यपि उसका लाभ एक विशेष वर्ग को मिला है। किसी नई अवधारणा को जीवन का सहज अंग बनने के लिए उसका परंपरा से जुड़ना आवश्यक होता है। अवश्य ही परंपरा को अस्वीकार करना भी आवश्यक है, किंतु उस के सक्रिय एवं सफल प्रतिकार के लिए उसका बोध भी आवश्यक होता है। आधुनिकतावादियों की गलती यह है कि उन्होंने समाज में रहकर उसकी मान्यताओं को चुनौती नहीं दी और न उसका प्रतिफल ही भोगा। अतः ऐसे लोगों का जीवन स्वयं व्यक्तिगत एवं कृत्रिम बन जाता है। इस प्रक्रिया में एक ऐसे वर्ग की सृष्टि हो रही है, जिसमें आत्मरति और आत्मतृष्टि के मनोवैज्ञानिक विकार उभर रहे हैं। ये लोग समाज से आंख मूंदकर अपना सीमित संसार बना लेते हैं और वास्तव में उससे सदा भयग्रस्त रहते हैं।

समतावादी आंदोलन और जातिवाद

स्वातंत्र्य आंदोलन के साथ फ्रांस और रूस की ऐतिहासिक क्रांतियों का प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ना स्वाभाविक था। उसके फलस्वरूप समतावादी विचारधाराओं ने अनेक वामपंथी राजनीति दलों को जन्म दिया। उसका प्रमुख प्रेरणा-स्रोत था, मार्क्स का ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद। यह मानकर कि सभी सामाजिक विषमताओं के मूल में आर्थिक विषमता है, जो वर्गीय स्वार्थों के बीच विकसित हुई है, अतः वर्ग-संघर्ष के माध्यम से आर्थिक विषमता को हटाकर ही सामाजिक एकता स्थापित की जा सकती है, इस मान्यता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया। समतावादी वामपंथी सिद्धांतों के आवेश में इस ओर ध्यान नहीं दिया गया कि भारतवर्ष में सामाजिक और आर्थिक विषमता के मूल में जातिवाद की भी भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है। आर्थिक वर्गों के साथ वर्णों का घनिष्ठ संबंध भारतवर्ष की अपनी विशेषता थी, जिसकी ओर ध्यान न देने से वामपंथी आंदोलनों को जनता में क्रांतिकारी चेतना जगाने में अनावश्यक विलंब हुआ। उनके प्रज्ञावाद ने उनके क्रांतिरथ के चक्कों को जातिवाद के पंक में ऐसा फंसा दिया है कि उनकी गति भी प्रजातंत्र के समान ही निराशाजनक होती जा रही है। समतावादी विचारों के

लिए यह आवश्यक है कि वह भारतीय समाज में व्याप्त 'सवर्ण बनाम अवर्ण' के ऐतिहासिक द्वंद्वों का अध्ययन करें और अपने वैज्ञानिक अध्ययन में उसे आत्मसात् करें। उन्हें इस तथ्य का निरीक्षण करना होगा कि भारतवर्ष में हिंदू-मुस्लिम-क्रिश्चियन-सिक्ख-दलित-ब्राह्मण-अब्राह्मण आदि के अंतर्गत फैली सामाजिक विषमताओं का कारण जैसे आर्थिक है, वैसे ही इस देश का परंपरागत सवर्ण-अवर्ण का व्यापक भेद भी है। इसे न देखना भारतीय समाज की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को न देखना होगा।

चतुर्दिक प्रहार की आवश्यकता

भारतीय समाज के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि जातिवाद कोई एकांगी समस्या नहीं है। उसके आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक ऐसे व्यापक आयाम हैं, जो यहां के परंपरागत धर्म, दर्शन और संस्कृति से समर्थित एवं समरस हो चुके हैं। इसलिए जातिवाद के विरोध में अपेक्षित सफलता न मिलने का प्रमुख कारण था, उस पर एकांगी प्रहार करना। संपूर्ण भारतीय इतिहास में भगवान् बुद्ध ने ही सर्वप्रथम इस पर सबसे बड़ा प्रहार किया था, जिसने जातिवाद तथा उसके समर्थन में खड़े धर्म, दर्शन और संस्कृति को शताब्दियों तक मूर्च्छित रखा। उस आंदोलन की कमी यह थी कि समाज के जातिवादी अर्थतंत्र को तोड़ने का प्रयास नहीं किया गया। बुद्ध ने यद्यपि जातियों के साथ जीविका के संबंध का जोरदार खंडन किया, जिसके क्रांतिकारी प्रभावों से आगे चलकर क्षत्रियों का राजसत्ता पर एकाधिपत्य समाप्त होने लगा और बड़े-बड़े शक्तिशाली शूद्र राज्यों का भी आविर्भाव हुआ। इतनी महान् उपलब्धि के बाद भी श्रेष्ठी वर्ग का प्राचीन अर्थतंत्र यथावत् बना रहा। संघ को मिली संपत्ति व्यक्ति की नहीं होती थी। और उसका वितरण भी आवश्यकतानुसार समान होता था, किन्तु संघ के इस आदर्श का प्रयोग समाज में नहीं किया गया। संभवतः भगवान् बुद्ध का इस ओर ध्यान भी नहीं गया था कि सामाजिक दुःख के कारणों में तंत्र के रूप में अर्थ का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहना नहीं है कि बीसवीं शताब्दी में यह तथ्य इतना उजागर हो चुका है कि उसकी प्रधानता को स्वीकार न करते हुए भी अपने को क्रांतिकारी घोषित करना बौद्धिक अपराध होगा। इस देश में आर्थिक विषमता जाति-व्यवस्था में इतनी सहयुक्त रही है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना तथ्यहीन होगी। इस स्थिति में वर्णवाद एवं वर्ग-स्वार्थ दोनों पर साथ-साथ प्रहार होना चाहिए।

एक विशेष धर्म और संस्कृति ने जातिवाद को भारतीय अंतरमन में एक श्रेष्ठ मानवीय मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई है। जिस भारतीय-मन से क्रांति की ज्वाला उठ सकती थी, त्रिकालदर्शी ऋषियों ने उसे अपने जातिवादी धर्म, रहस्यवादी दर्शन और ब्राह्मणवादी संस्कृति से ऐसा शांत, गतिहीन और यथास्थितिवादी बना दिया कि उसमें दैव, रहस्य, अधंविश्वास, तंत्र,मंत्र , ज्योतिष, भूत-प्रेत और भगवान् आदि तो पनप सकते हैं किंतु

इंकार, प्रतिकार और असहयोग आदि अपना सिर भी नहीं उठा सकते। जातिवादी क्रूरता की पराकाष्ठा इसमें है कि जिस वर्ग के लाभ में इसे खड़ा किया गया सिर्फ उसी के मन की यह दशा नहीं है, अपितु उस वर्ग की भी वही मनोदशा है, जिसे उस व्यवस्था से हानि उठानी पड़ी है। इस क्रांति विरोधी मानस को सुधारवादी कानूनों और समन्वयवादी राजनीति से केवल सुला दिया जा सकता है, क्रांतिकारी नहीं बनाा जा सकता। क्रांति की दिशा में उसे ले चलने के लिए उसकी पंरपरागत मान्यताओं पर चतुर्दिक प्रहार करना होगा, जिसका लक्ष्य होगा–जातिवादी धर्म, दर्शन, संस्कृति, शिक्षा, अर्थव्यवस्था, राजनीति और कानून।

कार्य का क्षेत्र और नेतृत्व का प्रश्न

जातिविरोधी आंदोलनों के नेतृत्व का प्रश्न भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। हमें इसका भी ध्यान रखना होगा कि इस देश के लिए जातिवाद एक नैतिक और सांस्कृतिक प्रश्न ही नहीं है, अपितु एक राष्ट्रीय समस्या भी है। इस देश की स्वतंत्रता की रक्षा और विकास के लिए जिस प्रकार की राष्ट्रीयता एवं भावनात्मक एकता की अपेक्षा है, जातिवाद क्या उसे पनपने देगा? थोड़ी देर के लिए सवर्ण अवर्ण के बीच की समस्या को भूल जाएं और मान लें कि सारा राष्ट्रीय उत्तरदायित्व केवल सवर्ण या केवल अवर्ण जातियों पर है, तो उस स्थिति में क्या जातिवाद के दोष बाधक नहीं रह जाएंगे? उत्तर के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। मध्यकाल के दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास का सारा उत्तरदायित्व सवर्णों पर ही था, जब शूद्र जातियों का हस्तक्षेप नहीं था, क्योंकि विवश होकर वे राष्ट्रीय समस्याओं से उदासीन एवं उपेक्षित स्थिति में अलग पड़ी हुई थी। उस काल में इस देश का राष्ट्रीय जीवन, जो सब प्रकार से छिन्न–भिन्न हुआ, उसका सारा उत्तरदायित्व सवर्णों पर ही तो था। उस काल में उनके बीच जातिवाद का जो नग्न तांडव हुआ, वह अभी दूर की बात नहीं है। जातिवाद वह विष है जो किसी भी स्थिति में राष्ट्रीय एकता और भावनात्मक एकता को फैलने का अवसर नहीं देगा।

स्पष्ट है कि पूरे राष्ट्रीय जीवन में इस समस्या का समाधान करना होगा। किंतु उसका मर्म–बिंदु असवर्ण जातियां हैं, उनकी दृष्टि से जिस मात्रा में सामाजिक परिवर्तन होंगे उसी मात्रा में संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन में समता, स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के मूल्य भी प्रतिष्ठित होंगे।

n

जाति तोड़ो सम्मेलन में पारित प्रस्ताव

प्रस्ताव संख्या-१

धार्मिक पाखंड पर नियंत्रण

जैसे यह निर्विवाद है कि धर्मों की नैतिक मान्यताओं को आदर एवं प्रोत्साहन मिलना चाहिए, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि उनके द्वारा फैलाए गए अनाचार एवं पांखड पर रोक लगे। आशा की जाती थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के साथ–साथ उत्तरोत्तर धार्मिक अंधविश्वास और रूढ़ियां समाप्त होने लगेंगी। किंतु इसके विपरीत लोकतंत्र के पिछले दशकों में तंत्र–मंत्र, ज्योतिष आदि के प्रति विश्वासों में और नये–नये भगवान, योगी, साधु एवं संप्रदायों की ऐसी बाढ़ आ गई जिसमें समाज का शिक्षित समुदाय भी बहता गया है। धर्म के ऐसे व्यवसायी लोगों ने लोकतंत्र द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता का अर्थ यह मान लिया है कि धर्म से संबंधित सभी प्रकार के अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को पुष्ट करने और फैलाने में वे पूर्ण स्वतंत्र हैं तथा उनकी दृष्टि में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है कि राज्य को उनके इन कामों को रोकने का कोई अधिकार नहीं है। इन नये–नये भगवानों साधुओं और संप्रदायों के केंद्रों में एक ओर भ्रष्टाचार फैलने का अवसर मिलता है तो दूसरी ओर जातिवाद को नये ढंग से प्रश्रय मिल रहा है यहां तक कि जिस जाति का भगवान, साधु या योगी होता है, उसी जाति के बहुसंख्य भक्तगणों का वहां जमाव होने लगता है। इस प्रकार धर्म की आड़ में एक नयी प्रक्रिया से जातियां संगठित होने लगी हैं। धार्मिकता के आवरण में जातिवाद के साथ वहां सारी सामंतवादी प्रवृत्तियां विकसित हो रही हैं। और पीड़क वर्ग के सम्मान एवं अहंकार को बढ़ावा मिल रहा है। सम्मेलन यह मानता है कि धर्म–निरपेक्षता का यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि धर्म के नाम पर राष्ट्र के नैतिक स्वास्थ्य और बुनियादी मानव–मूल्यों के प्रतिकूल पाखंड, अंधविश्वास और कुप्रथाओं के प्रचार की और लूट खसोट की खुली आजादी हो और एक जनतांत्रिक सरकार उसकी मूक दर्शक बनी रहे। इस दृष्टि से सम्मेलन यह संकल्प करता है कि वह स्वयं समाज में विकास की इस धारा के प्रतिकार का प्रयास करेगा और सरकार से मांग करता है कि धर्म–निरपेक्षता की स्पष्ट व्याख्या करे और इस संबंध में सार्वजनिक नीति की घोषणा करे।

प्रस्ताव संख्या -२

जाति विरोधी प्रयासों को प्रोत्साहन

समाज के जातिवादी घेरे को तोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि देश में व्यक्ति, समूह या संस्था के रूप में जाति विरोधी जो प्रयास किए जा रहे हैं, उन्हें समाज एवं शासन की ओर से आवयक सुविधाएं एवं प्रोत्साहन प्राप्त हो।

१. ऐसी संस्थाएं (सामाजिक) गांवों में जाकर जातिवाद के विरोध में जनमत तैयार करें और ऐसे कार्यक्रमों को अपने हाथ में लें, जिनसे लोकजीवन में ऊंच-नीच के भाव तथा अस्पृश्यता के विविध रूप समाप्त हों।

२. अंतरजातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे विवाह को राष्ट्रीय चरित्र का परिचायक और विशेष योग्यता माना जाए। और उसका लाभ संबंधित स्त्री-पुरूष और उनकी संतान को प्राप्त हो।

३. इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि शासन और समाज के सहयोग से प्रत्येक जिले तथा उसके विशेष स्थानों में अंतरजातीय विवाह मंडप की योजना चालू की जाए जिसके अंतर्गत सुविधापूर्ण एक भवन का निर्माण हो, जहां विवाहोत्सव संपन्न करने के लिए आवश्यकतानुसार शादी को पंजीकृत कराने तथा वर-वधू और उनके निमंत्रितों के आवास की सुविधा हो। इस मंडप योजना की व्यवस्था की जिम्मेदारी एक अर्ध-शासकीय समिति के द्वारा हो जिसका मंत्री जिलाधीश या उनका प्रतिनिधि हो और सभापति समाज-सेवी सुयोग्य अद्विज नागरिक हो।

प्रस्ताव संख्या-३

शिक्षा की दिशा में प्रयास

संस्कार शोधन का प्रमुख माध्यम शिक्षा है। शिक्षा के अंतर्गत सिर्फ स्कूली शिक्षा ही नहीं, प्रत्युत जन-शिक्षण भी महत्त्वपूर्ण है। शिक्षण संस्थाएं, पाठ्यक्रम, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र के सिद्धांत,प्रवचन और कार्यक्रम शिक्षा के प्रभावशाली माध्यम हैं। इन सबका उपयोग मानव-मूल्यों की श्रेष्ठता को सिद्ध करने में और मनुष्य की सृजनशीलता को उभारने में होना चाहिए। इसके विपरीत हमारी शिक्षा का प्रमुख स्वर ऐसा है, जिससे सामंतवाद, आभिजात्य, जाति-श्रेष्ठता और अपने-अपनें क्षेत्रों एवं भाषाओं का आग्रह पुष्ट होता जा रहा है। वर्तमान शिक्षा का भारतीय मन पर एक दूसरा प्रभाव यह होता है कि मनुष्य स्वयं में असहाय एवं दुर्बल है। उसे अन्य शक्तियों का या समाज के प्रभावशाली वर्ग का आलंब, कृपा एवं शरण चाहिए। शिक्षा की मानव विरोधी धाराओं को आज रोकना नितांत आवश्यक है।

शिक्षा के द्वारा उन ऐतिहासिक और वैज्ञानिक तथ्यों को सामने नहीं लाया जाता जिनसे

यह स्पष्ट हो सके कि मानव-जाति के आज तक के विकास का एकमात्र श्रेय मनुष्य को है। धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, कला के क्षेत्र में जो महान विकास हुआ है वह मानव की प्रतिभा और श्रम का फल है। भारतीय संदर्भ में शिक्षा का यह भी एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह उस छिपाए गए ऐतिहासिक तथ्य को उभारे कि आंरभ में जातियां नहीं थीं। बाद में सैकड़ों समूहों के मिश्रण से वर्तमान भारतीय समाज बना है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के विराट रूप के बनने में भी भीतरी और बाहरी संस्कृतियों का उत्कृष्ट योगदान रहा हैं। बाद की स्थितियों में यह जातिवाद वर्ग स्वार्थों से प्रेरित अमानवीय, कृत्रिम और अनैतिक रूप से सारे समाज पर आरोपित हुआ है। इस स्थिति में शिक्षा द्वारा देश में एक ऐसे वातावरण का सृजन होना चाहिए जिसमें यह तथ्य उजागर हो कि ऐतिहासिक कालों में अनेकानेक जातियों और संस्कृतियों से बना भारतीय जीवन वस्तुतः एक परिवर्तनशील जीवन प्रवाह रहा है, जिसमें विश्व-संस्कृति के निर्माण की क्षमता थी, जिसे जातिवाद ने कुंठित कर दिया। वर्तमान शिक्षा के द्वारा इन ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकट नहीं किया जाता कि हमारे देश में जातिवाद के विरोध में प्राचीन काल में कैसे-कैसे प्रबल आंदोलन हुए थे, आज भी उसके अवशेष देखे जा सकते हैं। शिक्षा के द्वारा उन अंतरधाराओं को उजागर करके नये संदर्भ में उसे नयी दिशा देकर समाज से जातिवादी मान्यता को दूर किया जाना आवश्यक है।

इस कार्य में आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियाँ भी महत्तवपूर्ण हैं। विज्ञान की विविध शाखाओं ने विश्व, मानव-जीवन और मानव-समाज की संरचना का महत्वपूर्ण अध्ययन किया है। उससे जीवन और जगत से सबंधित अज्ञान और उसकी रहस्यमयता को बहुत कुछ दूर किया जा सकता है। शिक्षा का यह कर्तव्य है कि वह उन वैज्ञानिक उपलब्धियों के आधार पर जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करे, जिससे प्रांरभ से लेकर सभी स्तर के विद्यार्थियों में तथा जन-शिक्षण द्वारा जन-सामान्य में पौराणिक आख्यानों तथा परंपरागत विश्वासों के आधार पर जातिवादी अंधविश्वास जन्म न लें सकें। उनके स्थान पर सब तरह से मानव की समता और मानव जाति की श्रेष्ठता की दृष्टि उजागर हो। उसके लिए यह आवश्यक है कि एक ओर नये पाठयक्रम और पाठय-ग्रंथों का निर्माण हो तथा दूसरी ओर प्रारंभिक कक्षा से विश्वविद्यालय स्तर तक के शिक्षालयों को जाति-विरोधी, वर्ण-विरोधी, वर्ग विरोधी संस्कृति के प्रचार एवं कार्यान्वयन का केन्द्र बनाया जाय।

विषमता की संभावना और श्रेष्ठता के भाव को जड़ से ही खत्म करना होगा। इसके लिए जरूरी है कि प्राथमिक शिक्षा के लिए एक जैसे पड़ोसी स्कूल स्थापित किए जाएं। इन स्कूलों में मुहल्ले ,गांव, कालोनी या नगर के सभी परिवारों के बच्चे एक साथ पढ़ें। प्राथमिक स्तर से उच्चतम स्तर तक पढ़ाई का माध्यम भारतीय भाषाएं हों और अंग्रेंजी माध्यम वाले आभिजात्य संस्कृति पर आधारित फेंसी स्कूल तत्काल खत्म किए जाएं। शिक्षा को जीवन के यथार्थ के निकट लाने और समाज के लिए उसे उपयोगी बनाने की दृष्टि

से विद्यार्थियों को अपने इलाके की समस्याओं और गतिविधियों से सक्रिय रूप से संबद्ध करने की योजना बनायी जाए और उसे लागू किया जाए।

प्रस्ताव संख्या -४

बौद्धों को सुविधाएँ

जाति तोड़ो सम्मेलन यह मानता है कि भारतीय समाज के दबे-पिछडे और दलित लोग जाति-प्रथा के कारण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अब तक सामाजिक और आर्थिक विकास के अवसरों से वंचित हैं। इससे संबंधित लोगों के प्रति अन्याय और शोषण तो हुआ ही है समूचे देश की अधिकांश प्रतिभा बांझ हो गयी है। राष्ट्र के व्यक्तित्व में अधूरापन और हीनता आ गयी है। स्वाधीनता संग्राम के दौरान इन दलितों और औरतों के पिछड़ेपन को पग-पग पर महसूस किया गया था। फलस्वरूप तथाकथित सवर्ण लोगों के मुकाबले में उन्हें कुछ विशेष अवसर और सुविधा देने की नीति अपनायी गयी। सम्मेलन इस वर्तमान नीति को अपर्याप्त मानता है और उसमें सुधार की मांग करता है।

सम्मेलन की राय है कि बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने मात्र से समाज के इन दलित और वंचित लोगों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आ जाता। बौद्ध धर्म भारतीय लोकजीवन और प्रतिभा का एक महान पुष्प है और उसमें दीक्षित होने के बाद भी संबंधित व्यक्ति समग्र भारतीय समाज के ही घटक और अंग रहते हैं। इसी वातावरण में उन्हें जीना और मरना होता है। अतः इस आधार पर कि किसी व्यक्ति ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया है उसे अनुसूचित और परिगणित जातियों के लोगों को दी गई सुविधाओं और संविधान तथा कानून में दिए गए अधिकारों से वंचित करना भेदपरक और अविवेकपूर्ण है। यह स्थिति स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वाले महान् स्त्री-पुरुषों की परिकल्पना के विपरीत है और भारतीय संविधान की आत्मा तथा संविधान निर्माताओं के मंतव्य के प्रतिकूल है। सम्मेलन भारत सरकार से यह मांग करता है कि अनुसूचित और परिगणित जाति के ऐसे लोगों को जो कि बौद्ध धर्म-ग्रहण कर चुके हैं या कर लेते हैं, वह सभी सुविधाएं दे जो उन्हें पूर्ववर्ती दशा में मिलती रही हैं।

प्रस्ताव संख्या-५

जाति-विरोधी आंदोलन का मंच

सम्मेलन यह जानता है कि देश भर में छोटी-बड़ी, नयी और पुरानी अनेक संस्थाएं और संगठन हैं जिनका सामाजिक दृष्टिकोण उदार है और जिनका रुझान जाति-विरोधी है। किंतु जातिवाद की प्रबलता के सामने इनके काम प्रभावकारी नहीं हो पा रहे हैं। इनके एकत्र और संगठित न होने के कारण तथा समुचित दिशा-निर्देश, सशक्त संघर्षशील नेतृत्व के अभाव में ये संगठन जाति विनाश के अपने प्रयत्न में अब तक अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त

कर पाए हैं।

जाति-व्यवस्था की जड़ें बहुत गहरी और मजबूत हैं। आर्थिक शोषण और सामाजिक श्रेष्ठता के मिथ्या भाव ने इसके चारों ओर निहित स्वार्थों की एक लोहे की दीवार बना दी है। इस चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए जाति विरोधी ताकतों को इकट्ठा करना होगा, उन्हें एक साथ सक्रिय और आंदोलित करना होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जाति विरोधी शक्तियों की एक साथ सम्मिलित मंच के रूप में जाति तोड़ो सम्मेलन की परिकल्पना की जा रही है। यह मंच जाति तोड़ो सम्मेलन के इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए सम्मेलन के निर्णयों को कार्यान्वित करने और तमाम जाति-विरोधी ताकतों को इकट्ठा करने, उनमें तालमेल बैठाने और राज्य, जिला, प्रखंड, नगर, गांव और उससे भी नीचे छोटी से छोटी संभव इकाई तक सम्मेलन का विस्तार करने के लिए व्यक्तियों की समिति बनाने का निर्णय करता है।

प्रस्ताव संख्या -६

जाति-पांति और कानून

१. प्राइमरी शिक्षा से लेकर माध्यमिक शिक्षा तक विज्ञान की पुस्तकों को छोड़कर सभी पुस्तकों में कम-से-कम एक अध्याय जाति-प्रथा की बुराइयों और उसे तोड़ने पर होना अनिवार्य हो। इसके लिए राज्य सरकारें व केन्द्र सरकार विशेषज्ञों के परामर्श से पाठ्यक्रमों का निर्देशन करें।

२. स्नातक कक्षाओं में जाति-प्रथा एक वैकल्पिक विषय हो और उसके लिए विश्वविद्यालयों की विद्वत परिषदों से केंद्र एवं राज्य के शिक्षा विभागों द्वारा आग्रह किया जाए।

३. जाति-प्रथा पर शोध हेतु विशेष सुविधाएं दी जाएं और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ऐसे शोध को प्राथमिकता तथा विशेष प्रोत्साहन दे।

४. अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, १९५५ (संशोधित रूप में प्रोटेक्शन ऑफ सिविल राइट्स एक्ट, १९७६ हो जाने के बाद भी) असंगतियों से भरा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि इसको जाति-प्रथा-उन्मूलन अधिनिमय बनाया जाए और उसके अंतर्गत अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम के महत्त्वपूर्ण उपबंधों को एक अध्याय के अंतर्गत रखा जाए।

५. अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम का रूप वस्तुतः दंडात्मक है। उसे सुधारवादी स्वरूप दिया जाए और अधिनियम का इस उद्देश्य से पुनरालोकन करके इसमें आमूल परिवर्तन किया जाए।

६. इस प्रस्तावित अधिनियम के अंतर्गत जाति-प्रथा को प्रोत्साहित करना, प्रचार

करना तथा प्रश्रय देना और जाति प्रथा को न मानने वालों को उत्पीड़ित करना जघन्य अपराध घोषित किया जाए।

७. अस्पृश्यता संबंधी अपराधों के वर्तमान दंड को बढ़ाया जाए।

८. विशेष ध्यान इससे संबंधित लक्ष्य एवं प्रक्रिया को तीव्र बनाने की ओर दिया जाए।

९. समाज में जाति-प्रथा के विरुद्ध तथा जाति तोड़ो सम्मेलन अभियान के प्रति जागरूकता लायी जाए। इसके लिए नॉन फारमल एजेंसीज का गठन हो तथा जनमत बनाने के लिए गैर-सरकारी सामाजिक संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जाए।

१० जाति सूचक उपनाम का प्रयोग सरकारी, अर्द्ध-सरकारी एवं सरकारी सहायता प्राप्त विभागों एवं संस्थाओं में रोका जाए।

प्रस्ताव संख्या -७

भंगी मुक्ति

सर्वसम्मति से यह सम्मेलन सरकार से अनुरोध करता है कि सफाई मजदूरों के उत्थान के लिए पाखानों का सुधार किया जाए तथा फ्लस सिस्टम के लिए सुविधाएं दी जाएं ताकि हम भंगी विहीन समाज कायम कर सकें।

इसके साथ-साथ ऐसे प्रयत्न किए जाएं ताकि उन जातियों में से अधिक से अधिक लोग दूसरे काम अपना सकें

प्रस्ताव संख्या -८

कुछ कार्यक्रम

१. शासन, प्रशासन तथा सभी सरकारी संस्थाओं में कम से कम साठ प्रतिशत जगहें औरतों, आदिवासियों, अस्पृश्यों और पिछड़े मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखना।

२. औरत, आदिवासी, अस्पृश्य आदि दलितों के अलग संगठन बनाकर उन्हें व्यापक क्षेत्र में काम करने के अवसर देना।

३. सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में लेंगिक भेदभाव समाप्त करना।

४. शासकीय तथा सार्वजनिक स्तर पर जाहिर रूप में पुरोहित, मौलवी या पादरी द्वारा होने वाले संस्कारों की खिलाफत, शासन की तरफ से मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा तथा अन्ध धार्मिक संस्थानों को दिए जाने वाले अनुदान खत्म करना और धार्मिक सम्मेलनों में सरकारी प्रतिनिधि भेजने पर रोक लगाना। किसी तरह के भेदभाव प्रकट न हों इस तरह की पोशाक लोकप्रिय बनाना । चोटी, जनेऊ, दाढ़ी, गोषा, बुरका जैसे व्यक्ति व्यक्ति में भेद पैदा करने वाले रूढ़ चिन्हों और प्रतीकों के मानसिक बोझ से जनता को मुक्त

करने की कोशिश करना।

५. सहभोज, हिन्दू-मुस्लिम घालमेल, छुआछूत विहीन पानी भरने की जगहें, जाति-धर्म-निरपेक्ष बस्तियाँ, खेलकूद, कला, साहित्य, नाटक, कला-पथक आदि रचनात्मक कार्यक्रम करना।

६. विलास, ठाठ-बाट, दहेज-प्रथा से ब्याह न कराया जाए, इसके लिए विभाग बनाना तथा ब्राह्मण, मुल्ला या पादरी की मध्यस्थता वाली शादी और उपनयन संस्कारों का बहिष्कार।

७. पाठ्य पुस्तकों, शिक्षा संस्थाओं और सार्वजनिक संस्थानों में किए जाने वाले जाति-धर्म वाचक उल्लेखों का विरोध।

८. वर्णगत रूढ़ और गुलामी के संस्कार खत्म करने की कोशिश

९. शासन द्वारा अंतरजातीय और अंतरधर्मीय विवाह करने वालों को नौकरियों में प्राथमिकता।

१०. जाति तोड़ो सम्मेलन संगठित ढंग से चलाना।

n

जाति कौन तोड़ेगा?

राजकिशोर

जाति कौन तोड़ेगा ? इस प्रश्न में ही निहित है कि जाति प्रथा टूट कर रहेगी। लेकिन क्या वाकई?

जाति प्रथा को अतीत में कम से कम दो बार गंभीर धक्का लग चुका है। पहला दौर था जैन और बौद्ध धर्मों के फैलने का। लेकिन जैन धर्म एक खास जाति तक सीमित हो कर रह गया और बौद्ध धर्म भारत में टिक ही न सका। जाति प्रथा को दूसरा आघात देने की कोशिश की भक्ति आंदोलन ने। लेकिन यह मुख्यतः उन जातियों का आंदोलन था, जिन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। जाति की उनकी आलोचना वस्तुतः उनकी निजी और सामाजिक पीड़ा का ही चीत्कार था। इस चीत्कार को सवर्ण चित्त ने उत्सुकता से सुना, लेकिन इससे व्यवस्था के ढाँचे में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। जाति सिर पर चढ़कर बोलती रही। इस आंदोलन से निकले हुए संत बाद में स्वयं भिन्न-भिन्न जातियों की संपत्ति हो गए और उनके प्रगतिशील संदेश को क्रमशः भुला दिया गया। कबीर और रैदास अपनी सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना में एक थे, पर उनके शिष्यों के बीच तरह-तरह की दूरियाँ बनी रहीं। जाति प्रथा को हाल में चुनौती मिली है आधुनिकता की शक्तियों से । लेकिन अभी तक भारत में ये शक्तियाँ जाति प्रथा को कमजोर करने में कोई खास सफल नहीं हुई हैं। यह देख कर लगता है कि जाति प्रथा ने स्थायित्व का अमृत पिया हुआ है।

अभी तक जाति प्रथा को जो चुनौती मिलती रही थी, उसके पीछे भारतीय समाज की आर्थिक गत्यात्मकता बहुत कम थी। यह सच है कि ईसा पूर्व पाँचवीं और छठी शताब्दी का भारत, जब जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव तेजी से फैला और पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का भारत, जब भक्ति आंदोलन की धाराएं काफी तेज थीं, एक नहीं थे। उनके बीच कम से कम दो हजार वर्षो का आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन था। लेकिन यह परिवर्तन बहुत ही मंद गति से हुआ था। मंद गति से होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव नाटकीय ढंग से सामने नहीं आते। साथ ही, ये परिवर्तन जिस सभ्यता में हुए, वह मूलतः ग्राम-केंद्रित और कृषि-आधारित सभ्यता थी। जैन और बौद्ध धर्मों ने ज्यादातर वैश्यों के जीवन को प्रभावित किया और भक्ति आंदोलन के अधिकतर संत विभिन्न शहराती पेशों से आए थे। नगरों में और

व्यवसायी वर्ग में नए विचार तेजी से पैदा होते हैं, क्योकि इनकी सामाजिक और सांस्कृतिक अंत:क्रिया विस्तृत होती है। लेकिन ये विचार किसी समाज को बदलने में सफल तभी होते हैं, जब गांवों में फैल सकें। यह नहीं हो सका। भक्त संतों ने खास कर नीची मानी जानेवाली जातियों में व्यापक रूप से प्रवेश किया, किंतु मुख्यतः एक नई धार्मिक प्रणाली के प्रतीक के रूप में। इनके संदेश की सामाजिक प्रगतिशीलता पर व्यापक अमल तभी हो पाता, जब पूरे समाज का कोई नया और स्वतंत्र आर्थिक आधार विकसित हो पाता। एक लगभग ठहरी हुई कृषि व्यवस्था में इसके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। अतः कहा जा सकता है कि जाति प्रथा को अब तक जो चुनौतियाँ मिली थीं, उनका वैचारिक और भावनात्मक आधार ही ज्यादा प्रबल था, जबकि ब्राह्मणवाद सिर्फ एक विचार नही था। वह एक मजबूत आर्थिक व्यवस्था पर टिका हुआ था।

लेकिन अब यह आर्थिक व्यवस्था चरमरा रही है। इसका कारण आधुनिक विचार कम आधुनिक जीवन-पद्धति ज्यादा है। आधुनिक विचार की विफलता का सर्वाधिक रोचक दृश्य २१ सितंबर १९९५ को प्रकट हुआ, जब देश के एक बड़े हिस्से में शंकर-सुत गणेश ने टनों दूध पिया। बेशक आधुनिक विचार ने एक वर्ग के जीवन को बदला है, लेकिन यह ज्यादातर निजी जीवन में हुआ है और किसी सामाजिक आंदोलन की शक्ल नहीं ले सका है। इस मामले में तीसरी दुनिया के अनेक देशों की तरह भारत के मध्य वर्ग ने काफी निराश किया है। यूरोप के मध्य वर्ग ने अनेक सामंती मूल्यों से विद्रोह कर प्रगतिशील काम किया था, किंतु भारत के मध्य वर्ग ने अधिकांशतः सामंती मूल्यों को संरक्षण दिया है। यहाँ तक कि इसके कम्युनिस्ट हिस्से ने भी जात-पाँत के मूल्यों का तिरस्कार करना जरूरी नहीं समझा। जो विचारों से इतने उग्र नहीं थे और फिर भी अपने को उदार तथा प्रगतिशील मानते थे (इनका सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधित्व जवाहरलाल नेहरू करते थे), उनका मानना था कि सामाजिक अपप्रथाओं को दूर करने के लिए किसी विशेष प्रेरणा या अभियान की जरूरत नहीं है। विकास की प्रक्रिया में वे स्वतः नष्ट हो जाएँगी। मानना पडेगा कि यह आशावाद भारतीय समाज को अप्रिय सच्चाइयों से मुठभेड़ न कर पाने का आलीशान बहाना था। इस बहाने का कपट उजागर हो जाने के बावजूद उससे उपजा आशावाद अब भी जारी है। यहाँ तक कि भारतीय जनता पार्टी भी, जो अपने को कांग्रेस का उत्तराधिकारी मानती है, इसी आशावाद का शिकार है। वह पिछड़ों और दलितों को अपनाना चाहती है, लेकिन उन्हें पिछड़ा और दलित बनाए रख कर । हिंदू एकता उसके लिए राजनैतिक मुद्दा है—सामाजिक मुद्दा नहीं। सामाजिक स्तर पर तो विभाजित हिंदू समाज ही उसे स्वीकार्य है। इसके बावजूद आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक तंत्र बदलने से भारतीय समाज में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इनके कारण जाति का प्रश्न एक नए ढंग से निर्णायक हो उठा है।

सच तो यह है कि इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जाति प्रथा कुछ और मजबूत ही हुई है, हालाँकि उसका दंश भी कम हुआ है। इसका कुछ श्रेय ब्रिटिश शासकों को है और कुछ बालिग मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र को। ब्रिटिश सत्ता ने निस्संदेह दलित जातियों को विशेष रूप से राजनैतिक संरक्षण दिया। इसके पीछे उनका मानवतावाद नहीं, बल्कि भारत में ब्रिटिश सत्ता के सामाजिक आधार की खोज थी। यह दिलचस्प है कि ब्रिटिश सत्ता को भारत में समर्थन देनेवाले वर्गों में एक ओर उच्च वर्णों के लोग थे और दूसरी ओर अत्यंत निम्न वर्ण के लोग। उच्च वर्णों के लिए यह विदेशी सत्ता के साथ सहयोग कर अपनी देशी सत्ता बनाए रखने के पुराने खेल का ही विस्तार था। ध्यान देने की बात है कि १८५७ के निर्णायक संघर्ष में मध्यवर्ती जातियों और उनके राजनैतिक धार्मिक नायकों की विशेष भूमिका थी। इस संघर्ष को कुचलने में उच्च वर्णों के लोगों और सामंतों ने सहयोग ही किया था। यह वर्ग स्वाधीनता संग्राम में तभी बड़े पैमाने पर शामिल हुआ, जब सत्ता का हस्तांतरण लगभग निश्चित हो चुका था। दूसरी ओर, दलित जातियां ब्रिटिश सत्ता से न्याय की आशा करती थीं। ये भारतीय समाज के पराजित लोग थे और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के जारी रहते हुए इनके लिए सम्मानजनक जीवन का कोई आश्वासन नहीं था। यह सच नहीं है कि आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करने वाली ब्रिटिश सत्ता ने ब्राह्मणवाद को कोई चुनौती दी या जाति प्रथा को अमान्य किया। लेकिन यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि दुनिया भर में पूँजीवाद को सामंतवाद और प्रतिक्रियावाद के साथ समझौता करते पाया गया है। फिर भी दलितों के प्रति उन्होंने अपनापन दिखाया, क्योंकि दलित अपने समाज के भीतर कुचला हुआ था और अपनी मुक्ति के लिए वह किसी का भी सहयोग लेने के लिए तैयार था। आजादी के बाद कांग्रेसी सत्ता लंबे समय तक दलितों को अपने साथ रखने में सफल हुई, तो इसी कारण । हाँ, दलित नेताओं की भूमिका जरूर बदल गई। पहले डॉ. आम्बेडकर जैसे नेता पैदा हुए। अब जगजीवन राम जैसे लोगों को महत्व दिया गया। वह संघर्ष का समय था और यह समझौते का। इस विपर्यय का एक और महत्वपूर्ण प्रतीक तमिलनाडु में रामस्वामी नायकर के नेतृत्व में दलितों और पिछड़ी जातियों का आत्म-सम्मान आंदोलन था। नायकर सभी प्रकार के धार्मिक और सामाजिक अन्यायों के खिलाफ आग उगलते थे, लेकिन उनके आंदोलन के बल पर राज्य की सत्ता में आई द्रविड़वादी पार्टियाँ सभी तरह के प्रतिक्रियावादी मूल्यों को प्रश्रय दे रही हैं।

लेकिन दलितों की आबादी कम है। अतः वे राजनीति की धारा को बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं कर सकते। यही कारण है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में भारतीय राजनीति में दलितों की वाणी तब तक स्पष्ट रूप से नहीं सुनी जा सकी, जब तक उनके एक मध्य वर्ग का विकास नहीं हो गया। कांशीराम और मायावती इसी दलित मध्य वर्ग के नेता हैं। इस वर्ग के विकास का श्रेय निस्संदेह कांग्रेस की हरिजन कल्याण नीतियों को ही है। इन नीतियों

को दो हिस्सों में बाँट जा सकता है- (१) आरक्षण, जिसे राष्ट्रीय स्तर पर मान्य कराने का श्रेय डॉ० आंबेडकर को है। १९३२ के पूना समझौते के खिलाफ अनाप-शनाप बोलनेवालों की संख्या आज काफी बढ़ गई है, लेकिन यह भूलने की बात नहीं है कि इसी समझौते की मार्फत ही भारत के सवर्ण नेतृत्व ने पहली बार दलितों को आरक्षण देने के सिद्धांत को मान्यता दी थी। (२) दलितों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए विशेष कानूनी और प्रशासनिक उपाय। इन दोनों प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप ही दलितों के बीच एक छोटा-सा मध्य वर्ग उभर पाया, जिसका नेतृत्व करते हुए कांशीराम ने परिस्थितियों के चक्र से उत्तर प्रदेश में अपनी पार्टी की सरकार बनाने में सफलता प्राप्त कर ली। लेकिन इस सामयिक और आधारहीन सफलता से किसी दूरगामी भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। दलित राजनीति का पूर्ण अभ्यदुय अभी बाकी है। लेकिन पिछड़ी जातियों की राजनीति आज अपने उत्कर्ष पर है। उसने देश के लगभग सभी हिस्सों में सत्ता पर काफी कब्जा कर लिया है। यह देश में लोकतांत्रिक राजनीति की ताकतों को बल मिलने से ही हुआ है कि आज कोई भी राजनैतिक दल पिछड़ी जातियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। लोकतंत्र में ताकत का फैसला संख्या-बल से होता है। और भारत में शूद्र ही बहुसंख्यक हैं। अतः उन्हें एक न एक दिन सामने आना ही था।

क्या इस सबसे जाति प्रथा कमजोर नहीं हुई है? सच तो यह है कि जाति प्रथा ने एक नई दृढ़ता प्राप्त कर ली है। अब ब्राह्मणवाद तथा मनुवाद की निंदा की जाती है, सामाजिक न्याय की बात की जाती है, आरक्षण की बात की जाती है, किंतु जातिविहीन समाज की बात नहीं की जाती। दिलचस्प यह है कि यह बात न तो साम्यवादी करते हैं, जो सिद्धांततः सभी प्रकार के सामाजिक और आर्थिक वर्गों के विरुद्ध हैं और न भाजपा के नेता, जो हिंदू एकता की कामना करते हैं। यदि जातियाँ जड़ीभूत वर्ग हैं, तो फिर वर्ग संघर्ष का एक रूप जाति व्यवस्था की समाप्ति क्यों नहीं होनी चाहिए? निस्संदेह कुछ नक्सलवादी समूहों ने कुछ सर्वहारा जातियों को एक आर्थिक वर्ग के रूप में संगठित किया है। किंतु वर्ग संघर्ष के लक्ष्यों और जाति संघर्ष के लक्ष्यों में फर्क है। वर्ग संघर्ष का लक्ष्य वर्ग शत्रु का सफाया या उससे ज्यादा से ज्यादा रियायतें वसूल करना होता है, जबकि जातिविहीनता की ओर बढ़ने के लिए संघर्ष के साथ प्रेम और समीपीकरण की जरूरत है। जातियों के बीच सिर्फ वर्ग संघर्ष चलाते हुए यह समीपीकरण हासिल नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर भाजपा और संघ के लोग चाहें भी, तो जाति प्रथा के सवाल को छू नहीं सकते, क्योंकि इससे तथाकथित हिंदू एकता खंडित होती है। जनता दल और समाजवादी पार्टी जैसे संगठन जाति-व्यवस्था की निंदा तो खूब करते हैं, किन्तु वे वस्तुतः जाति प्रथा का नाश चाहते नहीं क्योंकि जाति प्रथा नहीं रही, तो पिछड़ी जाति की अलग राजनीति का क्या होगा? इस तरह दिखाई यह पड़ रहा है कि जाति प्रथा में कुछ नए निहित स्वार्थ प्रवेश कर गए हैं। पहले ये

निहित स्वार्थ उच्च जातियों के थे, क्योंकि इसके कारण उन्हें विशेषाधिकार हासिल होते थे। वह सामंतवाद का जमाना था, जिसमें एक व्यक्ति का या एक अल्पसंख्यक वर्ग का शासन चल सकता था। यह लोकतंत्र का युग है, अत: अब तो बहुसंख्यकों का ही शासन चलेगा और ऊँची जातियाँ बहुत चतुराई से ही अपना वर्चस्व बनाए रख सकती है। गैर सवर्ण समुदाय अब जाति के आधार पर ही विशेषाधिकार की माँग कर सकता है। जाति प्रथा का सर्प पहले अपने मुंह से काटता था, अब यह अपनी दुम से हमला कर रहा है।

यह निहित स्वार्थों के नए परिपाक का ही एक अशुभ नतीजा है कि पिछड़ी जातियों और दलितों में समय-समय पर राजनैतिक एकता तो हो जाती है, किन्तु सामाजिक एकता नहीं हो पाती। इसका कारण यह है कि दोनों ही समूहों के राजनैतिक नेतृत्व के पास कोई प्रगतिशील सामाजिक दर्शन नहीं है। उदाहरण के लिए, दलित नेतृत्व दलितों के बीच मौजूद जाति प्रथा की दीवारों को तोड़ना नहीं चाहता और अपने समाज के प्रति पिछड़े नेतृत्व का भी यही रुख है। दोनों ही समूहों में यह शिकायत आम है कि कुछ विशेष जातियों ने राजनैतिक सत्ता का सारा लाभ हथिया लिया है। उदाहरण के लिए, मुलायम सिंह यादव उत्तर प्रदेश में और लालू प्रसाद यादव बिहार में यादव वर्चस्व के प्रतीक माने जाते हैं। उन्हें समूचे पिछड़े वर्ग का समान शुभचिंतक नहीं माना जाता। बिहार में एक समय कर्पूरी फार्मूला बना था, जिसके तहत पिछड़ी जातियों को 'पिछड़ी' और 'अति पिछड़ी' में विभाजित किया गया था। इससे आरक्षण का लाभ पिछड़ी जातियों के भीतर भी सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप बँट जाता था। किन्तु नई व्यवस्था में यह विभाजन खत्म कर दिया गया है। विधान सभा चुनाव में कुर्मी-यादव संघर्ष की स्मृतियाँ अभी ताजा हैं। इसी तरह उत्तर प्रदेश में जब मायावती की सरकार बनी, तो कुछ विशेष जातियों के प्रतिनिधियों को मंत्री के ज्यादा पद मिले। अन्य जातियों की उपेक्षा हो गई। कहा जा सकता है कि आरक्षण के सिद्धांत में ही यह निहित है कि दबे-कुचले समुदायों में भी वहीं वर्ग इसका विशेष लाभ उठा पाएगा जो पिछड़ों में भी कम पिछड़ा है। निस्संदेह यह एक स्वाभाविक स्थिति है। लेकिन यह प्रशासनिक सच है। राजनैतिक सच कुछ और होना चाहिए था। जो लोग सामाजिक न्याय और सामाजिक समता के आधार पर स्थापित नेतृत्व देने का दावा करते हैं, यदि उनके इरादे क्रांतिकारी और समतावादी हैं, तो उन्हें अपने बीच से उन वर्गों को विशेष रूप से उभरने का मौका देना चाहिए, जिन्हें इतिहास ने कुछ ज्यादा वंचित किया है। यह तभी होगा, तब जाति समाप्ति का दूरगामी लक्ष्य भी नेतृत्व के सामने होगा। अभी तो जाति व्यवस्था से संघर्ष न केवल अधूरा है, बल्कि कुछ हद तक विकृत भी है, जिसके कारण जाति व्यवस्था को कोई सशक्त चुनौती नहीं मिल पाती।

इसका मतलब यह नहीं है कि आरक्षण तथा लोकतांत्रिक राजनीति से जाति व्यवस्था को कुछ भी आघात नहीं पहुँचेगा। जाति व्यवस्था एक हद तक वर्ग व्यवस्था भी है। इन

नयी प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप पिछड़ों और दलितों में से एक संपन्न वर्ग का उदय होगा और ऊँची जाति के लोग इस वर्ग से सामाजिक और पारिवारिक व्यवहार रखने का निर्णय कर सकते हैं। लेकिन इसमें काफी समय लगेगा। जब तक इस नये वर्ग का उदय बड़े पैमाने पर नहीं होगा, तब तक जाति विलय की घटनाएँ इक्का-दुक्का ही रहेंगी – किसी सामान्य प्रवृत्ति का रूप नहीं ले सकती। हमें भूलना नहीं चाहिए कि ऐसा इतिहास में भी कई बार हो चुका है। कई बार शूद्रों ने अपने राज्य कायम किए हैं या राज सिंहासन तक पहुँचे हैं तथा ऊँची जाति की स्त्रियों के साथ विवाह किया है। ऊँची जातियों में अपने भीतर जाति तोड़ने की एक प्रवृत्ति काफी पहले से दिखाई दे रही है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के लड़के-लड़कियों ने अपने सीमित दायरे में अंतरजातीय विवाह की ओर रुझान दिखाया है। लेकिन यह जाति का वास्तविक टूटना नहीं है। यह एक नई तरह की सामाजिक गतिशीलता है। आधुनिकता के प्रभाव से, मसलन सह-शिक्षा और काम करने की जगहों में स्त्रियों-पुरुषों के नजदीक आने से इस तरह की गतिशीलता बढ़ सकती है। लेकिन इससे किसी धोखे में नहीं पड़ना चाहिए। जाति का टूटना सच्चे अर्थों में तभी माना जाएगा, जब नीची जातियों और ऊँची जातियों के बीच वैवाहिक संबंध बड़े पैमाने पर स्थापित होंगे और समाज का एक बड़ा वर्ग ऐसा बनेगा, जिसकी अपनी कोई जाति नहीं होगी। जिस वर्ण-संकरता को भारत में बहुत नीची निगाह से देखा गया है, वही भारत के सुंदर भविष्य का निर्माण कर सकती है। रक्त-शुद्धता के सिद्धांत ने दुनिया में जिस देश का सर्वाधिक नुकसान किया है, वह भारत ही है।

खान-पान और सामाजिक व्यवहार में सहभागिता जाति व्यवस्था के शिथिल होने की निशानी है। अभी हाल तक बहुत से सवर्ण घरों में मुसलमानों और दलितों के लिए अलग-से बरतन रखे जाते थे। अब यह कम होता जा रहा है। लेकिन इसके स्थान पर जो चीज उभर रही है और मजबूत हो रही है, वह है जातियों के आधार पर की जानेवाली राजनीति द्वारा निरंतर फैलाया जा रहा विद्वेष। यह जातियों के सामाजिक के बजाय राजनैतिक इकाई बनने का चिह्न है। चूँकि विद्वेष की इस संस्कृति में सामान्य सामाजिक हितों के बजाय, या उनकी कीमत पर, विशेष जातीय हितों पर जोर दिया जाता है, इसलिए अन्याय और विषमता के विरुद्ध उदघोष करते हुए भी जाति समूह एक-दूसरे के निकट नहीं आते, बल्कि निरंतर दूर होते जाते हैं। जाति प्रथा ने भारत का जो सबसे बड़ा अहित किया है, वह है हिंदू समाज में सामाजिक और राजनीतिक संस्कार विकसित न होने देना। हिंदू अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में सोचता है, अपने परिवार के बारे में सोचता है, अपनी जाति की मर्यादाओं का ध्यान रखता है, किंतु वह पूरे समाज के स्तर पर बहुत कम सोचता है। उसके लिए प्राय: उसकी जाति ही उसका समाज रही है और एक जाति को दूसरी जाति की विकतियों में दखल देने का कोई अधिकार नहीं रहा है। इससे प्रत्येक जाति की अपनी

विकृतियाँ बढ़ी ही हैं और किसी बड़े स्तर पर कोई सामाजिक हस्तक्षेप संभव नहीं हुआ है। पिछले कुछ दशकों से यह सामाजिक हस्तक्षेप ज्यादातर कानून के माध्यम से हुआ है। लेकिन हिंदू ने चूँकि पिछले डेढ़ हजार वर्षों से राज्य निर्माण का स्वप्न खो दिया है और वह एक तरह से राज्यविहीनता के शून्य में तैरता रहा है, इसलिए राज्य और उसकी संस्थाओं की कद्र करना वह अब भी नहीं जानता। वस्तुत: जातियों में बँटा समाज और राज्यविहीन समाज एक ही सिक्के के दो पहलू थे। जब जीवन व्यवहार जाति से ही तय होगा, तब राज्य की जरूरत क्या है? यह भी एक कारण है कि भारतीय राज्य अब भी भारतीय समाज में एक बेगानी सी चीज है और उसका उपयोग देश-निर्माण तथा समाज-निर्माण के लिए कम, अवसरों और सुविधाओं की छीना-झपटी के लिए ज्यादा हुआ है। जाति के आधार पर चलने वाली मौजूदा राजनीति ने इस बेगानेपन को कुछ नए आयाम दिए हैं। सामाजिक और आर्थिक स्तर पर निकटता तथा राजनैतिक स्तर पर संघर्ष एवं कलह के कारण भारतीय समाज एक नए ढंग से आत्म-विभाजित प्रतीत होता है।

इसे खत्म करने का एक ही तरीका है: जाति व्यवस्था को नष्ट करना तथा भारतवासियों की एक समग्र भारतीय एवं मानवीय पहचान को विकसित करना। लेकिन यह कार्य कितना कठिन है, इसे रेखांकित करते हुए एम. एन श्रीनिवास ने ६० के दशक में लिखा था : जिस मुद्दे पर मैं यहाँ जोर देना चाहता हूँ वह यह है कि जाति को राष्ट्रीय जीवन में एक अभिशाप समझने वालों की संख्या बहुत कम है। मैं यह बखूबी माने लेता हूँ कि दिन-प्रतिदिन यह वर्ग बढ़ रहा है और गाँवों में भी हमें ऐसे उन्नत विचारों के लोग मिलने लगे हैं जो कहते हैं कि मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों में जातिवाद विष घोल राह है। परन्तु यह भी सच है कि अभी एक बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं जो जाति व्यवस्था में कोई बुराई नहीं देखते। यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब तक जनता यह जान नहीं लेती कि जाति का अर्थ अनिवार्यत: जातिवाद है तथा उससे जो लाभ मिलते हैं, उनका भारी मूल्य देश को चुकाना पड़ता है तब तक कुछ भी नहीं हो सकता। यह बात जनता तक पहुँचाना किसी भी दशा में सरल काम नहीं है और अभी तक किसी राजनेता या सामाजिक कार्यकर्ता ने व्यक्त नहीं किया है कि ऐसी कोई कठिन समस्या उसके सम्मुख है। यह समझ लेना जरूरी है कि इस मामले में मात्र सदिच्छा ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसके तो परिणाम अभीष्ट से विपरीत भी निकल सकते हैं। (आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध, दिल्ली, पृष्ठ ७५-७६)

स्पष्ट है कि कम से कम राजनीति जाति को नहीं तोड़ सकती। यानी मौजूदा राजनीति। इसका कारण यही है कि मौजूदा राजनीति में समाज को या देश को बनाने का कोई तत्व दिखाई नहीं पड़ता। जब यह तत्व था, तब जाति व्यवस्था को नष्ट करने का आह्वान भी किया जाता था। इस दृष्टि से डॉ. राममनोहर लोहिया की समाजवादी धारा भारतीय राजनीति

की एकमात्र ऐसी उल्लेखनीय धारा है, जिसने यथार्थ और आदर्श, दोनों का सम्मान किया था। डॉ. आंबेडकर की विचारधारा भी जाति व्यवस्था के खिलाफ थी और 'जाति का संहार' शीर्षक उनका निबंध भारत में उसी निष्ठा के साथ पढ़ा जाना चाहिए जिस निष्ठा से 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' साम्यवादियों के बीच पढ़ा जाता रहा है। रामस्वामी पेरियार ने भी जाति के खिलाफ जिहाद छेड़ी थी, किंतु उनका आंदोलन तमिल समाज तक सीमित हो कर रह गया और इस आंदोलन से निकली राजनैतिक धाराओं ने प्राय: उन सभी बुराइयों को अंगीकार कर लिया जिन्हें नायकर ने कटु आलोचना का विषय बनाया था। गांधी जी अंतिम दिनों में जाति प्रथा के खिलाफ हो गए थे, लेकिन जाति तोड़ने का कोई स्पष्ट आह्वान उन्होंने नहीं किया। हालांकि जब वे जाति व्यवस्था को मानते थे, तब भी उनकी कल्पना की जाति व्यवस्था एक तरह का सामाजिक श्रम विभाजन ही थी और उसमें ऊँच-नीच के लिए कोई जगह नहीं थी, लेकिन यह एक यूटोपिया ही था। जब तक जाति व्यवस्था है, तब तक सामाजिक ऊँच-नीच भी रहेगी तथा भारतवासियों की प्राकृतिक ऊर्जा के मुक्त संचरण को बाधित करती रहेगी। आज जब साम्यवादी जाति के अस्तित्व को स्वीकार कर रहे हैं और उसके अनुसार अपनी राजनीति भी बना रहे हैं, तब कहा जाता है कि पहली बार प्रगतिशील राजनीति भारत के सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेतन हो रही है। लेकिन दुख की बात यह है कि यह सचेतनता सिर्फ चुनावी गणित के स्तर पर है। यदि यह आगे भी जाती, तो जातिविहीनता की भी कोई नीति बनती। यानी जाति सिर्फ यथार्थ के स्तर पर स्वीकृत हुई हैं, आदर्श के स्तर पर नहीं। लेकिन आदर्श के स्तर पर क्या कुछ और भी स्वीकृत हुआ दिखता है? जाति संघर्ष कमजोर है, तो क्या वर्ग संघर्ष भी कमजोर नहीं है? दूसरी ओर आर्थिक विकास और शहरीकरण की प्रक्रिया इतनी धीमी है कि जाति व्यवस्था की जकड़न कम होने का नाम नहीं लेती।

लेकिन सच यह भी है कि जाति को तोड़ने का काम राजनीति ही कर सकती है। यदि राजनीति ने जातिविहीन समाज स्थापित करने का बीड़ा नहीं उठाया, तो यह बीड़ा कोई और उठा नहीं सकता। बेशक वह राजनीति कुछ और प्रकार की होगी। जाति प्रथा दो ही तरह से टूट सकती है -(१) लोगों में यह चेतना फैले कि यह बुरी चीज है और (२) सभी जातियों का इतना तीव्र आर्थिक विकास हो कि उनके बीच सामाजिक ऊँच-नीच संभव न रह जाए। पहला काम विद्वान और समाज सुधारक भी कर सकते हैं, लेकिन वे तीव्रतर हो रही आर्थिक विपमताओं को कम नहीं कर सकते और न ही उन करोड़ों लोगों के लिए सम्मानजनक रोजगार की व्यवस्था कर सकते हैं जो जाति प्रथा के कारण दैन्य का जीवन बिताने के लिए अभिशप्त रहे हैं। सिर्फ चेतनागत स्तर पर आंदोलन चलाने से मिली सफलता हमेशा अधूरी होगी, क्योंकि जन्म के आधार पर प्राप्त होने वाले विशेषाधिकारों को छोड़ना आसान नहीं होता। अत: दूसरा काम भी साथ-साथ जरूरी है और यह काम

राजनीति का है। आर्थिक गत्यात्मकता ही टिकाऊ सामाजिक गत्यात्मकता पैदा कर सकती है। अंतरजातीय प्रेम विवाहों से जाति प्रथा एक हद तक ही टूट सकती है। विवाह का निर्णय एक जटिल निर्णय है। इसके पीछे निजी जीवन की दर्जनों बातें होती हैं। तीव्र प्रेम के कारण जाति का अतिक्रमण स्वाभाविक है, किंतु यह उम्मीद करना नादानी है कि करोड़ों युवक-युवतियाँ सिर्फ जाति तोड़ने के लिए शादी करेंगे। लेकिन जब देश का तीव्र आर्थिक विकास होगा, सभी समुदायों के लोगों को आगे बढ़ने के अवसर मिलेंगे, ऊँच-नीच कम होगी, तब ऐसा वातावरण बन सकता है, जिसमें विभिन्न जातियों के युवक-युवतियों को एक-दूसरे से वैवाहिक संबंध बनाने की स्वाभाविक इच्छा हो। जाति प्रथा तभी टूटेगी। स्पष्ट है कि इसके लिए एक ऐसी प्रबल राजनैतिक धारा की जरूरत है, जो देश और समाज का पुनर्निर्माण करने के लिए कृतसंकल्प हो। इसके अभाव में भी जाति व्यवस्था को विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया में कुछ आघात मिलता रहेगा, लेकिन उसका कोई बड़ा सामाजिक प्रभाव नहीं होगा। प्रभावशाली परिवर्तन के लिए व्यापक और गहरे जानेवाले राजनैतिक नेतृत्व की जरूरत है। यह नेतृत्व कौन मुहैया करेगा? यह कहना उचित नहीं है कि सवर्ण लोग यह काम नहीं कर सकते। निस्संदेह उनकी बौद्धिक क्षमताएँ, एक वर्ग के रूप में, सर्वाधिक जाग्रत हैं। लेकिन उनकी आँखों पर सीमित स्वार्थों की जाली पड़ी हुई है। अत: समुदाय के स्तर पर उनसे कोई बड़ी उम्मीद नहीं की जा सकती। हाँ, उनके बीच से कुछ देशकामी विशिष्ट लोग जरूर उभर सकते हैं। अत: एक वर्ग के रूप में तो यह जिम्मेदारी शूद्र और दलित जातियों की ही है। समग्र राष्ट्रीय विकास से सबसे ज्यादा लाभ भी इन्हें ही हासिल होगा। समाजवादी रास्ते को विकृत और अवरुद्ध कर सवर्ण समाज ने मुक्त प्रतिद्वंद्विता पर आधारित नई आर्थिक नीति में अपने भविष्य का इंतजाम कर लिया है। इससे पिछड़ी और दलित जातियों की आर्थिक तथा सामाजिक मुक्ति का प्रश्न और पेचीदा हो गया है। अत: उनके बीच से ही ऐसे तेजस्वी नेतृत्व का विकास ज्यादा स्वाभाविक लगता है, जो पूरे भारतीय समाज में समता और संपन्नता का दर्शन फैला सके। जाति प्रथा को वही तोड़ेगा, जो देश की प्रगति के रास्ते में मौजूद दूसरे अवरोधों को भी तोड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि सिर्फ जाति टूटे और अन्य बंधन यथावत बरकरार रहें या और मजबूत होते जाएँ।

यह भी नहीं हो सकता कि जाति प्रथा हमेशा बनी रही। इस व्यवस्था के पीछे न कोई तर्क है और न ही इससे कोई लाभ। हाँ, इससे होनेवाले नुकसान बिलकुल साफ हैं। अत: इसका जाना तो निश्चित है। इतिहास यह बताता है कि कौन-कौन-सी चीजें नहीं टिक सकतीं। लेकिन इसमें वक्त कितना लगेगा, इसका निर्णय तो हम ही करेंगे। हम, जो इतिहास के नियंता हैं।

n

जाति, वर्ग, तकनोलॉजी और आधुनिकता

रामशरण जोशी

भारतीय समाज की जाति-विशिष्टता के संबंध में देश के वामंपथी आंदोलन के दो प्रमुख नेताओं ने अपने जीवन काल के अंतिम चरण में एक महत्वपूर्ण स्वीकारोक्ति की थी। सीपीआई के इन्द्रजीत गुप्त और सीपीएम ज्योति बसु ने जाति-फैक्टर को स्वीकारते हुए कहा था कि हम कम्युनिस्ट, वर्ग और श्रमिक आंदोलनों को अधिक महत्व देते रहे । इन्हें जाति व्यवस्था की तुलना में प्राथमिकता पर रखा, लेकिन भारतीय समाज के जाति-यथार्थ और इसके प्रभावों से इंकार नहीं किया जा सकता। कम्युनिस्टों को इस तरफ पर्याप्त ध्यान देना चाहिए था। संभवत: यह भूल रही। दोनों के जाति-संबंधी विचार पाक्षिक पत्रिका 'फ्रंट लाइन' में दिए गए उनके इंटरव्यू में व्यक्त हुए थे।

२१ वीं सदी में इन विचारों का उल्लेख इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि जिस दौर में हम जी रहे हैं वह 'हाइटेक युग' है। - उच्च प्रौद्योगिकी काल। डा. राममनोहर लोहिया ने जहां वर्ग गतिविज्ञान को समझा था, वहीं जाति-गतिविज्ञान (डायनामिक्स) को भी गहराई से देखा। नि:संदेह वैज्ञानिक प्रगति, उच्च तकनोलॉजी और आधुनिकीकरण के बावजूद भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक यथार्थ में जाति-फैक्टर आज भी अपनी संपूर्ण मजबूती के साथ उपस्थित है। दूसरे शब्दों में उत्पादन-पद्धति और उत्पादन तकनोलॉजी में क्रांतिकारी परिवर्तन के बावजूद भारतीय उत्पादन संबंधों में जाति फैक्टर यथावत गतिशील है। इसकी फ्रीक्वेंसी व गति में उतार-चढ़ाव जरूर है, लेकिन यह फैक्टर निष्क्रिय हो चुका है, ऐसा निष्कर्ष अवैज्ञानिक व अयथार्थवादी होगा।

मार्क्सवाद कहता है कि उत्पादन-पद्धति में परिवर्तन के साथ-साथ कालांतर में उत्पादन संबंधों में भी बदलाव आएगा। लेकिन क्या भारत में ऐसा हो सका? सच्चाई यह है कि जाति आधारित अस्मिताएं पहले से अधिक उग्र व आक्रामक होती जा रही हैं। उन्नत उत्पादन तकनोलॉजी ने इन्हें नई शक्ति से लैस कर दिया है। उदाहरण के लिए ताजा गुर्जर आंदोलन को लें। इसी प्रकार जाटों के आरक्षण की मांग पर भी नजर डाली जा सकती है। विगत दो दशकों में पिछड़ी-जाति की अस्मिताओं का विस्फोट पहले ही हो चुका है। पिछले वर्षों में दलित जाति गतिविज्ञान में नया आयाम जुड़ा है। यह आयाम है 'आक्रामक अस्मिता' का। जिस प्रकार दक्षिण भारत के सामाजिक आंदोलनों ने वहां की पिछड़ी जातियों

को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वायत्तता से संपन्न किया था, आज उत्तर भारत में उसी परिघटना का उदय हुआ है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और राजस्थान के घटनाक्रम इसकी गवाही दे सकते हैं। इन क्षेत्रों में नये जाति-अंतर्विरोध उभर रहे हैं। दलित अस्मिता और पिछड़ा वर्ग अस्मिता के बीच नए संघर्ष बिंदु उभर रहे हैं। इसकी वजह यह है कि ग्रामीण उत्तर भारत में ऊंची जातियां धीरे-धीरे या तो शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन कर रही हैं या स्थानीय सत्ता तंत्र में प्रभाव की दृष्टि से गौण होती जा रही है। पारम्परिक नेतृत्व की शून्यता पैदा हो रही है। इस शून्यता को पाटने के लिए दलित अस्मिता और पिछड़ा वर्ग अस्मिता के मध्य बहुआयामी प्रतिस्पर्धा या कहिए संघर्ष की स्थिति पैदा हो रही है। इस नई स्थिति ने जातिगत अस्मिताओं और आंतरिक संरचनात्मक एकजुटता को नई शक्ति प्रदान की है। परिणामस्वरूप जाति-युक्त वर्ग का अस्तित्व बाधित हो रहा है। यद्यपि जाति-समुदाय के भीतर आर्थिक वर्ग अवश्य है। इसमें वर्गीय एकता भी है, लेकिन जाति से बाहर 'वर्ग स्वायत्तता' नहीं है। इस वर्ग स्वायत्तता की अनुपस्थिति में जाति-अस्तित्व सुरक्षित व सुदृढ़ रहता है।

इस परिप्रेक्ष्य में खाप-पंचायत की आक्रामकता को समझना होगा। यह अकारण नहीं है कि हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और अन्य क्षेत्रों में 'खाप पंचायत' के वर्चस्व का हठात उभार हुआ है। इन क्षेत्रों का तेजी से आधुनिकीकरण हुआ है, उच्च तकनोलॉजी रिस-रिसकर पहुंच रही है, संचार माध्यमों की पहुंच बढ़ी है, कृषि का ट्रैक्टरीकरण हुआ है, आधुनिक जीव-विज्ञान पहुंचने लगा है। इन तमाम नए एक्सपोजरों के बावजूद खाप पंचायत का अस्तित्व सुरक्षित ही नहीं है, आक्रामक भी है। खाप पंचायतें लोकतांत्रिक संस्थाओं व प्रणालियों को ललकार भी रही हैं। कोई भी राजनीतिक दल इनके खिलाफ निर्णायक भूमिका लेने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि सभी चुनाव के दौरान 'जाति बैकलेश' से भयभीत रहते हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि जाति लोकतंत्र और आधुनिकता, दोनों पर ही भारी पड़ रही है।

कभी गौर से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले वैवाहिक विज्ञापनों को देखिए और उनका विश्लेषण कीजिए।आप देखेंगे ९५% से अधिक विज्ञापनों में समान जाति के वर-वधुओं की मांग रहेगी। ये मांग उन परिवारों से होगी जो कि आर्थिक व शिक्षा की दृष्टि से उच्च होंगे। इतना ही नहीं, विज्ञापनों में वर-वधुओं की शैक्षणिक उपलब्धियों-उपाधियों व स्टेटस का विधिवत उल्लेख रहेगा। इसके साथ ही जाति-बंधन का आग्रह भी रहेगा। अब तो जाति के साथ-साथ उपजाति का भी वर्णन व आग्रह होने लगा है। अर्थ यह निकला कि जाति के भीतर उपजातियों की अस्मिताएं उभरने लगी हैं। उपजातियों का अस्तित्व जाति-संसार व जाति, अस्मिता को सुरक्षित ही नहीं रख रहा है, बल्कि इसके नये अवतारों को भी जन्म दे रहा है। ये अवतार स्वस्थ वर्ग रचना की प्रक्रिया को अवरूद्ध और

जाति के जहरीले प्रभावों का दायरा चौड़ा कर रहे हैं। इन प्रभावों का जातिगत वैवाहिक संबंधों में प्रतिबिंबन देखा जा सकता है। यहां तक कि प्रगतिशील, जनवादी, समाजवादी और वामपंथी होने का दंभ भरने वाले लेखक बुद्धिजीवी भी जातिगत खोल से मुक्त नहीं हो पाते हैं। वे भी विवाह के मामले में अपनी जाति में ही 'शरण' तलाशते हैं। इससे भारतीय समाज पर जाति-जकड़न का पता चलता है।

वास्तव में भारत में एक स्वतंत्र व स्वायत्त वर्ग का उदय नहीं हो पा रहा है। इसका मूल कारण यह है कि जाति को वर्ग से 'डीलिंक' नहीं किया जा रहा है। जब तक वर्ग को जाति आधारों व पृष्ठभूमि से 'डीलिंक' नहीं किया जाएगा तब तक स्वस्थ लोकतंत्र, प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति भी अस्तित्व में नहीं आएगी। वैसे तो जातिगत और वर्गगत, दोनों प्रकार के लोकतंत्र गलत हैं। लोकतंत्र समानता आधारित नागरिकता पर टिका होना चाहिए। फिर भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में जाति की तुलना में वर्ग निश्चित ही एक प्रगतिशील व विकसित चरण है। जाति और वर्ग का 'संबंध विच्छेद' कैसे किया जाए यह चिंतकों और राजनीतिक नेतृत्व के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। मार्क्सवादी भी इसका अभी तक कोई माकूल समाधान नहीं निकाल पाए हैं। वे 'वर्ग डायनमिक्स' में तो माहिर हैं, लेकिन कास्ट डायनमिक्स के भिन्न होते हुए भी उन्होंने इसे विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के कारण न तो स्वीकार किया और न ही विकसित किया। यही बात गैर-मार्क्सवादी समाजवादी चिंतकों पर लागू होती है। उन्होंने 'जाति-तोड़ो' पर तो बल दिया, लेकिन 'स्वायत्त वर्ग-निर्माण' प्रक्रिया के प्रति उदासीनता दिखाई।

अब हमें खुले दिमाग से स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय सामाजिक यथार्थ में 'जाति और वर्ग' स्वत: 'को-टर्मिनस' या 'स-अन्त' प्रक्रिया नहीं है। अत: इसे 'राज्य हस्तक्षेप' के साथ-साथ सामाजिक आंदोलन, 'आत्मचेतना' और स्वप्रयास से ही समाप्त किया जा सकता है। इसके लिए 'वैज्ञानिक मानस' (साइंटिफिक टेंपर) होना जरूरी है। जब तक इन दोनों को परस्पर 'डी-लिंक' नहीं किया जाएगा तब तक एक जेनुइन आधुनिक भारतीय समाज का निर्माण का प्रोजेक्ट अधूरा रहेगा, बल्कि आधुनिकता भी छद्म किस्म की रहेगी। इसके साथ ही स्वस्थ भारतीय नागरिक भी अस्तित्व में नहीं आ सकेगा। अत: यह आवश्यक है कि उत्पादन-संबंधों को जाति से मुक्त कर सिर्फ आर्थिक आधारों से जोडें।, उनका समाज में स्वतंत्र आर्थिक अस्तित्व हो। समाज में व्यक्ति का स्थान निर्धारण उसकी जाति-पृष्ठभूमि के बजाए उसकी आर्थिक पृष्ठभूमि पर रहे। बेशक इस पृष्ठभूमि को व्यक्ति के प्रोफेशन से शक्ति प्राप्त होगी न कि जन्मगत जाति व्यवस्था से । संक्षेप में वर्ग के संसार में जाति का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उसका प्रवेश निषेध होना चाहिए, लेकिन यह तभी संभव है जब जाति व्यवस्था को पूरी तरह से निष्प्रभावी बना दिया जाए।

वास्तव में जाति को उत्पादन पद्धति और तकनोलॉजी से भी 'डी-लिंक' करने की जरूरत है। यह रिश्ता अजीब लग सकता है, लेकिन भारतीय समाज विशेष रूप से ग्रामीण

समाज का यह कड़वा व घातक यथार्थ है। परंपरागत रूप से उत्पादन साधनों और उत्पादन-परिणामों पर ऊँची जातियों का आधिपत्य रहा है जब कि श्रम करने की नियति निचली जातियों की रही है। दलित, आदिवासी और निम्न मझौली जातियां श्रम करती रहीं हैं और इसका फल ऊंची जातियाँ भोगती रही हैं। ग्रामीण भारत की कृषि-श्रम शक्ति और दस्तकारी (लुहार, बढ़ई, रंगरेज, मोची, मैला ढोनेवाला आदि) के आधार कौन रहे हैं? निःसंदेह विशाल सीमांत समाज (दलित, पिछडे. आदि)। लेकिन क्या इस समाज का उत्पादन-साधनों और उत्पादन परिणामों पर भी अधिकार रहा? जवाब है, कतई नहीं। यहीं से अंतर्विरोध पैदा हो जाता है, वर्ग जाति का स्थान नहीं ले पाता है। वह जाति को तोड़ नहीं पाता है। इस संबंध में चंद निजी अनुभवों का यहां उल्लेख कर रहा हूँ।

१९७७-७९ के दौरान मैं देश के प्रथम राष्ट्रीय बंधक श्रमिक सर्वेक्षण से जुड़ा हुआ था। इस सिलसिले में देश के विभिन्न जिलों के ग्रामीण क्षेत्रों में शिविरों का आयोजन भी करना पड़ता था। सर्वेक्षण के नतीजों ने बतलाया कि ९९ प्रतिशत बंधक श्रमिक आदिवासी, दलित, पिछड़ी जातियों और निचले तबके के मुसलमानों से संबद्ध हैं। अपवाद स्वरूप कोई सवर्ण रहा होगा। यह अध्ययन दर्शाता है कि उत्पादन-साधन, उत्पादन-स्वामित्व और उत्पादन-श्रम जाति आधारित हैं। इस व्यवस्था से जातिगत वर्ग का निर्माण तो होता है, न कि स्वतंत्र आर्थिक वर्ग का। यह बड़ा ही जटिल परिदृश्य है।

मैं पिछले वर्ष कुछ महीनों के लिए एक निजी शिक्षण संस्थान में पत्रकारिता पढ़ा रहा था। कुछ सप्ताह बीतने के पश्चात एक रोज मेरी एक युवा सहयोगी अपनी मूल पहचान बतलाती है। चूंकि मेरे विचारों से विभाग के सभी लोग परिचित थे। शिक्षिका जानती थी कि मैं 'वर्ग' (क्लास) को मान्यता देता हूँ, जाति में मेरा विश्वास नहीं है। ऊंची जाति के शिक्षक इससे दुःखी भी रहते थे। अतः उक्त युवा सहयोगी काफी संकोच के पश्चात मुझसे कहती है 'सर मैं आपसे अपने परिवार के बारे में कुछ महत्वपूर्ण जानकारी शेयर करना चाहती हूँ, लेकिन एक ही निवेदन है कि आप इसे अन्य शिक्षकों से नहीं कहेंगें। यदि आप कहेंगे तो मैं उनकी निगाहों में छोटी हो जाऊंगी। वे मुझे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखेंगे। मेरे प्रति दयाभाव दिखलाएंगे या दिल में घृणा करेंगे।

'सर ! मैं ऊंची जाति से नहीं हूं। मेरा जाति सूचक उपनाम जरूर ऊंची जाति (संभवतः कायस्थ) का आभास देता है लेकिन मैं एस.सी. (अनुसूचित जाति) हूँ, दलित परिवार से हूं। मैं अपनी योग्यता के बल पर यहां तक पहुंची हूं, जाति की कृपा से नहीं। मैं इस विभाग में सम्मान के साथ काम करना चाहती हूं। यदि साथियों को यह मालूम हो गया कि मैं दलित पृष्ठभूमि से हूं तो उनका व्यवहार बदल जाएगा। आप प्रगतिशील हैं इसलिए विश्वास में लेकर मैं आपसे यह जानकारी शेयर कर रही हूं।

मैं दलित युवा लेक्चरर की बात सुनकर कांप-सा गया। हमने कैसा भारत बनाया है?

क्या हम ऐसा नागरिक बनना चाहते हैं जो अपनी पहचान बताने से भयभीत रहता है? क्या उसे समाज में सम्मान व गरिमा के साथ जीने कें लिए ऊंची जाति का होना आवश्यक है? यदि ऐसा है तो वह स्वयं को भारतीय राष्ट्र राज्य का एक अभिन्न हिस्सा कैसे महसूस कर सकता है? पत्रकारिता की यह शिक्षिका प्रत्येक दृष्टि से सक्षम थी, एक अच्छी प्राध्यापिका होने के साथ-साथ उसमें विभाग के संचालन के गुण भी थे। मीडिया और विद्यार्थियों में वह खासी लोकप्रिय थी, भाषा पर अधिकार था, पीएच.डी. कर चुकी थी। इन तमाम खूबियों के बावजूद वह जाति को लेकर कुंठाग्रस्त रहती थी। 'काश! मैं ऊँची जाति में पैदा होती।' यह भाव उसे निरंतर दबोचता होगा।

आखिर क्या उसे इस कुंठा, इस भाव के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? मैं समझता हूं बिल्कुल नहीं क्योंकि यह भाव समाज सापेक्ष है। इसका सीधा संबंध राज-व्यवस्था से भी है, क्योंकि विगत ६ दशकों में हमारे राज्य नियंता या शासक वर्ग या 'रूलिंग इलीट' जातिमुक्त नागरिकता व वर्गीय चेतना का एहसास राष्ट्रीय जीवन में पैदा करने में नाकाम रहे हैं। वर्ग की दृष्टि से देखें तो यह युवती एक 'स्वतंत्र शिक्षक वर्ग' में प्रवेश का चुकी है, लेकिन जाति-पृष्ठभूमि की जकड़न से यह अभी तक स्वतंत्र नहीं है क्योंकि पारम्परिक भारत में बौद्धिकता या बौद्धिक तकनोलॉजी या बौद्धिक कर्मों व संस्थाओं पर ऊंची जातियों का एकाधिकार रहा है। क्या कभी किसी पंडित, ठाकुर, वैश्य, कायस्थ, खत्री आदि को यह कहते हुए सुना है कि उनके पूर्वज मैला ढोते थे या चर्मकार थे? क्या ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन), डा. तुलसीराम (मुर्दहिया), श्योराज सिंह बेचैन, सूरजपाल सिंह चौहान जैसे दलित लेखकों की आत्मकथाओं में पढ़ने को यह मिलता है कि उनके माता-पिता पूजापाठ कराया करते थे? या व्यापार करते थे? या क्षत्रिय कर्म से जुड़े थे? भारत के भीतर बहिष्कृत भारत का प्रतिनिधित्व इनकी रचनाएं करती हैं। अतः उत्पादन संबंध, उत्पादन साधन और तकनोलॉजी को जाति सापेक्षता के परिप्रेक्ष्य में भी देखने-समझने की जरूरत है। इससे जाति और वर्ग के संबंध तथा परस्पर आश्रिता स्वतः स्पष्ट हो जाएंगे।

इस परिदृश्य में 'जाति-तोड़ो' आंदोलन की सफलता और जाति मुक्त समाज व्यवस्था का निर्माण तभी सुनिश्चित हो सकते हैं जब स्वायत्तता-सम्पन्न वर्ग अस्तित्व में आयें। भारत में 'वर्ग संघर्ष' भी इसलिए गति नहीं पकड़ सका क्योंकि जातियों और उपजातियों की बेड़ियों ने इसे जकड़ रखा है। यह जातिवाद की 'डायनामिक्स' से नियंत्रित होता है। यह डायनामिक्स अन्य कारकों को भी प्रभावित करती है। इन कारकों में आर्थक राजनीतिक तंत्र और तकनोलाँजी भी शामिल है। समाज चिंतकों और समाज परिवर्तनकर्मियों से तकाजा है कि वे ऐतिहासिक यथार्थ एवं अनुभवों के मद्देनजर बदलाव के नये औजारों को विकसित करें।

n

सामाजिक न्याय की राजनीति

योगेन्द्र यादव

आज सामाजिक न्याय की राजनीति एक चौराहे पर खड़ी है। एक मायने में सामाजिक न्याय की राजनीति आज इस देश में इतनी मुखर है जितनी शायद पहले कभी नहीं थी। कहने को मायावती उसकी प्रवक्ता हैं, रामविलास पासवान हैं, लालूप्रसाद हैं, द्रमुक सत्ता में है। जब मंडल के बारे में देश में बहस होती है तो किसी बड़े राजनीतिक दल का साहस नहीं होता उसका विरोध करने का। हम जानते हैं कौन वाकई विरोध में है। लेकिन किसी की हिम्मत नहीं होती उसके खिलाफ एक भी बयान देने की । कोई कह सकता है यह सामाजिक न्याय की राजनीति की विजय है। साठ के जमाने में इतनी मुखर नहीं थी सामाजिक न्याय की राजनीति।

लेकिन इतिहास दृष्टि हमें सिखाती है कि जब कोई विचार फैलता है तब वही शायद उस विचार के संकुचन की भी एक घड़ी होती है। सामाजिक न्याय का विचार जैसे-जैसे फैला है, वैसे-वैसे पतला भी होता गया है। यह जो संकुचन है, वह सामाजिक न्याय के बारे में गंभीरता से सोचने वाले हर व्यक्ति के लिए बहुत चिंता का विषय होना चाहिए। खास तौर पर हम सब लोगों के लिए। हम सब जो समतामूलक समाज का नाम लेकर किसी भी नाम से किसी बैनर के तहत राजनीति करते हैं। यहाँ हमारा मतलब सिर्फ समाजवादियों से नहीं है। मैं समझता हूँ इस देश में पिछले पंद्रह सालों से 'हम' की परिभाषा थोड़ी बदल गई है। वो जो समाजवादी आंदोलन से आए, वह जो कम्युनिस्ट आंदोलन से आए, वह जो आंबेडकरवादी धारा से आए, वो जो नारीवादी धारा से आए, गांधीवादी आंदोलन का क्रांतिकारी अंश हैं वे, साथ में इस देश के पर्यावरणवादी और इस देश के तमाम जनआंदोलनों से निकली ऊर्जा। मैं उन सब 'हम' को संबोधित करना चाहता हूँ आज के इस व्याख्यान में। हम सब जो लोग हैं, जो नर्मदा की पीड़ा को समझते हैं, जो बाबरी मस्जिद के ध्वंस से कुछ महसूस करते हैं, जो मंडल के सवाल पर एक-दूसरे को एक ही पाले में पाते हैं। उनके लिए एक बहुत बड़ी चिंता का विषय है यह । हमें तीन बुनियादी सवालों पर विचार करना चाहिए और आज अपनी बात रखते हुए मैं सिर्फ इन तीन बातों की ही चर्चा करूँगा।

सामाजिक न्याय की अवधारणा

पहला, सामाजिक न्याय की अवधारणा क्या है? धीरे धीरे हम सामाजिक न्याय की सबसे स्थूल अवधारणा जो हो सकती है, यानी कि हर एक को बराबर हिस्सेदारी, उसकी तरफ जा रहे हैं। दूसरा सवाल यह कि सामाजिक न्याय के लिए कौन-सी नीति सबसे उपयुक्त है? धीरे-धीरे हम सबकी मान्यता बनती जा रही है कि सामाजिक न्याय का एक ही आधार है, वह है जाति और सामाजिक न्याय का एक ही औजार है, वह है आरक्षण। 'जाति आधारित आरक्षण कर दिया यानी हो गया' यह एक धारणा बनती जा रही है। तीसरा सवाल, सामाजिक न्याय की राजनीति क्या है, कैसी होनी चाहिए? केवल नीति नहीं राजनीति। पिछले कुछ सालों में हम सब लोग राजनीति में इतना अकेलापन महसूस करते हैं कि मायावती जीत जाती हैं या फिर लालू प्रसाद दूसरी बार चुनाव में आ जाते हैं तो कहीं संतोष सा महसूस होने लगता है। लगता है कुछ हो गया। धीरे-धीरे हम सामाजिक न्याय की राजनीति को पिछड़े वर्गों और जातियों के साथ चलने वाले दलों के साथ जोड़ कर देखने लगे हैं। नेतृत्व में कौन लोग हैं, उनकी सामाजिक पृष्ठ भूमि क्या है यह हमारे लिए सामाजिक न्याय की राजनीति की क्रांतिकारिता का पैमाना बनता जा रहा है।

इन तीनों सवालों पर एक नए तरीके से सोचने की जरूरत है। एक-एक करके मैं इसमें अपनी बात रखना चाहूँगा। लेकिन बात रखने से पहले यह जरूर कहना चाहूँगा की यह जो विचार बना है इसका एक महत्व हैं। इसकी एक उपयोगिता थी उस जमाने में जब सामाजिक न्याय की राजनीति अपनी पहचान बनाने की कोशिश कर रही थी। लेकिन क्या आज हमें उन्हें सामाजिक न्याय की राजनीति का पर्याय मानना चाहिए?क्या हमें मानना चाहिए कि हर एक को बराबरी देना सामाजिक न्याय है? हर समुदाय को एक साथ खड़ा करना सामाजिक न्याय है? क्या हमें मानना चाहिए कि जाति आधारित आरक्षण ही एकमात्र नीति है जिससे सामाजिक न्याय हो सकता है?क्या हमें सोचना चाहिए कि पिछड़े और दलित समुदाय का किसी-न-किसी राजनीति के शीर्ष पर आ जाना सामाजिक परिवर्तन की राजनीति का पर्याय है। ये तीन प्रश्न हैं जिनके बारे में मैं आज आप सबके साथ मिलकर सोचना चाहता हूँ।

पहला सवाल अवधारणा का और थोड़ा फलसफे का है। लेकिन मधुजी, लोहियाजी या किसी भी बड़े चिंतक से हम सीखते हैं कि फलसफा राजनीति से दूर नहीं होता। सामाजिक न्याय की हमारी अवधारणा धीरे-धीरे एक बहुत स्थूल स्वरूप लेती जा रही है कि सबको हर चीज में बराबर हिस्सा मिले। मेरे एक दलित मित्र कह रहे थे कि आरक्षण से वाल्मीकी समाज को आखिर क्या मिला? मैंने उनसे पूछा कि होना क्या चाहिए? उन्होंने कहा कि आदर्श स्थिति यह होनी चाहिए की देश की हर जात बिरादरी की जितनी प्रतिशत जनसंख्या है उसे उतनी प्रतिशत नौकरी देनी चाहिए। इस अवधारणा की दो बातों पर आप

ध्यान दीजिए। पहला, यह किसी भी काम के गुणदोष से निरपेक्ष है। मैंने अपने मित्र को कहा, इससे यह भी होगा, इससे सिर्फ सरकारी नौकरियों का आबंटन नहीं होगा, इसका मतलब देश की खेती की जमीन का भी आबंटन होना चाहिए और सब अगड़े लोग जो शहरों में आ गए हैं, जो लोग खेती नहीं करते उनको बराबर हिस्सा मिलना चाहिए खेती की जमीन में भी। हम अगर जो काम कर रहे हैं, उसके गुणधर्म से निरपेक्ष बराबरी स्थापित करना चाहते हैं तो इसके परिणाम किस-किस क्षेत्र में क्या-क्या होंगें, क्या हम इसपर सोचते हैं? हम 'मेरिट' के अमूर्त विचार की आलोचना करते हुए बड़े हुए हैं। कभी-कभी चार कदम आगे बढ़कर कहते हैं 'मेरिट' चीज ही क्या होती है?यानी कि किसी कार्यविशेष की दक्षता का पैमाना हो ही नहीं सकता। हमें इस बात पर बारीकी से विचार करना होगा। उत्तर भारत के एक दलित चिंतक श्योराज सिंह बेचैन कहते हैं बचपन में उनके ताऊ जानवरों की खाल निकाला करते थे। और उसे बनाते थे। उनके ताऊ जिनकी इतनी बारीक समझ थी, कि किस पशु की खाल को कैसे उतारा जाए - उसमें कैसे कट मारा जाए फिर उसको किस प्रकार से तैयार किया जाए, उसको सारी दुनिया अनपढ़ गंवार मानती थी। जब आपरेशन टेबल पर पोस्ट-मार्टम का काम कोई डॉक्टर करता है, वह शायद उनके ताउजी जितना बारीक काम नहीं करता है, उसको सारी दुनिया डॉक्टर कहती है। श्योराज सिंह जी की मिसाल हमारी योग्यता की जो सामान्य समझ है, उस पर प्रश्न चिह्न लगाती है। लेकिन क्या इसका मतलब यह है योग्यता का कोई पैमाना नहीं हो सकता?

दूसरी समस्या जो इस अवधारणा में मुझे लगी है, वो यह कि हर जाति समुदाय को समान स्थान देने के लिए हर समुदाय को जड़ स्वरूप में परिभाषित करना पड़ेगा। एक बार और हमेंशा के लिए आपको कहना पड़ेगा कि देश की आबादी के इतने प्रतिशत यादव हैं अब वो शहरी भी हैं, ग्रामीण भी हैं, महिला भी हैं, पुरुष भी हैं, वो उत्तर भारत में बिहार का भूमिहीन भी है, हरियाणा का भूस्वामी भी है। आपको सबकी एक श्रेणी बनानी पड़ेगी। समाज की अस्मिताओं को जड़स्वरूप से परिभाषित करना पड़ेगा। मेरे विचार से दोनों बहुत खतरनाक चीज हैं। जाति समुदाय, या किसी भी समुदाय को इस तरह जड़स्वरूप से परिभाषित करना अपने आप में दीर्घकाल में समाज परिवर्तन की राजनीति के लिए अच्छी बात नहीं है और ऐसा कोई भी बँटवारा करना जो कि उस काम के गुणधर्म से निरपेक्ष हो। ये दोनों चीजें बहुत खतरनाक हैं। इसके बजाय समता की नई दृष्टि की तरफ हमें बढ़ाना होगा जिसे बहुत सामान्य तरीके से अवसरों की समानता कहा जाता है। हम परिणामों की नहीं अवसरों की समानता चाहते हैं।

सामाजिक न्याय की नीति

जो मैंने दूसरा, बड़ा सवाल उठाया था कि सामाजिक न्याय की नीति क्या हो? इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश में जातिगत विषमता की इतनी बड़ी हकीकत को तोड़ने के लिए जाति आधारित आरक्षण की जरूरत थी और है। खासतौर पर एक समय जब देश का

समतामूलक आंदोलन, जो वामपंथी आंदोलन रहा, समाजवादी आंदोलन भी इन दोनों में जाति के सवाल पर जो चुप्पी थी, उस चुप्पी को तोड़ने के लिए यह जरूरी था कि जाति के मुद्दे को प्रखरता से उठाया जाए। साठ-सत्तर के दशक में जाति के सवाल को विषमता के एक प्रमुख स्तंभ के रूप में चिह्नित करना और उसे तोड़ने का उपाय बनाना बहुत जरूरी था। यह भी हकीकत हैं कि समता स्थापित करने के लिए हमारे देश में जो तमाम किस्म की नीतियां बनी हैं उनमें से अगर कोई नीति कारगर साबित हुई हैं तो वह आरक्षण की नीति है। इन दो चीजों के देखते हुए यह स्वाभाविक रहा कि जाति पर आधारित आरक्षण को हम सामाजिक न्याय का एक प्रमुख अंग और एक प्रमुख नीति मानें। हकीकत यह भी है, खास कर दलित और आदिवासी समाज के बारे में, कि अगर आरक्षण न होता तो आज भी हमारे देश में दलित-आदिवासी समाज की थोड़ी सी भी जो भागीदारी दिखाई देती है वो भी दिखाई नहीं देती। लेकिन आज जो सवाल उठा है, वो यह है कि क्या सामाजिक न्याय की नीति को केवल आरक्षण तक सीमित रहना चाहिए? चार सवाल मुझे दिखाई देते हैं जिनका उत्तर मुझे उस नीति में नहीं दिखाई देता, जिसे आज हम चला रहे हैं।

पहला सवाल कोटा के भीतर कोटा का सवाल है। आंध्र प्रदेश का मादिगा समाज कहता है कि उन्हें आरक्षण से कुछ नहीं मिला। उत्तर भारत का वाल्मीकी कड़वाहट से कहता है कि आरक्षण ले लो वापिस। मुझे कुछ नहीं मिला है इससे। मैं समझता हूँ दलित समूह के भीतर दलित समूह देश के अलग-अलग इलाकों में रह रहे हैं। हर जगह आरक्षित समूह के भीतर एक ऐसा वर्ग है जिसे विशेष फायदा नहीं मिला है। पहला सवाल यह है कि क्या इन सब वर्गों को एक वर्ग के रूप में देखें या फिर इनके भीतर वर्गीकरण किया जाए। हमारे सामाजिक न्याय का दर्शन इस प्रश्न पर हमें निश्चित रास्ता नहीं दिखाता।

दूसरा सवाल सुप्रीम कोर्ट की भाषा में क्रीमी लेयर का सवाल है। यह नाम भद्दा सा है लेकिन सवाल सच्चा है। यह सवाल कहता है कि आरक्षण का लाभ लेने वाले वर्ग के भीतर एक छोटा सा समुदाय ऐसा है जो उस समुदाय के बाकी लोगों से सामाजिक, शैक्षणिक दृष्टि से बहुत अलग हो चुका है। एक सामान्य व्यक्ति को साधारण आँख से देखने पर यह लगता है कि इन लोगों को आरक्षण क्यों मिल रहा है? जब यह सवाल सड़क पर उठाया जाता है, अखबारों में उठाया जाता है तो इसके पीछे एक शरारत होती है। शरारत यह होती है कि सवाल क्रीमी लेयर का उठाया जाता है और क्रीमी लेयर बनाम सामान्य श्रेणी का सवाल उठाया जाता है। मेरी निगाह में वह इतना महत्त्वपूर्ण सवाल नहीं है, क्योंकि मेरी समझ में आज दलित समाज की, आदिवासी समाज की क्रीमी लेयर भी सामान्य जनसंख्या की तुलना में बहुत पिछड़ी है। लेकिन इस प्रश्न का एक दूसरा पक्ष है जिसे सामाजिक न्याय का आंदोलन नजरअंदाज नहीं कर सकता और वह है इसी समाज के भीतर क्रीमी लेयर बनाम नॉन क्रीमी लेयर के बारे में उसकी नीति क्या हो? सामाजिक न्याय आंदोलन पिछले कुछ सालों से क्रीमी लेयर की अवधारणा का विरोध करता है। क्योंकि हम मानते हैं कि यह

षड्यंत्र है किसी ना किसी तरह से सामाजिक न्याय की नीति को खत्म करने का। मुझे लगता है कि यह सवाल महत्त्वपूर्ण है, हमें इसका उत्तर ढूँढना पड़ेगा।

तीसरा सवाल और भी संवदेनशील सवाल है, वो है पुनर्मूल्यांकन करने का यानी कि कुछ जाति समुदाय आज ऐसे हैं जिन्हें आरक्षण का फायदा नहीं मिलना चाहिए। ये सवाल अलग-अलग संदर्भ में उठा है। राजस्थान के मीणा समाज के बारे में प्रश्न बार-बार उठा है। गुज्जर समाज का जो आंदोलन है वो वास्तव में जाटों को ओबीसी बनाने के और मीणाओं को आदिवासी बनाने की नीति के विरुद्ध आंदोलन है। वे इस सरकारी क्लासीफिकेशन की गलतियों से उपजा हुआ आंदोलन है।

कर्नाटक के वोकालिग्गा और उत्तर भारत में मछुआरे का काम करने वाले निषाद की शैक्षणिक अवस्था में उतनी ही दूरी है, जितनी ब्राह्मण और दलित में होती है। उनको हम एक श्रेणी में कैसे डाल सकते हैं? लेकिन प्रश्न यह है कि क्या सामाजिक न्याय का आंदोलन इस प्रश्न पर विचार करने के लिए तैयार हैं? क्या हम लोग जो सामाजिक न्याय का समर्थन करते हैं वो कोई पैमाना, कोई युक्ति, कोई योजना बता सकते हैं जिससे यह तय किया जाए कि कौन-सा समुदाय पिछड़ा है, दलित है, आदिवासी है, नहीं है या किसे आरक्षण का फायदा मिलना चाहिए, किसे नहीं मिलना चाहिए।

सामाजिक न्याय के पैरोकार सोचते हैं कि ऐसी किसी बात की चर्चा करना भी खतरनाक है क्योंकि यह रास्ता फिसलन भरा है। ऐसे रास्ते पर पाँव रखना खतरनाक जरूर है। लेकिन इससे बाहर खड़े रहना तो बिल्कुल आत्मघाती है। इन सवालों का सामना करना हमें सीखना चाहिए।

चौथा सवाल, जिसका उत्तर मुझे आज सामाजिक न्याय की राजनीति में नहीं मिलता, वह है जाति के अलावा दूसरे किस्म की विषमताओं का सवाल। यह सवाल मीडिया में अक्सर बहुत स्थूल तरीके से उठाया जाता है गरीब ब्राह्मण की छवि के सहारे। यह साबित करने के लिए उठाया जाता है कि आरक्षण अप्रासंगिक है, इस देश में जाति नामक कोई चीज है ही नहीं इत्यादि। लेकिन इस सवाल को उसकी राजनीति से अलग करके देखा जाना चाहिए। समाज में गैरबराबरी के अनेक आयाम होते हैं। जाति उसका एक आयाम है, गरीबी-अमीरी उसका दूसरा आयाम है, औरत-मर्द उस गैरबराबरी का तीसरा आयाम है, रंग-भेद चौथा आयाम है। क्या हम लोहिया की सप्तक्रांति को भूल गए हैं?

पाँचवा प्रश्न प्राइवेट सेक्टर से संबंधित है। प्राइवेट सेक्टर में किसी न किसी किस्म के विशेष अवसर की आवश्यकता है, खासतौर पर इसलिए कि सार्वजनिक क्षेत्र हमारी अर्थव्यवस्था का बहुत छोटा हिस्सा बनता जा रहा है। मगर जैसे ही हम प्राइवेट क्षेत्र में कुछ करने को सोचते हैं, तब हमारी माँग का स्वरूप बनता है, प्राइवेट क्षेत्र में आरक्षण। क्या आरक्षण ही एक मात्र औजार है सामाजिक न्याय का? दूसरे किसी औजार की बात हम सोच नहीं सकते?

इसे अंग्रेजी में कहते हैं न रिफ्लेक्स एक्शन – जैसे ही सामाजिक न्याय का बटन दबाओं, वैसे ही आरक्षण की माँग सामने आ जाती है। प्राइवेट सेक्टर में आरक्षण, महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए आरक्षण, शिक्षा में आरक्षण। मानो सामाजिक न्याय का और कोई औजार नहीं है।

आज सामाजिक न्याय की राजनीति जिस मोड़ पर आ गई है, वहाँ हम इन प्रश्नों से मुँह नहीं मोड़ सकते। इसलिए हमें बहुआयामी विषमता को स्वीकार करना होगा। समाज में विषमता के अनेक किस्म के आयाम हैं। कोई भी एक आयाम अन्य सभी आयामों को अपने में समा नहीं लेगा। हम जैसे लोग अपने मार्क्सवादी मित्रों को बीस साल पहले कहते थे कि भैय्या क्लास है, अमीर गरीब हैं, लेकिन अमीरी-गरीबी जाति की विषमता को खत्म नहीं कर देती।

आज वही बात पलट कर हमें खुद याद करने की जरूरत है। जाति विषमता है; लेकिन जाति विषमता अमीरी गरीबी को खत्म नहीं कर देती, वो लिंग भेद को खत्म नहीं कर देती, वो शहर-गाँव के फर्क को खत्म नहीं कर देती। और ये बात मैं केवल अमूर्त रूप में नहीं कह रहा हूँ। आज भी देश में अगर वैकल्पिक सोच बनानी है तो हमें मानना होगा कि हमारे यहाँ बहुआयामी विषमताएँ हैं जो एक दूसरे में समा नहीं जाती। समाज की इस हकीकत को हम सैद्धांतिक रूप से पिछले ३० सालों से जानते थे, पता नहीं क्यूं पिछले दस साल में भूल गए।

सामाजिक न्याय के औजारों में हमें आरक्षण के साथ-साथ अन्य औजारों का समावेश करना होगा। साथ-साथ मैं इसलिए कहता हूँ कि सरकारी नौकरियों में , खासतौर पर दलित और आदिवासी समुदाय के लिए आज की तारीख में आरक्षण ही सर्वश्रेष्ठ विकल्प है, दूसरा कोई विकल्प नहीं है। लेकिन आज सामाजिक न्याय का सवाल केवल इन्हीं श्रेणियों और सरकारी नौकरी तक सीमित नहीं है। यह सवाल कई तरह के समुदायों और कई तरह के क्षेत्रों का सवाल है।

सतीश देशपांडे और मैंने मिलकर एक सुझाव रखा था कि शिक्षण संस्थाओं में केवल ओबीसी विद्यार्थियों के लिए २७ फीसदी आरक्षण की बजाय, हम एस.सी.-एस.टी. के लिए जो सीट्स रिजर्व हैं उनके अलावा जो ७७ फीसदी सीटें बचती हैं, उन सब सीटों के लिए एक अन्य फॉर्मूला लागू करें। फॉर्मूला यह होगा, कि आपका एडमिशन केवल परीक्षा के नंबरों के आधार पर नहीं होगा। आपके नंबरों के साथ-साथ यह देखा जाएगा कि आपने यह नंबर किन स्थितियों में प्राप्त किए हैं।

सामाजिक न्याय की राजनीति

तीसरा और अंतिम बड़ा सवाल मैंने शुरू में उठाया था, वह था सामाजिक न्याय की राजनीति का सवाल। हमारे देश में सामाजिक न्याय की राजनीति के दो दौर आए हैं। पहला

दौर, जहाँ समता के आंदोलन ने एक बहुत निर्गुण तौर पर समता के विचार की वकालत की। चाहे जाति की भी बात की तो बड़े निर्गुण तरीके से बात की। उस दौर में समाजवाद, क्रांतिकारी राजनीति इन सबकी बात खूब हुई। लेकिन जब उस क्रांति के वाहक को देखा जाता था, तो वे वही भद्र लोग अगड़ी जाति के, वही सब लोग जो समाज के समान्य नेता थे, वही सब पलटकर समता, समाजवाद, क्रांति सब की बात कर रहे थे। इस निर्गुण समता के आंदोलन में एक खोखलापन था, जो बाद की राजनीति ने दिखाया, बहुत सख्ती से दिखाया, बहुत ईमानदारी से दिखाया, जिसकी जरूरत थी।

उसके बाद दूसरा और सगुण दौर आया। इस दौर में अगर आप समता की बात करेंगे, तो आपको ये पूछना होगा कि अपनी पार्टी के पॉलिट ब्यूरो में कहाँ के लोग आते हैं? ये बड़ा तीखा सवाल था। पूछना बड़ा मुश्किल था – आज भी पूछना बहुत मुश्किल हैं। मैंने कुछ साल पहले एक साधारण सा सवाल पूछा कि पश्चिम बंगाल की सरकार में किस जाति के लोग हैं । चार साल के बाद मुझे उत्तर मिला और उत्तर यह था कि ज्योति बाबू की सरकार और बुद्धदेव भट्टाचार्य दोनों की सरकार में दो तिहाई मंत्री केवल तीन अगड़ी जातियों से हैं!

लेकिन इस सवाल का दूसरा पहलू भी है। क्या ये समतामूलक राजनीति का अंतिम ध्येय है कि जो लोग सत्ता में आए, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि दलित–पिछडे वर्ग से हो? क्या महिला आंदोलन की अंतिम परिणति यह है कि एक महिला राष्ट्रपति हो? मायावती के शासन के बारे में कभी तो आपको पूछना पड़ेगा कि उनके राज में दलितों की आर्थिक–सामाजिक स्थिति में क्या फर्क पड़ा? आपको यह भी पूछना पड़ेगा कि आखिर क्यों उत्तर प्रदेश के इतने सारे लोग मुलायम सिंह यादव से नाराज थे? आपको यह तो पूछना पड़ेगा कि लालू प्रसाद यादव जब १५ साल तक बिहार के मुख्यमंत्री रहे तो बिहार के गरीबों की हालत में क्या बदलाव आया, बिहार का क्या विकास हुआ? आज इस किस्म के सवाल पूछना प्रतिक्रांतिकारी मान लिया गया है। लेकिन जो लोग समतावादी हैं उनको तो यह सवाल पूछना पड़ेगा। इसलिए कहीं न कहीं, समता की, सामाजिक न्याय की राजनीति को एक तीसरे दौर में प्रवेश करने की जरूरत है, जो अमूर्त सिद्धांतों को नेतृत्व और नीति के सगुण सवालों से जोड़े।

मैंने यहाँ जो सवाल उठाए हैं इन सवालों को उठाना हमारी कमजोरी नहीं, हमारी मजबूती की निशानी होगी। इन सवालों को उठाकर हम सामाजिक न्याय के विचार को शायद नई पीढ़ी तक पहुँचा सकते हैं सामाजिक न्याय की राजनीति को पुनर्स्थापित करने का संघर्ष केवल सामाजिक न्याय के सवाल का संघर्ष नहीं हो सकता। उसे समता के एक समग्र आंदोलन से जोड़ना होगा। ये सवाल सामाजिक न्याय के संघर्ष को समता के एक समग्र आंदोलन से जोड़ने में मददगार हो सकते हैं।

n

जातिगत झगड़े और हमारा भविष्य

सच्चिदानंद सिन्हा

जाति व्यवस्था में पहले भी काफी कमियाँ थीं और आज के समानतावादी आदर्शों के दौर में तो यह एकदम ही अनुपयुक्त है। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि भारत के लोग ऊँच–नीचवाली श्रेणीबद्धता के मूल्यों, जिसका जीवित रूप जाति व्यवस्था है, के साथ जिए हैं और उनको इसके साथ ही जीना चाहिए।

सच तो यही है कि मानव विकास के शुरुआती चरण में मौजूद अन्य अधिकांश व्यवस्थाओं की तरह यह भी एक दमनकारी व्यवस्था थी और उन व्यवस्थाओं की तरह इसे भी विदा हो जाना चाहिए। लेकिन जब–जब इसे समाप्त करने की बात करते हैं तभी हमें अपने रास्ते में अनेक अकल्पनीय मुश्किलें उभरती दिखती हैं।

जाति व्यवस्था बहुत स्पष्टतया आर्थिक भूमिकाओं और पुरस्कार–दंड व्यवस्था से लैस एक उसी तरह का उत्पादक सम्बन्ध है जैसा कि पूँजीवाद में है या किसी हद तक सामन्तवाद में था। इसमें आर्थिक कामकाज और अच्छे काम का पुरस्कार तो जाति के आधार पर बँटता है पर यहाँ आर्थिक पक्ष पीछे रह जाता है। इस व्यवस्था के लोगों की हैसियत उनके भौतिक साधनों या कमाई से तय नहीं होती उन्हें अपनी जाति के हिसाब से खुद को ऊँचा या नीचा मानना होता है। इससे जाति को समाप्त करने का काम बहुत ही मुश्किल और जटिल बन जाता है।

अगर जाति व्यवस्था मुख्यतः आर्थिक सम्बन्ध वाली होती तो इसे समाप्त करना आर्थिक वर्गों को मिटाने जितना आसान होता। किसी एक वर्ग की भौतिक सम्पदा को दूसरा वर्ग ले या छीन सकता है, पुनर्वितरित कर सकता है। वेतन और कमाई के ढाँचे को पुनर्गठित करके कमाई को बराबर बनाया जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से तो यह चीज हरदम सम्भव है और जहाँ सम्पदा कुछ ही हाथों में सिमटी हो वहाँ पुनर्वितरण और भी आसान है। इसके लिए गरीबों को आन्दोलित करके आर्थिक नीतियों में बदलाव के लिए दबाव बनाने की जरूरत होती है। यह बहुत तार्किक कार्य व्यापार है और जो चीजें छीनी जाती हैं वे बाहरी ही हैं जिनके रहने और न रहने से ही कोई समाज में अमीर या गरीब बनता है। यह बात गरीबों को लामबन्द करने तक जाती है, जिससे वांछित बदलाव किया जा

सके। लेकिन जाति व्यवस्था एकदम ही अलग तरह की चीज है। यहाँ बड़ा और छोटा होने की मानसिकता ही असली फर्क लानेवाली चीज है। एक दरिद्र ब्राह्मण भी 'छोटी' जाति के लोगों के प्रति ठीक वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा कि अमीर ब्राह्मण। बल्कि अमीर के पास तो अपनी श्रेष्ठता बताने का दूसरा तरीका भी है इसलिए गरीब ब्राह्मण उससे भी ज्यादा घटिया किस्म का व्यवहार करेगा, खुद को बड़ा बनाने का अधिक प्रयास करेगा। इससे ही हम जाति व्यवस्था में अमीरी और गरीबी वाले ध्रुव को तलाशने के रास्ते में आनेवाली परेशानियों का अन्दाजा लगा सकते हैं। गरीब ब्राह्मण को (गरीब श्वेत की तरह ही) अपनी जातीय श्रेष्ठता का अहसास अमीर ब्राह्मण से भी ज्यादा होता है और वह ऐसे किसी आन्दोलन में हिस्सा नहीं लेगा जो उससे यह श्रेष्ठताबोध छीन ले। इसलिए जाति-नाश की लड़ाई के लिए की जाने वाली किसी भी कोशिश में सबसे पहले द्विज जातियाँ एकजुट हो जाती हैं और उस वक्त उनमें अमीर-गरीब का भेद भी नहीं रहता। तब पुरानी कबीलाई निष्ठाएँ जाग जाती हैं और जातियों के बीच फासले और गहरे हो जाते हैं। देश के अनेक हिस्सों में हाल में ठीक यही चीज हुई। पिछड़ी जातियों या हरिजनों को एकजुट करके जाति की लड़ाई लड़ने की हर कोशिश का उन जातियों ने एकजुट होकर जवाब दिया जिनके खिलाफ यह लड़ाई लड़ी जानी थी और अक्सर इस विवाद ने हिंसक रूप भी लिया। ऐसे टकरावों और अफ्रीकी समाजों में हुए कबीलाई टकरावों में कई तरह की समानताएँ हैं।

जाति संघर्ष और वर्ग संघर्ष में समानता मानते हुए जो लोग जाति संघर्ष का आह्वान करते हैं वे इन दोनों के बीच बुनियादी अन्तरों को भूल जाते हैं। वर्ग तो बाहरी सम्पत्ति के आधार पर बनते हैं जबकि जाति दिमाग के अन्दर बसे पूर्वाग्रहों, विशिष्ट पहचान और श्रेष्ठताबोध के आधार पर फलती-फूलती है। जातियों के बीच दुश्मनी या उग्रता का भाव इन पूर्वाग्रहों को और पुख्ता बनाता है और इनके बीच अलगाव बनाने वाली शक्तियों को ही मजबूत करता है। जब दो समूहों में टकराव हो तो सदा दोनों के बीच अन्तर पर ही जोर दिया जाता है। जातियों में जोर-दबर्दस्ती से बदलाव भी नहीं किया जा सकता जैसा कि कई बार धर्मान्तरण में हो जाता है। जातीय या नस्लवाली पहचान की तरह, जिससे जाति बहुत हद तक मेल भी खाती है, जाति की भावना साझा उत्पत्ति और विशिष्ट सामाजिक स्थिति के बोध में ही निहित होती है, जैसा कि कबीलों के मामले में होता है। अगर कोई जाति विभिन्न समूहों को मिलाकर बनती है तब भी उनके साझा पूर्वजों और जाति की शुद्धता के मिथक गढ़ लिए जाते हैं। और जाति चाहे ऊँची हो या नीची, सभी पर यह बात लागू होती है। इसलिए जब कोई व्यक्ति अपना धर्म बदल लेता है तब भी समूहवाली उसकी पहचान नहीं मरती। भारत में इसका एक अलग ही रूप देखने को मिला है और धर्म बदलने पर भी जाति वही बनी रहती है। इस्लाम और ईसाई जैसे मत भी, जिनमें समानता ही बुनियादी चीज है, जाति को दबा नहीं पाते। शेख और सय्यद जैसा उच्च जाति का मुसलमान मोमिनों

के यहाँ शादी करने की हामी नहीं भरेगा। केरल के ईसाइयों में भी ऐसा ही जातिगत बँटवारा है। वहाँ सीरियन ईसाई खुद को नायरों के बराबर और कई बार नम्बूदरी ब्राह्मणों के बराबर मानते हैं। वे आम तौर पर लैटिन ईसाई से शादी नहीं करते। ऐसी शादी नायरों द्वारा हरिजनों से शादी करना मानी जाएगी।

इस दुविधा या उलझन को देखते हुए जाति संघर्ष के पक्षधरों ने यह कोशिश भी कि आर्थिक प्रकृति की शिकायतों को भी जातिगत विभाजन के हिसाब से इकट्ठा करके पेश किया जाए। चूँकि जातिगत और वर्ग विभाजन हर मामले में साथ नहीं दिखते और आर्थिक समस्याओं के समाधान आर्थिक सुधार के रास्ते आते हैं, इसलिए यह तर्क भी दमदार नहीं बन पाया। पर एक नारे या युद्धघोष के तौर पर यह चीज चल पड़ी, पर इसमें हिटलर द्वारा जर्मनी के सारे मर्जों का कारण यहूदियों को बतानेवाले तर्क की झलक दिखाई देती है। यह सही है कि तब कुछ आर्थिक और बौद्धिक क्षेत्र में यहूदियों की प्रमुख भूमिका थी, लेकिन समाज के अगुवा की भूमिका में जर्मन भी थे और नेतृत्व में उनका ज्यादा ही बड़ा हिस्सा था। लेकिन भारी परेशानी झेल रहे और बलि का बकरा ढूँढ़ रहे लोगों के लिए हिटलर की इस बात के आगे प्रमाण लाने और विचारने की सुध नहीं थी। इसलिए व्यवस्था में सुधार करके अपने बदहाली दूर करने की जगह यहूदियों को मारने-समाप्त करने में ही समाज के सारे तनाव और कुंठा को निकलने दिया गया ।

अगर जाति युद्ध को भी अपनी तार्किक परिणति तक ले जाया गया तो यह भी उसी तरह के 'समाधान' पर पहुँचेगा। अपने सारे भौतिक संसाधनों से वंचित होकर भी उच्च जाति में जन्मा व्यक्ति इस अहसास को नहीं जाने देता कि वह फलाँ कुल में, फलाँ जाति में जन्मा है, इसलिए श्रेष्ठ है। ऐसे में किसी भी समूह को आलोचना का पात्र बनाते हुए वह तो अलग होगा ही, सभी उसके खिलाफ हो जाएँगे। और फिर जिन लोगों को यह सब झेलना पड़ेगा, निश्चित रूप से वे भी बदले की कार्रवाई करेंगे ही। और इस प्रकार बात बढ़ते-बढ़ते यहूदी दमनवाले दौर के गैस चैम्बरों और फाँसी के तख्तों तक पहुँच जाएगी। और असल में अधिकांश मामलों में किसी भी जाति के चुनिन्दा लोगों को छोड़कर किसी से भी कुछ ठोस भौतिक चीज पा सकने की स्थिति ही नहीं रहेगी। दूसरी ओर इस तरह सताए जाने से जातियों के पूर्वाग्रह और बढ़ेंगे - और जाति व्यवस्था की भी यही नींव है। हिटलर के साम्यवाद विरोधी आन्दोलन से उग्र जियोनिज्म वाली शक्तियों को ही बल मिला। इसी प्रकार जातीय संघर्ष और परिणामस्वरूप बड़ी जातियों के प्रति घृणा ऊँची जाति के लोगों में कट-मर जाने की भावना भरेगी। और यह चीज फिलिस्तीनी-यहूदी संघर्ष की तरह स्थायी युद्ध का रूप ले लेगी, बल्कि उससे भी बदतर क्योंकि यहाँ तो सिर्फ फिलिस्तीन और इजरायल बनाने से काम नहीं चलेगा। यदि अलग-अलग जातियों के मुल्क बँटे तो बँटने को जमीन ही न होगी। यदि सचमुच ऐसा हुआ तो हमारी जनता के लिए इससे बदतर

स्थिति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऊपरी तौर पर जिस लड़ाई को द्विज और शूद्र जातियों के बीच मान लिया जाता है वह गम्भीरता से देखने पर बहुत ही जटिल किस्म की जातीय लड़ाई में बदलती दिखती है। जातियाँ तीन मोटी श्रेणियों में बँटी हैं–१.द्विज, २.शूद्र, और ३.अछूत या जाति–बहिष्कृत। आज मध्य जातियाँ कही जाने वाली शूद्र जातियाँ अछूतों से द्विजों से भी ज्यादा दूरी महसूस करती हैं। शादी को छोड़कर द्विजों और इन मध्य जातियों के बीच हर तरह के सामाजिक सम्बन्ध अब आम हैं और मान्य हैं। लेकिन मध्य जातियों के लोग द्विज ब्राह्मणों की तरह ही अछूतों से दूरी रखते हैं। फिर इन तीनों मोटी श्रेणियों के अन्दर भी काफी गहरे बँटवारे हैं और यह दरार सिर्फ उसी वक्त नहीं दिखती जब एक समूह की जातियाँ दूसरे समूह की जातियों के खिलाफ कमर कसती हैं। ऐसे अवसरों पर एक व्यापक मोर्चा बनाने, एक दूसरे को गले लगाने (और इसमें कहीं भी आपसी अलगाव को भरने की मंशा नहीं रहती) की कोशिशें की जाती हैं। जब मोर्चे पर जानेवाली यह भावना समाप्त हो जाती है। तो हर जाति वापस अपने–अपने दायरे में चली जाती है और फिर आपसी नफरत और रंजिशें चलने लगती हैं।

इस विभाजन के भी तीन स्तर हैं––वर्ण के स्तर पर विभाजन, वर्णों के अन्दर जातिगत विभाजन और जातियों के अन्दर उप–जातियों वाले विभाजन। और किसी भी व्यक्ति की असली निष्ठा उसकी उपजाति में होती है। इसलिए जाति संघर्ष तार्किक रूप से उपजातियों की छोटी–छोटी घेराबन्दी और फिर उनके गठजोड़–प्रतिगठजोड़ तक जाएगा। यह परिदृश्य काफी कुछ जंगल के कानून से चलते समाज का है– और फिर इन समूहों की संख्या इतनी ज्यादा होगी कि इसमें हिटलरवाला अन्तिम समाधान भी सम्भव नहीं रह जाएगा।

यह बात निश्चित नहीं है कि जाति युद्ध के पक्षधरों को अपने इस कथन की तार्किक परिणति का अन्दाजा होगा। अगर ऐसा हो तब भी इस 'शार्ट कट' उपाय के लाभ इतने हैं कि इससे वे अपनी आखों पर पट्टी बाँध लेते हैं। शिकायतों का सारा पुलिन्दा रखनेवाले भी अपनी करनी में दीर्घकालिक परिणामों की परवाह नहीं करते। वे तो बस सामने दिख रहे दुश्मन पर ही सारी परेशानी उतार देंगे। और हमारी भारतीय स्थितियों में सबसे स्पष्ट दुश्मन तो सामाजिक श्रेणी में एक पायदान ऊपर बैठा व्यक्ति ही है। इसमें कोई भेदभाव नहीं है और इस चीज को समर्थन मिलता भी रहा है। राजनीतिक खेल में जिन लोगों को बाकी मुद्दों को दरकिनार करके भावनात्मक समर्थन की दरकार होती है वे इन भेदभावों और बँटवारे का मसला छेड़ देते हैं और फिर उन्हें उन सभी लोगों के समर्थन का भरोसा हो जाता है जो इस तरह के बँटवारे या भेदभाव से खुद को त्रस्त मानते हैं। और दूसरा पक्ष भी शान्त नहीं रहता। उसकी तरफ से भी तत्काल और उतनी ही जोरदार गिरोहबन्दी होती है।

और फिर इस स्थिति का लाभ अपनी राजनीति चमकाने के लिए उठाने वाले ऐसे नेताओं की कोई कमी है ही नहीं जो ऐसे अवसरों की ताक में बैठे रहते हैं। इस प्रकार सत्ता का अपना खेल चलने लगता है जिसमें जाति सबसे लाभदायक उपकरण बन जाती है। सारे गड़े मुर्दे उखाड़कर भावनाएँ भड़काई जाती हैं। जैसा कि हमने पिछले दिनों देखा है कि आदमी–आदमी के बीच अन्तर की बात – जोकि जाति व्यवस्था की बुनियादी पहचान है – उस मानवीय संवेदना को ही नष्ट करने के लिए उठाई गई जो एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य पर किए जानेवाले जुल्म में एक सात्विक किस्म के रोष का काम करती है। इसी का परिणाम है कि अन्तर–जाति टकरावों में क्रूरतम उपाय अपनाए गए।

क्रूरता फूटने की ये वारदातें तब और डरावनी लगती हैं जब हम उस परिप्रेक्ष्य पर नजर डालते हैं जिसमें ये घटनाएँ हो रही हैं। यह किसी किस्म के अस्वाभाविक गुस्से या पागलपन का फूटना नहीं है जो समय के साथ ही विदा हो जाएगा। अगर हम आज की दुनिया पर नजर डालें तो पाएँगे कि इस तरह के व्यवहार आम चलन बनते जा रहे हैं, चाहे वह जातीय मसलें हों या क्षेत्रीय, धार्मिक विवाद हों या नस्लवादी। आतंकवाद वास्तविक या काल्पनिक अत्याचारों को दूर करने का, उनका बदला लेने का व्यापक तरीका बन गया है। अक्सर आतंक का शिकार एकदम निर्दोष और भले स्त्री–पुरूष बच्चे बनते हैं जिनके खिलाफ आतंकवादियों के मन में भी कोई गुस्सा नहीं होता। लेकिन वे आतंकवादियों के वास्तविक निशाने या 'दुश्मन' लोगों से किसी तरह जुड़े हो सकते हैं, उस इलाके में रहे या गए हो सकते हैं, उनको मारने से 'दुश्मन' किसी तरह प्रभावित हो सकता है। अब जैसे आतंकवादी विमान अपहृत करते हैं या स्कूलों पर बम फेंकते हैं तो ऐसा दुनिया का ध्यान खींचने या खास तरह का दबाव बनाने के लिए ही करते हैं। और इन सबमें सबसे बड़ी चिन्ता की बात है मनुष्य का बतौर मनुष्य मोल खत्म होते जाना। कोई व्यक्ति जिस समूह का हो वही केन्द्रीय बन जाता है और उसके लिए बाकी सारे लोग बाहरी हो जाते हैं । पर यह बाहरीपन या परायापन बाकी सभी को मनुष्य न मानने तक पहुँच जाता है और उनका उपयोग अपने लिए या अपने समूह के लिए करने में हर्ज नहीं लगता। पर इस स्थिति की विडम्बना है कि सारे समूह इसी तरह सोचते हैं।

आधुनिक युग के सैन्यवाद और युद्ध ने भी मानव जीवन के प्रति नजरिए में बदलाव किया है और उसका मोल घटाया है। इस तरह की लड़ाई में जान की परवाह तो रहती ही नहीं। यह सिर्फ सैनिकों के बीच सीमित नहीं रहती। इसमें आराम से आम आदमी को भी निशाना बनाया जाता है और नागरिक ठिकानों पर बमबारी करने में कोई हिचक नहीं रहती। यह बात जगजाहिर है कि सैनिकों को उकसाया जाता है, धन का लोभ देकर प्रोत्साहित किया जाता है कि वे आम लोगों का संहार करें, जिससे समझौता बातचीत में उनके पक्षवालों को अपना हाथ ऊपर रखने में मदद मिले। कहना न होगा कि लड़ने, मरने–

कटनेवाले और होते हैं और वातानुकूलित होटलों या सभागृहों में समझौता और शान्तिवार्ता करने वाले और। मोटे-थुलथुल राजनेताओं को अपनी नाक या मूँछ ऊपर रखने की चिन्ता रहती है। इस चीज की सभी निन्दा करते हैं। पर इन्हीं बातों को ध्यान में रखने और अपने मकसद को ही सबसे सही मानने के चलते जब फौजी या आतंकवादी बच्चों के स्कूल पर बम फेंकता है या किसी निर्दोष को निशाना बनाता है तो उसे कोई अपराधबोध नहीं होता। उसे नहीं लगता कि मरनेवाले ने किसी खास इलाके, खास कुल या नस्ल में जन्म लेकर क्या अपराध कर दिया है।

यह चीज पूरी दुनिया में हो रही है, हमारे कथित पिछड़े महादेश से लेकर गोरों की ईसाई भूमि या विकसित इलाके तक में। अरब, यहूदी, तुर्क, इतालवी, जर्मन, अमेरिकी, कोई भी नहीं बचा है जो एक 'पवित्र' उद्देश्य के लिए बम की दीक्षा लेने को गलत मानता हो। हर खेमा अपने उद्देश्य और पक्ष को एकदम सही मानता है और दूसरे के नजरिए या सोच के प्रति आँखें मूँदे रहता है, इसलिए इस टकराव में तब तक अन्त आता नजर नहीं आता जब तक हर समूह थोड़ी देर के लिए अपने पक्ष को भूलकर खुद को दूसरे की स्थिति में रखकर पूरी स्थिति पर पुनर्विचार न करे, सबको समान मनुष्य न माने और मानव जीवन को सर्वोच्च स्थान न दे।

इस पृष्ठभूमि में भारत में होने वाले जातीय टकराव उन सभी लोगों लिए चिन्ता का विषय बनने चाहिए जो मानव व्यवहार के सभ्य तौर-तरीकों को बचाने की चिन्ता करते हों।

जब तक जातीय टकराव के पीछे की मानसिकता को समझने और अज्ञानता के चलते इन न्यस्त स्वार्थी तत्त्वों द्वारा उभारे गए टकराव के मुद्दों को दबाने का प्रयास नहीं किया जाता, हम भारी मुश्किल में फँसेंगे ही। हम उसी ओर बढ़ते जा रहे हैं। जो लोग ऐसे टकराव से लाभ में रहेंगे या लाभ ले रहे हैं उन्हें भी यह सोचना होगा कि वे कहाँ जा रहे हैं और आज मिलनेवाले छोटे लाभ क्या कल उन्हीं को और पूरे समाज के लिए भारी नहीं पड़ेंगे।

जाति आधारित बिखराव इतना व्यापक है कि अगर लोग अपने आधिकारिक पद की जिम्मेदारियों की जगह जातिगत निष्ठाओं को रखने लगें तो कोई भी प्रशासन काम कर पाएगा? ऐसी स्थिति में व्यवस्था बैठ जाएगी। हाल में उभरे जातिवाद के नए दौर और टकरावों ने लोकतान्त्रिक संस्थाओं और प्रशासनिक कुशलता पर गम्भीर चोट की है। अगर नियुक्ति, पदस्थापन और तबादला, सभी में काबलियत और कामकाज को आधार बनाने की जगह व्यक्ति की जाति के आधार पर फैसले लिए जाने लगें तो कोई भी प्रशासनिक व्यवस्था कैसे काम कर सकती है?

राजनीति आधुनिक समाज में एकता लानेवाली एक बड़ी शक्ति है, खासकर लोकतान्त्रिक राजनीति। आज का समाज भी पहले के किसी भी समाज से ज्यादा बिखरा

हुआ है। पिछली शताब्दियों में लोगों की आवाजाही, दूरदराज के इलाकों तक धर्म के फैलाव और परिवहन के बढ़ते साधनों ने अब हर मुल्क की एकरूपता या समरूपता को तोड़ा है। आज अधिकांश देशों में मिश्रित आबादी है जहाँ अलग-अलग जातीय समूहों, राष्ट्रीयताओं, धार्मिक मान्यताओं और भाषायी समूहों के लोग साथ-साथ रहते हैं। किसी भी आधुनिक मुल्क की राजनीति इन तरह-तरह के स्वार्थों को एक तार्किक खाँचे में फिट करती है और इस खाँचे को बनाने में इस बात का खास ध्यान रखा जाता है कि कोई भी समूह खुद भी एकदम अलग-थलग महसूस न करे। और इसी विशेष चिन्ता के चलते समाज में एकता कायम की जाती है या बनती है। लेकिन इस भूमिका को निभा सकने में सक्षम होने के लिए राजनीतिक दलों को इस बात से बचना होता है कि वे किसी एक ही गैर-आर्थिक और गैर-तार्किक समूह के साथ खुद को नत्थी न कर दें। अगर वे किसी एक समूह के साथ पूरी तरह जुड़ जाते हैं तो फिर देश में एकता बनाने की अपनी असली भूमिका नहीं निभा सकते। और अगर राजनीतिक दल ही ऐसे समूहों के अनुरूप खुद ही संगठित हों तो समाज की तरह राजनीतिक व्यवस्था भी बिखराव का शिकार हो जाएगी और समाज को एकजुट करने वाली कोई शक्ति ही नहीं रह जाएगी। ऐसी स्थिति में राजनीतिक समूहों का उद्देश्य परस्पर विरोधी हितों को आगे बढ़ाना होगा और अन्ततः राजनीतिक व्यवस्था में सिर्फ बड़े समूहों के पक्षधर ही बचेंगे और उस पर एक बड़े समूह की तानाशाही कायम हो जाएगी। यह तानाशाही जैसी स्थिति अन्य समूहों, खासकर छोटे समूहों की जरूरतों को नजरअन्दाज करेगी और ऐसे समूहों को दबाने का प्रयास भी करेगी। अगर प्रभुत्व की लड़ाई वाले समूहों की ताकत कमोबेश समान होगी तो धीरे-धीरे गृहयुद्ध की स्थिति आ जाएगी और अगर दूसरे समूह बहुत कमजोर हुए तो वे आतंकवाद का सहारा लेंगे।

जातिगत भेदों या अन्तरों को बढ़ा-चढ़ाकर बताने और राजनीति में जाति का मुद्दा बनाने से लोकतान्त्रिक राजनीति का बंटाधार हो जाएगा। और इस चीज को न देख पाना सब कुछ जानकर आँखों पर पट्टी बाँध लेना ही होगा।

लेकिन यह सब कहने का यह मतलब भी नहीं निकाला जाना चाहिए कि सामाजिक अन्याय के लम्बे समय से पड़े मसलों पर ध्यान ही न दिया जाए। ऐसा करने से सम्भव है कि ये विवाद कुछ समय के लिए टल जाएँ पर इस बात की ज्यादा गुंजाइश हो जाती है कि बाद में ये और विस्फोटक रूप लेकर सामने आएँ। ऐसे में जरूरत है कि समस्या को किसी एक छोटे हिस्से की समस्या मानने की जगह पूरे समाज की समस्या मानकर सामाजिक न्याय के हिसाब से निपटाएँ। जातिगत पिछड़ेपन और अक्षमता के मसले को जब सामाजिक न्याय के नजरिए से सुलझाते हैं तब समाज को जोड़नेवाली शक्तियाँ ताकतवर होती हैं और समानता और निष्पक्षता जैसे कुछ बुनियादी मूल्यों के इर्द-गिर्द समाज के सभी समूहों को

एकजुट करती हैं। इससे पुराने पूर्वाग्रहों को उभरने का अवसर नहीं मिलता। अगर यह समझ रहे कि क्या समस्या है तो जातिगत टकराव के अनेक जटिल और उलझे मसलों के भी अनेक समाधान निकाले जा सकते हैं निश्चित रूप से इससे उन लोगों को खास लाभ होगा जो सामाजिक रूप से वंचित रहे हैं और वे पहले की कमी को भी पूरा कर सकते हैं। लेकिन जहाँ तक सम्भव हो इसके साथ ही ऊपरी जाति के गरीब लोगों के लिए भी बदले में कुछ कदम उठाने होंगे जिससे किसी के मन में यह दुर्भावना न फैले कि उन्हें बिना किसी उनकी गलती के ही सजा दी जा रही है या उनके साथ कोई भेदभाव हो रहा है। अधिकांश मामलों में तो पिछड़े और खास कर दलित जातियों के लोग ही सबसे ज्यादा गरीब हैं। ऐसे में यह बेहतर विकल्प हो जाता है कि सिर्फ आर्थिक कदम उठाने की जगह पिछड़ी जातियों की आर्थिक स्थिति को बेहतर किया जाए। जातिगत भेदभाव दूर करने का यह तरीका किसी भी जाति में नाराजगी नहीं पैदा करेगा और जहाँ तक सम्भव हो इसे ही बढ़ावा दिया जाना चाहिए। अक्सर वंचित जाति के लोगों का अपमान उनकी दरिद्रता के चलते कई गुना बढ़ जाता है। दरिद्रता के चलते वे बहुत साफ-सुथरा नहीं रह पाते और फिर यही चीज बड़ी जातियों के लिए एक हथियार बन जाती है कि वे पिछड़ों को, दलितों को गन्दा बताकर अपने से दूर ही रखें। हाँ, अगर बड़ी जाति का आदमी साफ-सफाई नहीं रखता तो इस बात की अनदेखी कर दी जाती है। अगर पिछड़ी जातियों की दरिद्रता दूर कर दी जाए तो उनकी तरफ से नाक फेरने का बहाना भी खत्म हो जाएगा।

हमने ऊपर कहा है कि राजनीति हमारे समय के मिश्रित समाजों में एकता पैदा करने वाली शक्ति के रूप में काम करती है। यह बात एकदम सही है। बशर्ते राजनीति निजी या एक छोटे समूह के लिए सत्ता पाने की मंशा से न की जाए। यह बात तभी सच होती है जब राजनीति समाज के वृहत्तर हितों का ख़याल रखती है और राजनीतिक दल कुछ बातों को न उठाने-छेड़ने पर सहमति रखें। उन्हें समाज को नुकसान पहुँचानेवाले वैसे क्षुद्र प्रयासों का मोह छोड़ना होगा। इन सबका सीधा-सा मतलब यह है कि राजनीति कायदे से चले, मूल्यों पर आधारित हो। इनके बिना तो राजनीति विखंडनवादी शक्तियों का उत्प्रेरक बन जाती है। और हर आधुनिक समाज में ऐसी शक्तियाँ दबी-छुपी रहती हैं। भारत में मर्यादित व्यवहार वाली राजनीति बहुत नहीं चली है। इसी चीज ने जातिवाद, सम्प्रदायवाद और हर किस्म के क्षेत्रवाद जैसी विभाजनकारी शक्तियों को आगे ला दिया है।

इस स्थिति से निकलने का रास्ता न बना पाने की हमारी अक्षमता राजनीति के सीमित नजरिए से भी आई है और यह तंग दृष्टिकोण पश्चिम के राजनीतिक सोच पर चलने के चलते बना है। हम जिस पश्चिमी सैद्धान्तिक ढाँचे के तहत चलते-सोचते रहे हैं उससे अपने समाज के आज के टकरावों और संघर्षों को सही प्ररिप्रेक्ष्य में नहीं समझ सकते। पिछले डेढ़ सौ वर्ष की सभी प्रमुख राजनीतिक और समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ यूरोप के

अनुभव पर आधारित रही हैं जो काफी कुछ एक समान आबादी वाले देशों का समाज है। प्रमुख राजनीतिक, विचारक और समाजशास्त्री लोगों की जो मुख्य चिन्ताएँ रही हैं वे भी अलग-अलग पसन्द या सोचवाली रही हैं अर्थात् बाहरी कारकों से तय हुई हैं। मार्क्सवादियों के लिए पूँजीवाद के तहत उत्पादन और वितरण व्यवस्था की अराजकता चिन्तन का मुख्य मुद्दा थी और वे योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था की तार्किकता लाकर इसे सुधारना चाहते थे। पश्चिमी समाजशास्त्र को बहुत ज्यादा प्रभावित करने वाले मैक्स वेबर के लिए जीवन और विचारों की पारम्परिक शैली की अतार्किकता सबसे बड़ा मुद्दा थी और वे मानते थे कि समाज इस पर जीत हासिल करने और एक तार्किक व्यवस्था लाने का प्रयास कर रहा है। वैसे तो पैराटो ने सामाजिक व्यवहार की अतार्किकता पर जोर दिया पर यह अतार्किकता भी समाज के अन्दर से आती थी और समाज की समानतावादी संस्कृति के चलते सीमित ही रहती थी।

इन सबने जिन प्रणालियों की बात की उनके मूल्यों में एक समानता थी। मार्क्स तक में प्रभावी वर्ग की विचारधारा, जिसमें उसके मूल्य भी समाहित थे, पूरे समाज की विचारधारा बन जाती है। जब एक नया वर्ग सत्ता हासिल करता है तो फिर उसके मूल्य सारे समाज के लिए सार्वजनिक बन जाते हैं।

दूसरी ओर हम आज के अधिकांश समाजों में यह स्थिति देखते हैं कि विभिन्न जातीय, धार्मिक और अन्य समूहों के अपने-अपने कुछ बुनियादी मूल्य, पहचान और निष्ठाएँ हैं जो पूरे समाज के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले मूल्यों के भी ऊपर गिनी जाने लगती हैं और इसमें भी और चिन्ता की बात यह है कि अगर विभिन्न समूहों के बीच बैर या उग्रता का भाव है तो गुटों के प्रति निष्ठा और तेजी से बढ़ती जाती है।

पश्चिम जगत में यही स्थिति तब थी जब सिकन्दर की विजयों के साथ यूनानी साम्राज्य विस्तृत होता गया था या जब रोमन साम्राज्य बहुत बड़ा हो गया था और अनेक मूलों और विश्वासों वाले लोग एक ही राजनीतिक व्यवस्था की छतरी के नीचे आ गए थे। पहला साम्राज्य तो इतना लम्बा चला ही नहीं कि उसे अपने अन्दर के इतने तरह के लोगों को सँभालने के लिए पर्याप्त प्रणाली विकसित करने का अवसर मिलता। रोमन साम्राज्य में भी कोई समानतावादी दर्शन या आदर्श से तो काम नहीं हुआ पर वहाँ छोटे समूहों-जिन्हें बारबेरियन अर्थात् बर्बर और असभ्य माना जाता था-के विश्वासों और सन्देहों की परवाह किए बिना रोमन कानून लागू किए गए और उनके अनुरूप ही सबसे आचरण कराके शान्ति रखी गई। लेकिन साम्राज्य के बाद के दिनों में जब यही 'बारबेरियन' लोग साम्राज्य के कामकाज में प्रमुख भूमिका निभाने लगे तब पुरानी व्यवस्था गम्भीर दबावों में आ गई। लेकिन राजा और प्रजा सभी के ईसाई धर्म में दीक्षित हो जाने से राहत मिली और समाज अराजकता की गिरफ्त में आने से बच गया। इससे सशक्त कबीलों को अवसर मिला और

उन्होंने अपने-अपने क्षेत्रीय राज्य स्थापित किए जिनमें काफी हद तक सामंजस्य और समानता रही। इसके बाद उनसे सम्बन्धित जो भी राजनीतिक व्यवस्थाएँ और विचार आए वे वैसे ही मुल्कों की शासन प्रणाली को ध्यान में रखकर विकसित हुए थे। यह वह पृष्ठभूमि हैं जिसमें राजनीतिक व्यवस्था की तार्किकता का विचार फतवे जैसी हैसियत में आ गया। पर जब फासीवाद का उदय हुआ तब शीशे का यह महल चकनाचूर हो गया। तब यह लगने लगा कि समाज के अन्दर कुछ ऐसी बेलगाम शक्तियाँ भी सुप्तावस्था में पड़ी हैं जो जागकर लोगों के सिर पर जुनून की तरह छा सकती हैं। इससे फ्रायड के अध्ययन और मानव मन की अतार्किक शक्तियों के अध्ययन में दिलचस्पी जगी। लेकिन विश्वयुद्धों के बाद की समृद्धि ने लोगों को इन सभी चीजों को भुलाने की प्रेरणा दी। उसके बाद से ये चीजें जहाँ-तहाँ सिर उठा रही हैं लेकिन यूरोपीय लोगों की निश्चिन्तता में खलल नहीं डाल पातीं। इसलिए वे अभी भी सन्तुलन के अपने सिद्धान्तों के साथ ही चल रहे हैं, उन्हीं के लिए तर्क, कुतर्क और प्रमाण इकट्ठे करते जा रहे हैं।

दूसरी तरफ भारत अपने ऐतिहासिक दौर के शुरू से ही विभिन्न तरह के लोगों की विविधता को समेटकर एक शासन प्रणाली विकसित करने की जद्दोजहद में लगा रहा है। कुछ खास तरह से जाति व्यवस्था ने इस काम को एक हद तक पूरा भी किया है। लेकिन इसकी जड़ों में ही वैमनस्य के बीज पड़े हैं जो कुछ लोगों को श्रेष्ठ बताते हैं तो कुछ को नीच। लेकिन यह व्यवस्था दो 'सेफ्टीवाल्वों' के मौजूद होने के चलती रही। पहली चीज तो थी कठोर वैचारिक ढाँचे के बावजूद सत्ता या तलवार के जोर पर पिछड़ों के लिए अगड़ी पाँत में बैठने की गुंजाइश। यह तब हुआ जब किसी पिछड़े नायक ने हथियारों के बल पर अपना राज्य स्थापित किया और शासक जाति का दर्जा पा लिया। दूसरी चीज थी पूरी व्यवस्था द्वारा भौतिक सुखों का त्याग करने को मनुष्य का सबसे बड़ा उद्देश्य बताना। इस व्यवस्था के चलते समाज में सबसे ज्यादा सम्मान का हकदार वही हुआ जो सब कुछ त्याग दे – यह हिन्दू संन्यासी या बौद्ध भिक्खू ही हो सकता था। और सन्यासी या भिक्खू बनना हर किसी के लिए सम्भव न था, इसलिए निचले तबकों या जमातों में पैदा तनाव कभी भी पूरी व्यवस्था को ठप्प करने या बाधित करने की स्थिति तक नहीं पहुँचा।

एक वास्तविक समानतावादी समाज इससे भी ज्यादा प्रभावी ढंग से सामाजिक तनावों को दूर कर सकता है। भौतिक सम्पत्ति और दर्जे का मोल घटाना इसका सबसे आसान तरीका हो सकता है। क्योंकि इन्हीं के लिए व्यक्ति और समूह अन्ध प्रतिद्वन्द्विता करते हैं और इनको लेकर ही उनके अन्दर सबसे ज्यादा राग-द्वेष होता है। लेकिन जब तक जरूरतों पर अंकुश न लगाया जाए तब तक समानता के आदर्श को हासिल कर पाना सम्भव नहीं है। अत्यधिक सम्पत्ति का स्वामी बनने की भूख के साथ अगर जातिगत मूल्यों से पैदा हताशा को जोड़ लें तो भारत में जातियों के बीच टकराव को कौन टाल सकता है।

पिछले दिनों हुई घटनाएँ इस बड़ी आपदा की चेतावनी भर हैं। जातिगत सम्बन्धों में कोई तार्किकता नहीं है, न हो सकती है। इसलिए खुद को बचाने का एकमात्र तरीका है कि हम अपने मूल्यों को बदलें और उन्हें अधिक-से-अधिक समानतावादी होने की तरफ मोड़ें।

मूल्यों की बात करना राजनीति को उपदेश-कला बनाना लग सकता है। लेकिन अन्तिम विश्लेषण में भी राजनीति की वैधता तभी है जब वह तात्कालिक लक्ष्यों को लाँघकर ऊपर उठती है। राजनीतिक सत्ता पाने के लिए जरूरी जनमत जुटाने के काम में जुटे राजनेता भी हरदम ऐसी अपील करते हैं। पर इस पहलू पर गौर करना चाहिए कि यह अपील एक कबीलाई एकता के कुछ अन्तर्निहित भावों को छेड़कर उसे कौन-सी दिशा देती है। यह अक्सर एक समूह में दूसरे समूहों के प्रति विद्वेष भाव को उकसाती है। यह सार्वजनिक मूल्यों के प्रति विद्वेष पैदा करती है।

जब से विभिन्न जातीय या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों का मेल-जोल होना शुरू हुआ है, तभी से पूरे समाज के लिए कोई ऐसी नैतिक शक्ति पैदा करने की कोशिशें चलती रही हैं तो सबके बीच एकता बनाए, उसे मजबूत करे। कबीलाई धर्म को सार्वजनिक धर्म में बदलना इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास है। बौद्ध, इस्लाम और ईसाई जैसे धर्मों ने लोगों में बन्धुत्व पर जोर दिया है। इन सभी धर्मों के बारे में यह खास बात है कि ये शुरुआत में ही समानतावादी रहे हैं। सभी मनुष्य भाई-भाई हैं, जैसी अवधारणा के साथ समानता की बात अनिवार्यतः जुड़ती है। जब तक भौतिक सुख-साधनों को ऊँचा स्थान मिलता रहेगा, मनुष्य का मोल उसी अनुपात में कम होता जाएगा, जिस अनुपात में कुछेक लोगों के हाथ में ही सम्पत्ति सिमटती जाएगी। पर भौतिक सुख-साधनों का लालच बहुत बड़ा है और इन्हें जमा करते जाने की मनुष्य की भूख ने महान धर्मों की तरफ से भी उसकी आँखों पर परदा डाल दिया। फिर जिन लोगों की धर्म में आस्था बनी रही वे थोड़े से ही रह गए। उन लोगों के मन में भी यह धारणा बैठ गई कि वे ईश्वर द्वारा चुने हुए लोग हैं और विशिष्ट हैं इसलिए उन्होंने अपने धर्म के ही थोड़े से लोगों के साथ बन्धुत्व रखते हुए छोटे-छोटे समूह बना लिए।

इसलिए अब सभी धर्मों के अन्दर भी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ लगाने मठ बनाने और भौतिक साधन जुटाने की होड़-सी लगी है।

समाजवाद ने भी उसी वक्त एक मत या अलग सम्प्रदाय का रूप ले लिया जब उपभोगवाद आर्थिक गतिविधियों के जाल में पूरे विश्व को समेट रहा था और इस प्रकार नए टकरावों की स्थिति पैदा कर रहा था। समाजवाद ने दुनिया के सारे वंचितों के एकजुट होने का आह्वान किया। पर इसकी शुरुआती तेजी को समाजवादी आन्दोलन के उन कुछ धड़ों ने ही भोथरा किया, जिन्होंने संग्रहशील (सम्पत्ति जमा करने वाला) समाज के उन

मूल्यों को स्वीकार किया जिन पर कभी समाजवाद ने चोट करने की शुरूआत की थी।

जब असमानताएँ बहुत ही बड़ी हो जाती हैं तो लोग मतभेदों या अलगाव वाले कारकों की तलाश करते हैं। अक्सर उन मतभेदों को भी खोदकर निकाला जाता है जिन्हें काफी पहले दफना दिया गया होता है। क्योंकि अपने कष्टों के लिए दूसरों को जिम्मेवार ठहराने में इन मतभेदों या अन्तरों का सहारा आसानी से लिया जा सकता है। हैरानी की बात यह है कि व्यक्तिगत हितों को आगे बढ़ाने, सम्पत्ति जमा करने और अपनी हैसियत के अनुरूप समाज में जगह बनाने की होड़ वाले दौर में जिन अतार्किक अपीलों और निष्ठाओं को मृत या समाप्त मान लिया गया था, अब अनौपचारिक रूप से सामने आ रही हैं।

आज दुनिया जिस रूप में है उसे देखते हुए नहीं लगता कि जब तक लोग अपनी आकांक्षाओं को नीचे लाने को तैयार नहीं होंगे, दूसरे लोगों की जरूरतों के अनुरूप अपने उपभोग की आदतों में बदलाव नहीं करेंगे तब तक ये पुराने पिशाच फिर से वापस डाल पर जाएँगे। जातिगत विभाजन के संदर्भ में यह बात अधिक दमदार रूप से हम पर भी लागू होती है। आज जो लोक सामाजिक दृष्टि से लाभ की स्थिति में हैं वे अगर बाकी लोगों को साथ लेने या उनको भी खपाने की भावना से काम नहीं करेंगे तो यह समस्या समाप्त होने वाली नहीं है।

जब तक हम यह जान और मान नहीं लेते कि आज विभिन्न जातियों में बँटे होने के बावजूद भारत के सभी लोग एक ही तरह के मूल वाले हैं, जो अलग-अलग तरफ से आकर एक बड़े समाज का हिस्सा बनते गये हैं, तब तक इस समस्या का समाधान संभव नहीं है।

n

आज के भारत में जाति का सवाल

आनंद कुमार

भारतीय समाज और राजनीति में जाति को लेकर इधर कुछ दिनों से एक नई चेतना बन रही है। कुछ लोगों का मानना है कि हमारा समाज, खासकर हमारी सरकार और राजनीतिक समुदाय जातिविहीन समाज की रचना के संकल्प को कुचल रहे हैं। वे सब मिल कर तात्कालिक लाभ की दृष्टि से ऐसे उपाय कर रहे हैं, जिनसे जाति वापस आ रही है। दूसरी तरफ, समाज वैज्ञानिकों का बहुत बड़ा समूह स्वीकार कर रहा है कि जाति-व्यवस्था के पारंपरिक ढांचे की, जो छुआछूत, पवित्र-अपवित्र, जजमान-पुरोहित जैसे साँचों से बना था, प्रासंगिकता लगातार घटती जा रही है, क्योंकि अब हम धीरे-धीरे नियमबद्ध संबंधों के जरिए अपने आसपास के संसार को रचने की क्षमता विकसित कर रहे हैं। इसके पीछे जनतंत्र और आधुनिकीकरण का बड़ा योगदान है। लेकिन यह समूह इस बात से इनकार नहीं करता कि जाति का नया अवतार हुआ है, जिसमें सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष की तुलना में राजनीतिक पक्ष प्रासंगिक है।

हालांकि अब जाति और हिंदू धर्म का संबंध धर्म के दायरे से उपर उठ कर, जाति और सभी धर्मों के बीच के संबंध के रूप में देखा जाने लगा है। दलित ईसाई आंदोलन, मुसलमानों में पसमांदा समाज का आंदोलन, सिखों में मजहबी सिखों का आंदोलन और बौद्धों में नवबौद्धों की समस्याएं जाति की धर्मनिरपेक्ष वास्तविकता को पहचानने का सवाल उठा रही हैं।

इधर अस्सी वर्ष बाद सरकार को भी समाज की बनावट समझने के लिए जाति जनगणना की जरूरत महसूस हुई। अगर जाति-व्यवस्था के अलग-अलग रूपों और संदर्भों से जोड़े बिना हम जाति के बारे में चर्चा करेंगे तो कुछ सामान्य और सतही निष्कर्षों तक ही पहुँच सकते हैं, जिसमें दोनों तरह का सच गैरजरूरी बन जाता है – जाति खत्म हो रही है, जाति बढ़ रही है। शुरु से ही जाति व्यवस्था का ग्रामीण और नगरीय स्वरूप अलग-अलग रहा है। गांव में जाति का पेशे और सामाजिक हैसियत के साथ अभिन्न संबंध रहा है। हर जाति का एक निर्श्चित पेशा और उस पेशे की एक सामाजिक हैसियत।

ग्रामीण समाज में कुछ जातियां संपत्तिवान होने की क्षमता रखती थीं और कई जातियों

को इससे लगातार दूर रखा गया। ग्रामीण समाज में धर्म एक होने पर जाति के आधार पर अंतर्गत और बहिष्कृत की दो कोटियां हुआ करती थी, जो सांस्कृतिक जीवन के नियम-कानून का आधार बनती थी। और जिनके पीछे पवित्रता और अपवित्रता का ढांचा बनाया जाता था।

इसके समातंर नगरीय समाज में जाति का स्वरूप व्यवसाय से तो जुड़ा था, लेकिन नगर का औद्योगिक और आधुनिक पक्ष जाति के लिए हमेशा एक चुनौती का स्रोत रहता था। इसलिए यह आकस्मिक नहीं था कि भक्ति आदोलन के सभी बड़े प्रणेता या तो यायावर थे या नगरों में गैर-खेतिहर पेशों से जुड़े लोग।

अंग्रेजी राज आने के बाद जाति में हुए परिवर्तनों को हम जनतांत्रिक भारत में हो रहे परिवर्तनों के संदर्भ में अत्यंत उपयोगी मानते हैं, क्योंकि अंग्रेजी राज में ही पहली बार जाति का क्षेत्रीय सच जनगणनाओं के जरिए एक स्थिर और अलंघ्य व्यवस्था बन गया। जाति जनगणना के हर दशक में जाति की परिभाषा भी लगातार परिवर्तित-परिवर्द्धित होती रही। कई समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि जाति का सच औपनिवेशिक भारत में जड़ता की हद तक सामाजिक जीवन के संदर्भ में राज्य-व्यवस्था द्वारा संरक्षित किया गया। यह मान्यता कई समाज सुधारकों के इस सोच से अलग जाती है कि अंग्रेजी राज में जाति का ढांचा कमजोर हुआ, क्योंकि इस दौर में आधुनिक शिक्षा, जाति विरोधी आंदोलनों को प्रश्रय और जाति संबंधी कई निषेधों को गैर कानूनी ठहराने का काम किया गया।

आज जाति की व्याख्या करते समय प्रायः चुनाव के समय हो रही जातिगत गोलबंदी और दलों के बीच विभिन्न जातियों के अंदर अपना वोट बैंक बनाने की होड़ सबसे ज्यादा चर्चा का विषय बनते हैं। लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि यह जाति-व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन के कारण संभव हुआ है कि ब्राह्मणों, दलितों और यादवों की गोल एक दूसरे से सीधी कानूनी व्यवस्था के अन्तर्गत आधुनिक राज्यतंत्र पर कब्जा करने के लिए होड़ में आ गई हैं। जाति-व्यवस्था होड़ का निषेध करती है। जाति में लोगों की जगह पारंपरिक, पौराणिक और समकालीन शक्तियों की मदद से स्थिर रखी जाती थी। आज का जाति समूह और उससे जुड़ी हुई राजनीतिक व्यूह-रचना जाति के आधुनिकीकरण का परिणाम है।

इस तरह हमारी जाति-व्यवस्था आधुनिकता के दो दौर से गुजरी है। इन दोनों के अलग-अलग परिणाम हैं। इनको समझे बिना हम जाति के नए अवतार की ठीक से व्याख्या नहीं कर सकते।

जाति के आधुनिकीकरण का पहला दौर एक तरह से प्रतिक्रियावादी था, क्योंकि उसमें शास्त्रीय आधारों पर जातियों की परिभाषा गढ़ने और शास्त्रों में उल्लिखित वर्ण-

व्यवस्था के इर्द-गिर्द हजारों जातियों को जोड़ने की कोशिश की गई। उनके अधिकारों और दावों की पहचान बनाई गई। नतीजा यह हुआ कि जाति की पिघलने की क्षमता, जिसे समाजशास्त्रियों ने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया कहा, और जाति के अंतर्गत एक स्थान से दूसरे स्थान पर निर्वासन या प्रवास के कारण होने वाली संभावनाएं सीमित हो गईं। जबकि अंग्रेजी राज से पहले जाति की सीमाएं भाषा और क्षेत्रीय इतिहास से जुड़ी होती थीं।

दूसरे अंग्रेजी राज ने जाति की औपनिवेशिक आधुनिकता का संक्रमण पैदा किया – जिसमें उनकी गिनती हुई उनकी परस्पर दूरियों का निर्धारण हुआ और जिसके दौरान कुछ जातियों को वंचित समूह के रूप में पहचान का अधिकार मिला। अंग्रेजी राज के दौरान लगभग डेढ़ सदी में कई कोनों से जाति व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन उठे और इन्होंने भक्ति आंदोलन से लेकर गैर हिंदू धर्मों से वैधता प्राप्त की।

जब हम जाति की आधुनिकता के दूसरे दौर में पहुँचे, यानी स्वाधीनोत्तर भारत में जाति का स्थान तय करने का अवसर आया, तो संविधानसभा ने तीन साल की लंबी बहस के बाद सर्वसम्मति से भविष्य के भारत के लक्ष्य के तौर पर जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की रचना का संकल्प लिया।

आजाद भारत के आरंभिक दशकों में जाति-व्यवस्था के आधार पर होने वाले भेदभाव को न केवल अवैध करार देना, बल्कि जाति के कारण सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अवसरों से वंचित लोगों के लिए विशेषाधिकारों की व्यवस्था, यानी आरक्षण का प्रावधान किसी क्रांति से कम नहीं था।

लेकिन आज आरक्षण की नीति एक नए मोड़ पर पहुंच गई है। यह जाति के जनतांत्रीकरण और आधुनिकीकरण का निर्णायक परिणाम है। आज आरक्षण की नीति को लेकर वंचित समूहों से ज्यादा आरक्षण के दायरे में समेटे गए समूहों के बीच अंतर्विरोध प्रकट हो रहा है। इसके चार स्तर सभी को दिखाई पड़ रहे हैं। पहला, स्त्री और पुरुष का अंतर। एक ही जाति में, जिसे आरक्षण का लाभ दिया गया है, पुरुषों की तुलना में स्त्रियों के लिए सीमित अवसर हैं। इसके लिए समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था जिम्मेदार है, जो जाति व्यवस्था को पुष्ट करती रही है। आरक्षण की नीति से इसे टूटना चाहिए था, लेकिन कई कारणों से आज आरक्षण से लाभान्वित जातियों में भी इस प्रश्न का एक अलग स्थान है।

आज जाति के संदर्भ में दलितों के बीच दलित और महादलित का ध्रुवीकरण पूरे देश में हो चुका है। फिर, अन्य पिछड़ा वर्ग से संबंधित आरक्षण के पिछले बीस बरस के सामाजिक परिवर्तन के प्रयोगों के फलस्वरूप एक तरफ कई समूह राजनीतिक, शैक्षणिक मामले और सरकारी नौकरियों में अपनी उपस्थिति बढ़ाने में सफल हुए हैं। लेकिन अब

इस वर्ग के नेतृत्व को लेकर दबंग या प्रभु जातियों में होड़ चल रही है।

दूसरी तरफ धर्मों के दायरे में पल रही जाति-व्यवस्था पर प्रहार के लिए आज आरक्षण नीति के इस्तेमाल का आग्रह बढ़ा है। इसकी अगुआई दलित-ईसाई आंदोलन से हुई और अब हिंदुओं और मुसलमानों में भी कई समूह या तो खुद को अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल कराने का आंदोलन चला या आरक्षण के अंदर उप-आरक्षण की मांग कर रहे हैं।

यह सब समाज में महामंथन पैदा कर रहा है, क्योंकि हम स्त्री-पुरूष, जाति प्रसंग, धार्मिक समूहों में निहित विषमता, गांव और शहर के बीच का अंतर; द्विजों और गैर-द्विजों के बीच के फासले को गहराई तक देखने के लिए आत्मविश्वास पैदा कर चुके हैं। इसी के समांतर यह भी देखने की जरूरत है कि भारत में आज 'जाति तोड़ो' या जातिविरोधी आंदोलनों की क्या दशा है। शुरू में इन आंदोलनों को हमने दक्षिण भारत में ब्राह्मण विरोधी मोर्चा और पश्चिम भारत में गैर-ब्राह्मण मोर्चे के रूप में उभरते देखा था, जिसमें ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को जाति-व्यवस्था का मूलाधार मानते हुए उसका निषेध और उससे आगे समाज को ले जाने की कोशिश पहला लक्ष्य माना गया था। लेकिन आज जातिविरोधी आंदोलनों के पुराने वाहक थके से लगते हैं। मध्यम जातियों में पूरे भारत में जाति को लेकर कोई विशेष नकारात्मक आग्रह नहीं दिखाई दे रहा है। इसके परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में दलितों को अपने हितों की रक्षा और राजनीतिक क्षेत्रफल के विस्तार के लिए ब्राह्मणों के साथ खुला मोर्चा बना कर सर्वजन समाज की राजनीति शुरू करने का दबाव स्वीकार करना पड़ा है।

क्या कारण है कि आज जाति-विरोधी आंदोलन के मूल वाहक, यानी मध्य और दलित जातियां परस्पर सहयोग में असमर्थ हैं? क्या कारण है कि जाति-व्यवस्था से सबसे ज्यादा पीड़ित-स्त्रियां एक दूसरे के साथ मिल कर महिला आरक्षण का आंदोलन तो चला रही हैं, लेकिन उन्हें मंडलवादी ताकतों का सीधा मुकाबला करना पड़ रहा है। क्या कारण है कि आरक्षण नीति के विस्तार के लिए सर्वोच्च न्यायालय के खुले निर्देशों के बावजूद हम परस्पर सहयोग और साझेदारी के भाव के बजाय हिस्से और बंटवारे की बात ज्यादा कर रहे हैं।

आज सभी पुरानी जाति तोड़ो शक्तियों का लक्ष्य आरक्षण में आरक्षण बन गया है। इससे जाति को एक नया आधार मिलता दिखाई दे रहा है। क्योंकि अगर हमारी जातीय पहचान घुली-मिली रहेगी तो आरक्षण के अंदर आरक्षण का दावा पूरा नहीं हो सकता। नतीजतन, जाने-अनजाने जाति की पीड़ित जमातें कई कारणों से जातिगत पहचानों को नया आधार और आकार देने की संवैधानिक व्यवस्था के लाभ के लिए विवशता महसूस कर रही हैं।

क्या भूमंडलीकरण के कारण जाति-व्यवस्था पर कुछ प्रभाव पड़ रहा है? क्या रोजगार की तलाश में लाखों की तादाद में एक इलाके से दूसरे इलाके जा रहे लोगों का सच जाति-व्यवस्था को कमजोर करने, यानी अंतरजातीय विवाहों को बढ़ाने में कुछ मदद कर रहा है? इन सबसे ऊपर आधुनिक शिक्षा और सूचना क्रांति से जाति की सीमाओं और समस्याओं को लेकर हम कुछ ज्यादा आत्मालोचक बनने की क्षमता विकसित कर रहे हैं?

इक्कसींवी सदी के दूसरे दशक को इन सभी प्रश्नों का उत्तर देना पड़ेगा, क्योंकि अब न तो पुरानी जाति-व्यवस्था चल सकती है और न ही जातिविहीन समाज बनाने का पुराना आदर्श आकर्षक रह गया है। फिर तीसरा रास्ता क्या होगा, जिसमें स्त्री, दलित, अतिपिछड़ा, अल्पसंख्यकों का पिछड़ा और आदिवासी खुल कर जनतंत्र की व्यवस्था में निहित त्रिमुखी न्याय का लाभ उठा सकें और सारा समाज परस्पर सहमति के आधार पर जातिविहीन और वर्गविहीन दुनिया की रचना के ऐतिहासिक संकल्प के साथ ईमानदारी से अपना संबंध बनाए रख सके।

n

उत्तरआधुनिक दौर में जाति और धर्म

विनोद शाही

जब हम यह दावा करते हैं कि हमारा समय उत्तर-आधुनिक है, तब दरअसल हम यह कह रहे होते हैं कि सभ्यता के विकास के मौजूदा चरण पर हमारे मूल्य और रिश्ते, आधुनिकता की सीमाओं के पार झांकने लगे हैं। भारत में अनेक चिंतकों की राय है कि हम अभी तक तो ठीक से 'आधुनिक' भी नहीं हैं, इसलिए हमारी उत्तर आधुनिक होने-दिखने की बात आरोपित तथा निरी लफ्फाजी भर है। हालांकि ऐसी सरलीकृत धारणा से सहमत होना कठिन है, फिर भी बहुतों को बड़े 'अनैतिहासिक' रूप में लगता है कि उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता के और आगे, अगले चरण के रूप में, विकास करने का नतीजा होता है। यह बात अनैतिहासिक इसलिए है, क्योंकि वह भारत के नजरिए से देखी और समझी नहीं गई है। भारत में आधुनिकता का एक रूप तेरहवीं शती की निर्गुण-सूफी संस्कृति की मार्फत विकास पाता है और उस रूप में वह यूरोप के तेरहवीं सदी के 'रेनेसां' के समानांतर मौजूद है। फिर हमारे यहां अठारहवीं शती में 'आधुनिकता' का 'आयातित एवं औपनिवेशिक' रूप आता है, जिसे भारत आधा-अधूरा ही स्वीकार कर पाता है और इसीलिए भारत में उन्नींसवीं सदी से ही उस तरह की आधुनिकता का सांस्कृतिक प्रतिरोध होने लगता है– जो हमारे यहां अपनी तरह की 'उत्तर आधुनिक चेतना' के तभी से मौजूद होने का सबूत है। बीसवीं सदी की, शुरुआती दौर की हिन्द स्वराज जैसी कृतियों में आधुनिकता की सर्वतोमुखी आलोचना ही नहीं, भर्त्सना तक होने के प्रमाण सामने हैं, जो अपनी तरह की 'उत्तर आधुनिकता' की गैर-मौजूदगी में मुमकिन नहीं था। हालांकि तब तक पश्चिम (योरोप) उस 'आलोचनात्मक-यथार्थवादी' नजरिए को परंपरावादी कह कर नकार देने की कोशिश ही कर रहा था, परन्तु 'स्वतंत्र-चित्त और आत्म-निर्भर आर्थिकता वाले स्वराज' की धारणा अब प्रकट हो रहे यूरोप अमरीकी उत्तर आधुनिक चिंतन के 'निज की स्वतंत्रता' और 'आत्म-निर्भर छोटी जनकीय ईकाइयों से स्थापित बहुलता' की धारणाओं की शक्ल लेकर सामने आ रही है – तो अब हम 'इतिहास' के सरलीकृत पैमानों को जायज कैसे ठहरा सकते हैं? हम कैसे कह सकते हैं कि योरोप और अमेरीका तो अब कहीं जाकर – यानी कि बीसवीं सदी के छठवें दशक के आस-पास उत्तर आधुनिकता को 'इतिहास की

विवशता' के रूप में अपनाने की ओर नहीं आए हैं? कि योरोप-अमेरिका को शेष दुनिया से, भारत या तीसरी दुनिया से, कुछ लेने-सीखने की कोई जरूरत नहीं है? क्या यह हमारी सदियों पुरानी गुलाम मानसिकता की मौजूदगी का सबूत नहीं है कि हम यह कहें कि पहले योरोप व अमेरिका उत्तर आधुनिक होंगे, तब कहीं जाकर पीछे-पीछे भारत की या बाकी दुनिया की बारी आएगी। और वे पहले 'ठीक से आधुनिक' होंगे और फिर कहीं जाकर उत्तर-आधुनिक होना सीखेंगे।

इसके उलट हकीकत यह है कि इतिहास के मौजूदा दौर में उच्च तकनीकी उत्तर आधुनिक वित्तीय पूंजीवाद के द्वारा योरोप व अमेरिका की बजाए,भारत व बाकी की तीसरी दुनिया का उत्तर आधुनिकीकरण पहले होने जा रहा है और उसे भूमंडलीकरण के रूप में बाकी दुनिया में लागू करने वाला योरोप व अमेरिका, अपने वर्चस्ववाद की वजह से, युद्धग्रस्त आर्थिकता और मंदी का मुकाबला करने में ताकत गंवाता हुआ, इस रूपांतर की विधायक संभावनाओं से चूक जाने वाला है।

उत्तर आधुनिकता अपने साथ जिस बहुलता धर्मिता को लाती है, उसे वैश्विक आतंकवाद से लड़ने की प्रक्रिया में मुब्तिला होने की वजह से अमेरिका को अपने यहां लागू करने में अड़चन आने वाली है। वहां दूसरी नस्लों, प्रवासियों व दूसरे मजहबों के प्रति पहले ही संशय की मानसिकता बुरी तरह गहराती जाती हैं।

और पूँजी की आवारगी, मनुष्य जाति के लिए अचल संपत्ति व परंपरागत उत्थान रूपों-पद्धतियों से जिस तरह की आजादी व चुनाव की विविधता के 'नए मूल्य व रिश्ते' लाने का वायदा करती है, वही खुद योरोप व अमेरिका के लिए सबसे बड़ा सिरदर्द बनती जाती है। यह आवारगी बड़ी आसानी से आतंकवादी संगठनों को बनाए-चलाए रखने के तंत्र को भी मजूबत बनाती है। ऐसे में पूंजी की आवाजाही' पर प्रतिबंध लगाने की विवशता से खुद योरोप व अमेरिका घिर गया मालूम पड़ता है। और 'स्थानीय' (लोकल) रूप में आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों के चलते, अब किसी भी मुल्क को काबू में करना पहले से ज्यादा मुश्किल होने वाला है। इराक और अफगानिस्तान से अमेरिका की वापसी के बावजूद, आवारा पूंजी का मूल्यों व रिश्तों के नवगठन का दावा, एक पाखंड से घिरा रहने वाला है।

और इसलिए उत्तर आधुनिकता के पास अगर मूल्यों व रिश्तों के नवगठन के आधार के रूप में कुछ विधायक है, तो वह भारत जैसे देशों में पैदा हुई आधुनिकता की तीखी आलोचना की तेजस्वी जमीन में ही मुमकिन है – परंतु वह नवसाम्राज्यवाद के एजेंडे के विरोध में जाने वाली जमीन है, जो निजी या छोटी स्थानीय अस्मिताओं वाली दुनिया की बजाए, स्व या आत्म की कुदरती जमीन को पकड़ने का रास्ता दिखाती है।

'आत्मा' या 'स्व' की कुदरती जमीन तलाशने की बात को भारत में 'प्रतिरोध के हथियार' की तरह विकसित किया गया। इसकी वजह यह थी कि हमारे यहां आधुनिकता और उसके साथ आया औद्योगिक पूंजीवाद, साम्राज्यवादी सरोकारों की पूर्ति के लिए समर्पित थे। भारत के कुदरती संसाधनों के दोहन के लिए रास्ता साफ करना जरूरी था, जिसे साम्राज्यवादी शासकों ने भारत को जाति और मजहब के आधार पर विभाजित करके हासिल किया। इस अंतर्विभाजन और फूट के लिए जरूरी था। जनतांत्रिक आजादी, इसीलिए हमारे यहां जातियों और मजहबों की फूट और अंतर्कलह से पैदा हुई राजनीति का पर्याय हो गई। परंतु आधुनिक होने की जो दूसरी कसौटी थी कि राजनीति को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए, वह इस कूटनीतिक साजिश के विरोध में पड़ती थी। इसलिए आधुनिक होने के नाम पर यह भी सिखाया गया कि जाति और मजहब, 'निजी' शख्सियत के हिस्से हैं, जिन्हें 'सार्वजनिक' जिंदगी से परे रखा जाना चाहिए। यह आधुनिकता में मौजूद दोहरेपन के पाखंड को छिपाने के नाटक से जुड़ी बात थी। खुद योरोप भी इसका कुछ हद तक शिकार था। हिटलर का फासीवाद और नस्लवाद, आर्य और अनार्य के बीच, गोरे और काले के बीच विभाजन की सियासत का खेल था। नस्ल-जाति और मजहब के जो सामंतीय रूप थे, उन्हें इसके दोहरे चेहरे वाली आधुनिकता ने उभारकर इस्तेमाल भी किया और उसे सार्वजनिक के विरोध में निजी चेतना का विकास बना कर ऐसी वस्तु भी बनाया, जिससे छुटकारा पाना जरूरी था। और यही भारत की साम्राज्य विरोधी संघर्ष की मौलिकता व महानता प्रकट होती है।

भारत के पास भक्तिकाल से आया हुआ एक ऐसा 'आत्म' या 'स्व' भी था, जो जाति और मजहब दोनों की हदों के पार था। और जिसे मनुष्य केवल एक सहज और कुदरती जीवन-शैली के जरिए हासिल कर सकता था। जाहिर है कि हमारी यह चेतना आधुनिकता के दोहरेपन की आलोचना के लिए ही हमें जमीन नहीं देती थी, अपितु वह आधुनिकता के पार जाकर, एक उत्तर आधुनिक सोच तक पहुंचने की भूमिका भी बनाती थी। हिंद स्वराज लिखते हुए महात्मा गांधी इसी चेतना का इस्तेमाल करते नजर आते हैं। परंतु इस स्व या आत्म की सियासत हमारे यहां बहुत दूर तक नहीं जा सकी। इसकी वजह थी – भारत में मौजूद गुलामी के हालात और यों भी यह काम अपने-आप में ही इतना विराट था कि न हम उसे भक्तिकाल के दौरान मंजिल तक पहुँचा पाए, जब यह गुलामी नहीं थी और न अंग्रेजों के भारत से चले जाने के बाद, जब हमने अधूरी आजादी के साथ जीने को राजी होकर इस काम को लगातार मुल्तवी करते हुए 'एड-हॉक' किस्म का व्यवहार अपना लिया – क्योंकि वह ज्यादा सुविधाजनक मालूम पड़ता था।

जाति और मजहब के पार जाने का भारत में मतलब है, एक महान इंकलाब का घटित होना। जाति व्यवस्था टूटती है तो भारत की सामंतीय व्यवस्था आमूल चूल तबाह हो

जाती है और हमारे लिए एक नई रूपांतरित व्यवस्था को खोजना जरूरी हो जाता है। और मजहबी चेतना बिखरती है तो उससे पहले हमें कोई उससे बड़ी विकल्प-चेतना का विकास करना जरूरी होता है, जहाँ खड़े होकर हम मजहब को अलविदा कह सकते हैं। और ये दोनों, भारत में आए आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता वाले हमें गुलाम बनाने को उत्सुक व्यवस्था-रूपों की मदद से कैसे घटित हो सकते थे? विकल्प चेतना के रूप में आया औपनिवेशिक विज्ञान, हमारे यहां हिंसा और कुदरती संसाधनों के दोहन के हालात लेकर आया, जिसकी मदद से मजहबों को विदा करना नामुमकिन था और वैकल्पिक व्यवस्था के तौर पर जिस तरह का प्रजातंत्र और जिस तरह का आधा-अधूरा समाजवाद हमारे यहां आया, उनकी तुलना में तो जातिवादी कोटि के व्यवस्थागत समझौते भी ज्यादा मानवीय मालूम पड़ते थे।

गरीब आधुनिकता के तहत जमींदार और खेतीहर, दोनों एक-दूसरे पर आश्रित रहे हैं और समझौता होने की वजह से सेवाओं का शोषण होने के बावजूद अमानवीय भुखमरी वाली स्थिति को भारत का सवर्ण भी कभी स्वीकार नहीं कर पाया है। बेशक औद्योगिक पूंजीवाद ने इन रिश्तों में सेंध लगाई है, परन्तु न्यायपूर्ण वितरण, समानतामूलक व्यवस्था आदि के बड़े आदर्शों को सिद्ध करने वाली आर्थिक जमीन और उसके उत्पादनमूलक रिश्तों की व्यवस्था का कोई वैकल्पिक नक्शा किसी के पास नहीं है – न प्रजातंत्र की दुहाई देने वालों के पास और न समाजवादी इंकलाब की जरूरत का दावा पेश करने वालों के पास। कुदरती संसाधनों के दोहन पर फलते-फूलते उत्पादन तंत्र से जन्म लेने वाले बाजार और उपभोक्तावादी मूल्यों व रिश्तों का कौन सा विकल्प-मॉडल कहीं भी किसी के पास नजर आता है? आजादी के बाद से भारत भी उसी तरह के विकल्प की अंधी गली का मुसाफिर बना हुआ है। तब आत्म की प्रतिरोधी चेतना के अग्र-विकास में किसकी दिलचस्पी हो सकती है?

भारत में नौवी से बारहवीं सदी के बीच सामंतीय साम्राज्य वाली व्यवस्था का बिखरना शुरू हो गया था – नतीजतन नाथों-सिद्धों से लेकर संतों और सूफियों तक ऐसी सोच प्रकट होनी आरंभ हो गई थी कि हमें सामंतीय रिश्तों को बनाए रखने वाली जाति और मजहब की व्यवस्थाओं से छुटकारा पाना होगा। परन्तु फिर मुगल साम्राज्य के स्थापित हो जाने के बाद इस चिंतनधारा का विकास रुक गया। भक्तिवादी सगुण धारा ने तथा सूफियों में मौजूद किस्सेकारों ने उसी गिरती-ढहती जाति-मजहब की व्यवस्था को फिर से सहारा देकर खड़ा कर लिया था। परन्तु अठारहवीं सदी में सामंतीय निजाम फिर से बिखर गया, तो जाति-मजहब के पार ले जा सकने वाले नवजागरण के लिए एक भूमिका बनी। परंतु अंग्रेजी साम्राज्यवाद में पैर जमा लेने से जाति-मजहब का औपनिवेशिक आधुनिकता के द्वारा अलग तरह का इस्तेमाल शुरू हो गया। जैसा बताया जा चुका है, इस दौर में जाति-

मजहब का राजनैतिकीरण भी हुआ और निजीकरण भी। फिर आत्म-चेतना के प्रतिरोधी रूप की मदद से इस का मुकाबला करने की कोशिश हुई, जो आजादी मिलने के बाद इसलिए स्थगित हो गई, क्योंकि हम धीरे-धीरे एक नई गुलामी की शरण में जाने लगे। हमने रूसी समाजवाद और पश्चिमी मॉडल वाली उत्तर आधुनिक चेतना की मदद से ऐसी राष्ट्रीयताओं और बहुलताधर्मी अस्मिताओं को नए अंतर्विभाजनों में बांट दिया - जिनकी जमीन, जाति और मजहब की असल जमीन के टुकड़े-टुकड़े हो जाने से निकलती थी। जाति-मजहब की मूलभूमि का जो अंतर्विभाजन आधुनिकता-वादियों के द्वारा हुआ, उसने इसके टुकड़ों को राष्ट्रवादी चेतना प्रदान की और नतीजा यह निकला कि भारत मजहबी राष्ट्रवाद के द्वारा दो टुकड़ों में विभाजित हो गया। गनीमत यही थी कि तब हमारे अछूतिस्तान और सिक्खिस्तान वाले टुकड़े नहीं हुए। फिर रूसी समाजवाद के मॉडल के असर में भारत की राज्यों का राष्ट्रीयताओं के आधार पर जो पुनर्गठन हुआ, उसमें भी जातियों-मजहबों के कौमीयतों वाली अस्मिता से जुड़े नए टुकड़े हुए। मराठी दलित, पंजाबी सिख, गुजराती हिंदू या कश्मीरी मुसलमान के रूप में जाति-मजहबों के राष्ट्रीयकरणों वाले अंतर्विभाजन हमारी उत्तर आधुनिकता की भूमिका व भावी स्वरूप को तय करने वाले घटक हैं।

तो, जिसे हमारे विद्वान-चिंतक एकमात्र उत्तर आधुनिकता की तरह पहचानते हैं, वह पश्चिम से आयात हो रही नई गुलामी की मानसिकता के अलावा और कुछ नहीं भूमंडलीकरण के जरिए खुलते बाजारवाद की आवारा पूंजी, अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जरिए जो जमीन खोज रही है-वह बहुत से मुल्कों की 'स्थानीय बहुलता' के दोहन की जरूरतों व सरोकारों के साथ आगे बढ़ रही है। स्थानीय इकाईयों को आत्मनिर्भर बनाने की आड़ में यह 'बहुलतावादी अस्मिताओं' को बढ़ावा दे रही है। भारत में इसके असर से अब जातियां व मजहब इसी अस्मिता-बहुल ढांचे के 'डिजाइन' के मुताबिक टूटने-बिखरने लगे हैं। दलितों में बाल्मीकि, रैदासी, कबीरपंथी, आदिधर्मी, आम्बेडकरवादी, जनजातीय, मूलनिवासी-वादी, सीमांतीय या वनवासीय जैसे टुकड़े हो रहे हैं तो वैश्यों में जैनों, अग्रवालों, गुप्तों, सूदों, पासियों, महाजनों आदि की असंख्य बिरादरियां प्रकट हो रही हैं। जिनका मकसद बहुराष्ट्रीय स्थानीयताओं से मिलने वाले मुनाफों में अपनी हिस्सेदारी को बढ़ाना है। ऐसे ही ब्राह्मणों के बहुत से संगठन सत्ता में हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए अपनी हजारहा मूल-भूमियों में लौट रहे हैं। फिर आरक्षण का फायदा पाने की चाहत वालों की जातिगत-अस्मिताएं संगठित हो रही हैं और जो सरकारें बनाने-गिराने की हद तक ताकतवर हो रही हैं। इस लिहाज से बिश्नोई या जाट ही नहीं, गरीबी के आधार पर कुछ ब्राह्मण जातियों का संगठनगत उभार दिखाई दे रहा है। फिर मजहब के आधार पर अल्पमत में होने का फायदा उठाने के लिए अलग तरह के आरक्षण-संरक्षण की मांगें भी इसी प्रक्रिया के तहत जोर पकड़ रही है।

भूंमडलीकरण के तहत बहुतराष्ट्रीय अस्मिता बोधक बहुलता-वाद एक तरह से सामंतीय दौर की जाति-मजहब की संरचनाओं का कचरा है। मुक्त बाजार वाली नई आर्थिकता को, जाति-मजहब वाली संगठित ताकत रास नहीं आती। उसका विकास अब स्थानीय-संसाधनों का दोहन करने से ही हो सकता है, जिसमें स्थानीय अस्मिताएं उसकी मदद कर सकती हैं। हालांकि इस आर्थिकता के नवसाम्राज्यवादी एजेंडे के खिलाफ मध्य एशिया के 'मुस्लिम भाईचारे' के रूप में, सामंतीय दौर की 'उम्मा' वाली संरचना अभी खासी मजबूत है। पर उसे अपनी ताकत दिखाने के लिए आतंकवाद की मदद लेनी पड़ती है, जिससे उसका हमारे दौर में अप्रासंगिक होना व पतनशीलता में गर्क होना उभर आता है। जाहिर है कि अब जाति-मजहब की परंपरागत संरचना व व्यवस्था को बनाये रक्खा नहीं जा सकेगा। तो, एक ही उम्मीद बचती है कि जाति-मजहब के कचरे का पुनर्शोधन कर एक नई जनचेतना के नवगठन की कोई तदबीर सामने आए। यहां आत्म-चेतना की कुदरती जमीन में वापसी हमारे काम की हो सकती है। जन के सामूहिक सांझे चित्र की नई सांस्कृतिक चेतना का इंकलाब, हमारी भावी मुक्ति का आधार स्रोत हो सकता है।

n

'मानवीय समाज' के सदस्य बनिये

'मनुष्य आजाद पैदा हुआ था, पर सभी जगह वह जंजीरों से जकड़ा हुआ है, फ्रांसीसी क्रांति के प्रेरणा पुरुष रूसो द्वारा संदर्भित जंजीरें केवल राजसत्ता और अर्थव्यवस्था की ही नहीं है, जाति, धर्म, नस्ल, लिंग आदि पर आधारित भेद भाव की और इन अवधारणाओं से जुड़ी संस्कृति (या अपसंस्कृति) की भी है, जो मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीने नहीं देती, उसे केवल ब्राह्मण या भंगी, सैयदया जुलाहे, हिन्दू या मुसलमान के रूप में जीने के लिए बाध्य करती हैं। अंग्रेजी के आमूल क्रांतिकामी कवि पी०बी० शैले ने इसी लिए भावी मानव समाज की कल्पना एक वर्गहीन और राज्यहीन ही नहीं एक धर्महीन, एक पंडे पुरोहित, मौलवी, पादरी हीन समाज के रूप में भी की थी।

इसी क्रांतिकारी कल्पना को साकार करने के लिए मानवीय समाज की स्थापना की गयी है। यदि सहमत हों तो उसके सदस्य बनने के लिए प्रस्तुत संकल्प पत्र पर हस्ताक्षर करके भेंजे।

सदस्यता प्रपत्र

मैं संकल्प लेता हूँ कि मानवीय समाज के अन्य प्रतिश्रुत साथियों के साथ सहयोग करते हुए मैं जाति, धर्म, लिंग, नस्ल, वर्ग, और राष्ट्र पर आधारित भेदभाव से तथा युद्ध हिंसा और हर प्रकार के शोषण से मुक्त सच्चे अर्थों में एक समतावादी, जनतांत्रिक तथा प्रगतिशील वैश्विक मानवीय समाज की रचना के लिये आजीवन प्रयास करता रहूँगा, जिसमें इस पृथ्वी पर जन्म लेने वाला हर मानव अपनी अस्मिता की रक्षा करते हुए पूरी मानवीय गरिमा के साथ जी सके।

दिनांक .... हस्ताक्षर...................

नाम ....

व्यवसाय ....

पता...

दूरसंपर्क...

यदि असुविधा न हो तो अपनी सदस्यता के शुल्क रूप में एक सौ रुपये का मनीआर्डर भेजिए। तथा

मानवीय समाज प्रकाशन के संरक्षक बनिए

'ख़यालों की बिजलियां' मानवीय समाज प्रकाशन का पहला पुष्प था, 'धर्म और बर्बरता' दूसरा और 'साम्प्रदायिकता का जहर' तीसरा । हम आम आदमी के शिक्षण और प्रबोधन के लिए लगातार अल्पमोली पुस्तकें / पुस्तिकाएं प्रकाशित करना चाहते हैं। आप एक या अधिक हजार रुपये की राशि भेज कर, इस प्रकाशन की कार्यचालक पूंजी जुटाने में हिस्सेदारी करके, प्रकाशन के संरक्षक बन सकते हैं। संरक्षकों को सभी प्रकाशन नि:शुल्क उपलब्ध कराए जाएंगे। प्रकाशन संबंधी निर्णयों में भी उनकी भागीदारी होगी। आपका सहयोग मिला तो मानवीय समाज प्रकाशन हिन्दी क्षेत्र की एक समग्र सांस्कृतिक क्रांति का साधक बन सकेगा। हमारा आगामी प्रकाशन है – भारत के प्रख्यात नास्तिक।

भवदीय

डॉ० रणजीत
फ्लैट २०१, मल्टी सफायर अपार्टमेन्ट
फर्स्ट मेन रोड सुद्दागुंटे पाल्या
बैंगलोर – ५६००२९ (कर्नाटक)

ज्ञानेन्द्र कुमार
पाण्डे ले आउट पुसद– ४४५२०४
जिला– यवतमाल (महाराष्ट्र)
दूर संपर्क ०९४२२८६६२२३

डॉ० रणजीत की अन्य उपलब्ध पुस्तकें

१.	आजादी के परवाने (भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के २८७ शहीदों के जीवनवृत्त)	८०० रु०
२.	हिन्दी के प्रगतिशील और समकालीन कवि (समीक्षा)	४०० रु०
३.	रणजीत : प्रतिनिधि कविताएं	१५० रु०
४.	डॉ० रणजीत : व्यक्तित्व और कवित्व–डॉ कला मुंजे	१०० रु०
५.	अभिशप्त आग (चुनी हुई कविताएँ)	१०० रु०
६.	प्रगतिशील कविता के मील पत्थर (संपादित कविताएं)	४० रु०